नम्रनिवेदन

भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के लेखोंका
और सुन्दर चयन भगवच्चर्चा (भाग ५) के नामसे जनत
सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है । इस संग्रहमें कतिपय स्फुट विष
के साथ-साथ कृष्णभक्तोंके लिये अतिशय उपादेय ठोस सामग्र
समावेश हुआ है । इसमें युगल सरकारकी उपासना और ध्या
श्रीभगवन्नाम, माखनचोरीका रहस्य, चीरहरण-रहस्य, रासलीला
महिमा, व्रजसुन्दरियोंके भगवान्, नादब्रह्म—मोहनकी मुरली, श्रीकृष्ण
नित्य प्रातःक्रिया, अद्भुतकर्मा श्रीकृष्ण, नारदकृत राधास्तवन, श्र
राधिकाजीका उद्धवको उपदेश, श्रीराधाजीके प्रति भगवान् श्रीकृष्णक
तत्त्वोपदेश, श्रीकृष्णलीलाके अन्ध अनुकरणसे हानि, काली-कृष्ण, भक्ति
का स्वरूप, प्रेमभक्तिमें भगवान् और भक्तका सम्बन्ध आदि ऐ
परमोपयोगी एवं रहस्यपूर्ण विषयोंपर मार्मिक प्रकाश डाला गया है
कि जिससे भगवान् श्रीकृष्णके उपासकोंको अपने मार्गमें बड़ी
सहायता मिलेगी । साथ-ही-साथ ईश्वर-तत्त्व एवं परम तत्त्वके दो
अन्य उपास्य स्वरूपों—भगवान् शिव एवं भगवती शक्तिका भी
बड़ी ही सुन्दर एवं शास्त्रानुमोदित शैलीसे विवेचन किया गया है ।
इस प्रकार पिछले संग्रहोंकी भाँति वर्तमान संग्रह भी जिज्ञासुओंके
लिये परमोपयोगी बन गया है । आशा है, इसका भी धर्मप्राण
जनता उतने ही चाव एवं आदरके साथ स्वागत करेगी ।

ज्येष्ठ शु० ११ (निर्जला एकादशी)
सं० २०१० वि०

विनीत—
चिम्मनलाल गोस्वामी

श्रीहरिः

विषय-सूची

श्रीपरमात्मने नमः

भगवच्चर्चा

[भाग ५]

ईश्वर

ईश्वर बुद्धिगम्य नहीं है

ईश्वर क्या है? उनका वास्तविक स्वरूप कैसा है? वह निराकार हैं या साकार? निर्गुण हैं या सगुण? इस जगत्‌के साथ उनका क्या सम्बन्ध है? इत्यादि प्रश्नोंका एकमात्र निश्चित उत्तर न तो कोई आजतक दे सका है और न दे सकता है। आजतक ईश्वरके सम्बन्धमें जितना वर्णन हुआ है, वह सब मिलकर भी ईश्वरके यथार्थ स्वरूपका निर्देश नहीं कर सकता; क्योंकि ईश्वर मनुष्यकी बुद्धिके परे हैं, वह परम वस्तु मनुष्यकी बुद्धिमें नहीं समा सकती। बुद्धि प्रकृतिका कार्य होनेसे जड और परिच्छिन्न है, वह उस अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, नित्य ज्ञानानन्दघन चेतनका आकलन किस प्रकार कर सकती है? जो वस्तु ज्ञानका विषय होती है, वह सीमित, प्रमेय और धर्मी वस्तु ही होती है; जो सीमित है, जिसका परिमाण हो सकता है, जो किसी धर्मवाली है, वह वस्तु ईश्वर नहीं हो सकती; बुद्धि या ज्ञान जिस पदार्थका निरूपण करता है, उस पदार्थका कोई

एक निश्चित रूप ज्ञानमें रहता है, ऐसा ज्ञेय पदार्थ सबका प्रकाशक, सबका आधारज्योति नहीं हो सकता। जिसका प्रकाश बुद्धि करती है, वह बुद्धिको प्रकाश देनेवाला कैसे हो सकता है? परमात्मा ईश्वर ज्ञेय नहीं है, प्रमेय नहीं है, प्रकाश्य नहीं है, वह तो स्वयं ज्ञाता, प्रमाता, चेतनज्योतिरूप सबका प्रकाशक स्वयंप्रकाश है। वह किसी भी बुद्धिका चिन्त्य विषय नहीं है, सारी बुद्धियोंमें चिन्ता-प्रवणता उसीसे आती है। वह स्वयं प्रमाणरूप और ज्ञानरूप है। वस्तुतः ऐसा कहना भी उसको सीमाबद्ध करना है—उसका माप करना है। उसे कालातीत-गुणातीत कहना भी उसका परिमाण बाँधना है। इसीलिये मनीषीगण यह कहा करते हैं कि ईश्वरका तत्त्व ईश्वर ही जानता है, वह स्वानुभवरूप है, दूसरा कोई उसे जान ही नहीं सकता, तब वर्णन कैसे कर सकता है? जबतक दूसरा रहता है, तबतक जानता नहीं और दूसरा न रहनेपर वर्णनका प्रसङ्ग ही असम्भव है।

ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये

'ईश्वर अतर्क्य है, अज्ञेय है, वह कभी मनुष्यकी बुद्धिमें आ ही नहीं सकता, संसारकी किसी वस्तुसे तुलना करके वह समझाया नहीं जा सकता, ऐसी स्थितिमें उसे मानने-जानने या उसकी चर्चा और जाननेकी चेष्टा करनेमें क्या लाभ है? जो चीज सिद्ध नहीं हो सकती, दीख नहीं सकती, उससे उदासीन रहना ही बुद्धिमानी है।' यों विचारकर परमात्माकी चर्चा छोड़ देना तो मृत्युसे भी बढ़कर मरण है। परमात्माकी ऐसी विलक्षण शक्ति है कि वह ज्ञेय न होनेपर भी ज्ञेयरूपा बनकर उपासकके अज्ञानावरणको हटा देता

...... उस परमतत्त्वको ज्ञेय मानकर उसकी उपासना करना परम आवश्यक माना गया है।

इसीलिये तत्त्वज्ञ ईश्वरगतप्राण ऋषि-महर्षियोंने अपने-अपने विलक्षण सत्य अनुभवोंको (जो सचमुच ही उन्होंने 'अघटनघटनापटीयसी' शक्तिके आधार और स्वामी भगवान्‌की कृपासे समय-समयपर प्राप्त किये हैं) तर्क और उक्तियोंके द्वारा सिद्ध कर लोगोंके सामने रक्खा और यथोचित साधनविधि बतलाकर भगवत्-प्राप्तिका मार्ग सुलभ कर दिया है। दर्शन, पुराण आदिमें इन्हीं साधनोंका उल्लेख है।

ईश्वरका स्वरूप

हमारी बुद्धि जहाँ जाकर थक जाती है और अपनेको आगे बढ़नेमें सर्वथा असमर्थ पाती है, वहींसे भगवत्कृपाका प्रकाश और बल हमारा पथप्रदर्शक और सहायक होकर हमें उस बुद्धिके परे, बुद्धिके अगोचर परम तत्त्वका साक्षात्कार करा देता है। नहीं तो, जो सर्वथा अव्यक्त और अचिन्त्य है, जो एक, केवल, शुद्ध सच्चिदानन्दघन रहते हुए ही अपने सगुणरूपके द्वारा संकल्पमात्रसे विचित्र ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करते हैं; सगुण, साकार, दिव्य, नित्य विग्रहरूपसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें अनन्तकोटि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूपोंसे विभक्त-से प्रतीत होकर पृथक्-पृथक् सृजन, पालन और संहार करते हैं, जो विविध देशों और कालोंमें विविध स्वरूपोंमें अवतरित या प्रकट होकर आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक शक्तिका प्रकाशकर अपनी विश्वविमोहिनी लीलाओंसे जगत्‌को मुग्ध और पावन करते हैं, जो जीवमात्रमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे विराजित होकर

विभिन्न-से भासते हुए जीवशरीरोंमें वर्तमान रहते हैं। (यहाँ यह समझनेकी बात है कि जिस प्रकार अनन्तकोटि व्यष्टिशरीरोंमें एक ही परमात्मा त्रिगुण-मयरूप जीवात्मारूपसे विराजमान हैं, ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डशरीरोंमें 'विधि-हरि-हर' त्रिगुणमूर्तिमें एक ही परमात्मा विराजमान हैं, त्रिगुणमूर्ति होनेपर भी तीनों एक ही हैं और गुणातीत हैं।) जो अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डोंमें प्रकृतिके विकाररूपसे भासनेवाले जड दृश्य-प्रपञ्चका भेष धारणकर अपनेको छिपाये हुए हैं और प्रत्येक रूपमें प्रत्येक समय एकरस और पूर्ण हैं, उन परात्पर महाविष्णु, महाशिव, महाप्रजापति, महादेव, महाशक्ति, श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि विविध नामों और रूपोंसे आख्यात और पूजित नित्य, अविनाशी, अनन्त, अखण्ड, परमसत्य, परमब्रह्म, सच्चिदानन्दघन, अनन्तशक्ति परात्पर भगवान्का जरा-सा आभास भी मनुष्यकी बुद्धिको उसके अपने बलपर कैसे मिल सकता है? जो संतोंके वाक्योंपर विश्वास कर उनके शरणापन्न होता है, जो बुद्धिका अभिमान छोड़कर उनकी कृपाका आश्रित होता है, वही शुद्ध और सूक्ष्मबुद्धि श्रद्धामय पुरुष भगवान्की कृपाका बल प्राप्तकर उसके दिव्यालोकमें परमात्म-प्रकाशकी ओर आगे बढ़ता है।

उन परमात्मा महेश्वरके अखण्ड नियमके अनुसार उनकी लीलामें जब उनकी सारी शक्तियाँ सिमटकर साम्यस्थितिको प्राप्त हो जाती हैं, तब शक्ति और शक्तिकी अभिन्नताके रूपमें एक ब्रह्म-स्वरूप ही प्रकाशित रहता है। पुनः जब उनकी अनन्त शक्तियाँ विविध विचित्र मूर्ति धारणकर क्रिया करती हैं, तब वही भगवान् ब्रह्म अनेक स्वरूपोंमें प्रकाशित और प्रसरित रहते हैं, वस्तुतः अनन्तकोटि विश्व-

ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ उत्पन्न हुआ है, जो स्थित है और जो लयको प्राप्त होता है, वह सब ईश्वरमें ही होता है। ईश्वरकी ही यह सृष्टि, स्थिति और संहाररूप त्रिविध मूर्तियाँ हैं। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड अनन्त तरङ्गोंकी भाँति उन एक ही अनन्त, असीम परमात्म-सागरमें स्थित हैं। वे भगवान् देवोंके देव, ईश्वरोंके ईश्वर, पतियोंके पति और गतियोंकी गति हैं; वे निराकार भी हैं, साकार भी हैं, निराकार भी नहीं हैं; साकार भी नहीं हैं, सबमें हैं, सबसे परे हैं, उनके लिये यह कहना या समझना कि 'वे ऐसे ही हैं' वस्तुतः उनका उपहास करना और अपनी अक्लका पर्दा-फास करना है। हमारी बुद्धि जिस ईश्वरका वर्णन करती है, वह तो उनके एक बहुत ही स्वल्प-से अंशका आभासका या अनुमानका ही वर्णन होता है। वे तो गूँगेके गुड़ हैं उनका वर्णन कोई कैसे करे? क्षुद्र-सा जल-मीकर जलनिधिकी क्या थाह लगावे? हमारी जो बुद्धि आँखोंके सामने प्रत्यक्ष दीखनेवाले पदार्थोंकी तहतक भी नहीं पहुँच सकती, वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों व्याप्त सर्वलोकमहेश्वर अनन्तशक्ति, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके सम्बन्धमें निश्चयरूपसे क्या कह सकती है? उन ईश्वरके सम्बन्धमें तो सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जगत्के महापुरुष उन्हींकी कृपासे प्राप्त अनुभवोंके द्वारा उनकी सत्ता समझाकर हमें उनकी उपासना करनेका उपदेश देते हैं। महापुरुषोंके वचनोंमें विश्वास करनेवाले श्रद्धालु पुरुषोंके लिये तो ईश्वरका होना सहज ही सिद्ध है, उनके लिये तो ऐसी कोई वस्तु ही नहीं, जो ईश्वरसे अधिक प्रत्यक्ष और सर्वप्रमाणसिद्ध हो, परंतु यह सौभाग्य सबको प्राप्त नहीं। ईश्वर-विश्वास होना सहज बात नहीं है; ईश्वर-विश्वास भगवान्के अन्तरात्यन्त

पर्दा हटा देता है, जिससे मनुष्य ईश्वरके तत्त्वको समझकर सर्वताप-ताप-शून्य और कृतकृत्य हो जाता है ।

ईश्वर-विश्वास और ईश्वर-कृपा

जैसे सूर्यके पूर्ण उदय होनेसे पूर्व ही अमावस्याकी घोर निशाका नाश हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्का पूर्ण विश्वास होनेके पूर्व ही, थोड़े ही विश्वाससे पाप-तापरूपी तम नष्ट हो जाता है । मनुष्य तभीतक पापाचरण करता है और तभीतक संसारके त्रिविध दुःखोंके दावानलमें दग्ध होता रहता है, जबतक कि उसका ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं होता; 'ईश्वर है' इस विश्वाससे ही मनुष्य निर्विराधार, निर्विकार, निःशङ्क, निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है । भगवान्पर विश्वास करनेवाला पुरुष इस बातको जानता है कि भगवान् सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु, योगक्षेमवाहक, विश्वम्भर और परम सुहृद् हैं । ऐसी अवस्थामें वह काम, लोभ या भय किसी कारणसे भी पाप नहीं करता । जब एक पुलिस-अफसरको देखकर मनुष्य कानून-विरुद्ध काम करनेमें हिचकता है, जब किसी सुयोग्य गुरुजनके सामने पाप करनेमें मनुष्य सकुचाता है, तब वह सबके स्वामी और परमगुरु भगवान्को सामने समझकर पाप कैसे कर सकेगा ? जब भगवान् विश्वम्भर और योगक्षेमका निर्वाह करनेवाले हैं, तब वह अपने और परिवारके भरण-पोषणादिके लिये न्यायपथको छोड़कर पाप-पथमें क्यों जायगा ? जब वह अपने परम सुहृद्, परम दयालु, सर्वशक्तिमान् परमात्माको सर्वव्यापीरूपसे सर्वत्र देखेगा, तब ऐसा कौन-सा ताप या भय है, जो उसे जला सकेगा या पापके मार्गमें ले जायगा ? ईश्वरका विश्वासी पुरुष तो वस्तुतः ईश्वरकी ही दयापर भरोसा करनेवाला बन

जायगा, उसे पद-पदपर, पल-पलमें भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष होता रहेगा। जो भगवत्कृपापर निर्भर रहता है, वह किसी कालमें दुखी नहीं हो सकता। वह प्रत्येक बातमें भगवान्‌का विधान समझकर और भगवान्‌के विधानको उनकी दयासे ओतप्रोत देखकर प्रफुल्लित होता रहता है, वह समझता है कि मेरे नाथने मेरे लिये जो कुछ विधान कर दिया है, वही परम कल्याणरूप है और वास्तवमें है भी ऐसा ही। उसकी बुद्धिमें यथार्थ ही यह भाव नहीं आता कि भगवान्‌का कोई विधान कभी जीवके लिये अमङ्गलरूप होता है। मङ्गलमय भगवान् अपने ही अंश जीवका अमङ्गल कभी कर ही नहीं सकते। जब कभी वे किसीके लिये कोई दुःखका विधान करते हैं, तब वह अत्यन्त ही दयाके वश हो उसके कल्याणके अर्थ ही करते हैं। जैसे जननी अपने बच्चेके कल्याणके लिये कभी-कभी उसके साथ ऐसा व्यवहार करती है जो बच्चेको बड़ा क्रूर मालूम होता है और वह भूलसे मातासे नाराज भी होता है, परंतु माता उसके नाराज होनेकी कुछ भी परवा न कर अपने उस व्यवहारको नहीं छोड़ती; क्योंकि उसका हृदय स्नेहसे भरा है, वह बच्चेका परम हित चाहती है। इसी प्रकार स्नेह-सुधाके असीम सागर भगवान्, जिनके स्नेहकी एक बूँदने ही विश्वकी सारी माताओंके हृदयोंमें पैठकर उनको अनादिकालसे स्नेहमय बना रक्खा है, अपने प्यारे बच्चोंके लिये उनके हितार्थ ही दण्ड-विधान किया करते हैं। उनका दण्ड-विधान वैसा ही होता है, जैसे माता बच्चेको आगके समीप जानेसे रोककर उसे अलग कर देती है, नहीं मानता तो कभी-कभी बाँध देती है, अथवा उसके हाथसे छूरी या और कोई ऐसी चीज, जो उसको नुकसान पहुँचानेवाली है और उसने मोहवश ले रक्खी

हैं, जबरदस्ती छीन लेती है; और बुरी आदत न छोड़नेपर इसकी-भयावनी है। भगवान्‌के विधानद्वारा मनुष्यमें विषय-भोगोंके भोगकी शक्ति न रहना, विषयोंसे अलग होनेको बाध्य होना, विषयोंका जबरदस्ती छिन जाना या नाश हो जाना आदि कार्य इसी श्रेणीके हैं। वास्तवमें विषय-भोग—दुनियाके धन-मान, यश-कीर्ति, स्त्री-पुत्र आदि पदार्थ तो मनुष्यको नरककी ओर ले जानेवाले हैं, जो इनमें रचा-पचा है वह दुःख-दावानलमें दग्ध होनेसे नहीं बच सकता। भला, भगवान् जो हमारे परम सुहृद् और परम हितैषी हैं, ये वस्तुएँ हमें क्यों देने लगे? और क्यों हमें इनमें आसक्त रहनेकी स्वतन्त्रता प्रदान करने लगे? जो लोग केवल इन वस्तुओंकी रक्षा और प्राप्तिमें ही भगवान्‌की दया समझते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। ये वस्तुएँ तो हमें संसार-सागरमें डुबोनेवाली हैं, दयालु भगवान् हमें संसार-समुद्रमें ढकेलनेके लिये इनको कैसे दे सकते हैं? माता क्या कभी प्यारी संतानको जान-बूझकर आरम्भमें मीठे लगनेवाले जहर-भरे लड्डू दे सकती है? क्या कभी उसे सोनेकी पिटारीमें रखकर कालनाग सर्प दे सकती है? क्या कभी उसे लाल-लाल लपटोंवाली आगमें झोंक सकती है? फिर भगवान् ही ये विषय-भोग देकर ऐसा क्यों कर सकते हैं? इसीलिये जब ये विषय नहीं रहते, जब विषय-नाशरूप सांसारिक दृष्टिका कोई दुःख आता है, तब भगवान्‌के विश्वासी भक्तोंका चित्त हर्षसे नाच उठता है, वे उसको भगवत्कृपासे ओतप्रोत देखकर उसमें भगवत्कृपाकी माधुरी मूर्तिके दर्शन कर शिशु-की भाँति उसको जोरसे पकड़ लेते हैं। उसमें उन्हें बड़ा आनन्द मिलता है, इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि हमपर भगवान्‌की बड़ी भारी दया है।

इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान्से सांसारिक वस्तु माँगनेवालोंको वह नहीं मिलती। मिलती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आती उन्हींके भंडारसे है, परंतु ऐसी चीजोंके माँगनेवाले गलती करते हैं। भगवान्पर ही आस्था रखनेवाले विश्वासी अर्थार्थी भक्त यदि कोई ऐसी चीज माँगते है तो भगवान् उन्हें दे देते हैं और फिर उसी तरह उसकी सम्हाल भी रखते हैं, जैसे माता छोटे शिशुके हठ पकड़ लेनेपर उसे चाकू दे देती है, पर कहीं लग न जाय इस बातकी ओर सतर्क दृष्टि भी रखती है। भगवान्की दयाके रहस्यको जाननेवाला सच्चा निर्भर भक्त तो ऐसी चीजें माँगता ही नहीं। माँग भी नहीं सकता। उसकी दृष्टिमें इनका कोई मूल्य ही नहीं रहता। वह तो भगवान्की इच्छामें ही परम सुखी होता है। कभी माँगता है तो बस, यही माँगता है कि 'भगवन्! मैं सदा तेरे इच्छानुसार बना रहूँ, तेरी इच्छाके विपरीत मेरे चित्तमें कभी कोई वृत्ति ही न उदय हो।' भगवान् मङ्गलमय हैं, उनकी अनिच्छामयी इच्छा भी कल्याणमयी है, अतएव इस प्रकारकी प्रार्थना करनेवाला भक्त भी मङ्गलमयी इच्छावाला अथवा सर्वथा इच्छारहित—निःस्पृह बन जाता है। वह नित्य-निरन्तर भगवान्के चिन्तनमें ही लगा रहता है और उसीमें उसको शान्ति मिलती है, जरा-सी देर भी किसी कारणसे भगवान्का विस्मरण हो जाता है तो वह उस मछलीसे भी अनन्तगुणा अधिक व्याकुल होता है, जो जलसे अलग करते ही छटपटाने लगती है। वह संसारमें सर्वत्र, सब ओर, सब समय अपने प्रभुकी मुनि-मन-मोहिनी छविको देखता और पल-पलमें पुलकित होता रहता है। सारा विश्व उसे अपने प्रभुमें मग्न दीखता है, इससे स्वाभाविक ही वह सबकी सेवा करता है, सबको

सुख पहुँचाता है। किसी भी भेषमें आये हुए पिताको पहचान लेनेपर जैसे सुपुत्र उसका अपमान और अहित नहीं कर सकता, उसे किञ्चित् भी दुःख नहीं पहुँचा सकता, इसी प्रकार संसारके प्रत्येक जीवके भेषमें भक्त अपने भगवान्‌को पहचानकर उनका सत्कार और हित करता है तथा प्राणपणसे सुख पहुँचानेकी ही चेष्टा करता है। जो लोग केवल किसी एक स्थान और मूर्तिविशेषमें ही भगवान्‌को मानकर अन्यान्य स्थानोंमें उनका अभाव मानते हैं, वे भगवान्‌के स्वरूपको बहुत छोटा बना देते हैं, वे एक प्रकारसे भगवान्‌का तिरस्कार करते हैं, ऐसे लोगोंकी पूजासे भगवान् प्रसन्न नहीं होते, ऐसा भागवतमें कहा है।

मूर्ति-पूजा

इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्ति-पूजा नहीं करनी चाहिये। संसारमें ऐसा कौन है जो किसी-न-किसी प्रकारसे मूर्ति-पूजा नहीं करता; सारा जगत् ही मूर्तिपूजक है। जो अपनेको मूर्तिपूजक नहीं मानते, वे भी अपने किसी गुरु या नेताके चित्र या स्टेच्यू (पाषाण-निर्मित मूर्ति) को देखकर उसका सम्मान करते हैं। भगवान्‌को न माननेवाला रूसी भी लेनिनकी मूर्तियोंके सामने सलामी करता है। झंडेका अभिवादन क्या मूर्तिपूजा नहीं है ? झंडा कौन-सा सजीव पदार्थ है ? परंतु उसका लोग बड़ा सम्मान करते हैं और उसके तनिक-से अपमानमें अपना और अपने देशका अपमान समझते हैं। समाधि या कब्रपर फूल चढ़ाना, उसे नमस्कार करना क्या मूर्तिपूजा नहीं है। मातृभूमि—स्वदेश आदि नाम और उनके कल्पित रूपोंपर प्राण दे देना क्या प्रतीकपूजा नहीं है ? मुसल्मान भाई मूर्तिका खण्डन करके क्या

प्रकारान्तरसे मूर्तिको महत्त्व नहीं देते ? परंतु इसमें और हिंदू भक्तोंकी मूर्ति-पूजामें बड़ा अन्तर है, हिंदू भक्त पाषाण या धातुकी मूर्तिकी पूजा ही नहीं करता, वह तो केवल अपने प्रभुकी पूजा करता है। मूर्तिमें वह उन्हीं सच्चिदानन्दघन इष्टदेवको देखता है, उसकी दृष्टिमें वह पत्थर, मिट्टी या धातु नहीं है, वही सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी भगवान् हैं जिनके एक अंशमें सारे जड-चेतन विश्व-ब्रह्माण्ड भरे हैं, परतु जो भक्तपर प्रसन्न होकर यहाँ श्यामसुन्दररूपसे विराजित हो उसकी पूजा ग्रहण कर रहे हैं। इसीसे कहीं-कहींपर भगवत्-मूर्तियोंका चलना, बोलना, हँसना, वरदान देना आदि सुना जाता है, जो वास्तवमें सत्य है। मूर्ति चैतन्य होनेपर सहज ही ऐसा होता है। यही 'अर्चावतार' है। भगवान् कब, कहाँ नहीं हैं ? वे भक्तके भावसे प्रसन्न होकर चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें अथवा अपने नित्य दिव्य विग्रहस्वरूपमें, चाहे जब प्रकट हो सकते हैं।

'हरि व्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् शिवजीके ये वचन हैं, जो सर्वथा सत्य हैं। अग्नि अव्यक्तरूपसे सब चीजोंमें व्याप्त है, परंतु साधन करनेपर किसी भी वस्तुमें वह प्रकट हो सकती है, इसी प्रकार सर्वत्र निराकाररूपसे व्याप्त भगवान् भी भक्तके वश होकर व्यक्त हो जाते हैं। अवतार लेनेका भी यही रहस्य है।

अवतार

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् अवतार नहीं ले सकते। परंतु ऐसा कहना भगवान्की सर्वशक्तिमत्तामें कमी करना है। भगवान् क्या नहीं कर सकते ? इसीमे वे जब जहाँपर आवश्यक समझते हैं,

वहीं अपने दिव्य विग्रहको प्रकट करते हैं । एक बात यह ध्यानमें रखनेकी है कि भगवान्‌के अवतारोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है । सबमें पूर्ण भगवत्-शक्ति पूर्णरूपसे निहित है, साक्षात् भगवान् ही जब अवतरित होते हैं—हमारे बीचमें आते हैं, तब उनकी शक्तिमें न्यूनाधिकताका तो कोई सवाल ही नहीं रह जाता । यह दूसरी बात है कि कहीं वे आवश्यक न समझकर अपनी कम शक्तियोंको प्रकट करें और कहीं अधिकको ! कहीं अधिक समयतक लीला करें, कहीं अल्प कालमें ही अन्तर्धान हो जायँ । परंतु इससे उनके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । वह सदा एकरस और समान है । उनका निर्गुण ब्रह्मरूप गुणातीत है, उसमें किसी भी गुण या गुणात्मक जगत्‌का भाव नहीं है । उनका विष्णुरूप शुद्ध सत्त्वगुणसम्पन्न है, जो भृगुजीकी लात सहकर उनके पैर पलोटनेको तैयार हो जाता है, उनका विश्वरूप अच्छे-बुरे सभी गुणोंसे सम्पन्न है—'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये । मत्त एवेति तान्विद्धि' 'मत्तः ——नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय' भगवान् कहते हैं, सारे सात्त्विक, रा तामस-भाव मुझसे ही उत्पन्न जानो, हे धनंजय ! मेरे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । इसी प्रकार उनके गुणस्वरूप हैं । ब्रह्माण्डोंमें श्रीविष्णु सत्त्वस्वरूप हैं, श्रीब्रह्मा रजोगुणरूप है और श्रीशंकर त रूप हैं, यही शंकर जहाँ समष्टि—सदाशिवरूपसे रहते हैं, वहाँ कल्याणमय, सत्त्वगुणसे भी ऊँचे उठे होते हैं । इसी प्रकार भग काली संहाररूपिणी—तमोमयी हैं, माता शक्ति जगज्जननी सृ कारिणी—रजोमयी हैं, जगद्धात्री माता उमा पोषणकारिणी—स मयी हैं । इनके अतिरिक्त भक्तोंको परम आनन्द देनेवाले, भग

जीवन-धन, उनकी परम गति, परम आश्रय वे दिव्य अवतार-विग्रह है। इनमें लीला और शक्तिके प्रकाशके तारतम्यसे श्रीराम और श्रीकृष्ण दो विशेष हैं। इनमें लीलाकी दृष्टिसे श्रीराम मर्यादाके आदर्श और सत्त्वगुणसम्पन्न हैं और श्रीकृष्ण लीलामय और सर्वगुणसम्पन्न हैं। ये और इसी प्रकार अन्यान्य सभी उन एक ही भगवान्‌के स्वरूप हैं, इनमेंसे जो स्वरूप, जिसको अच्छा लगे, जिसकी जिस स्वरूपमें प्रीति हो, वह अपनी प्रकृतिके अनुसार सद्‌गुरुकी आज्ञासे उसीको अपने जीवनका ध्येय, परम इष्टदेव मानकर अनन्यभावसे उसीकी उपासनामें प्राणोत्सर्ग कर दे। न दूसरेको बुरा बतावे और न दूसरेकी ओर ललचावे, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' की भगवदुक्तिको याद रखते हुए संदेह-संशय-रहित होकर निश्चल चित्तसे परम श्रद्धाके साथ सदा-सर्वदा अपने इष्टकी ही उपासना, सेवा और चिन्तनमें लगा रहे। श्रीशंकरकी अनन्य उपासिका, अपना अनन्त जीवन सदाके लिये श्रीशिवके चरणोंमें समर्पण कर देनेवाली भगवती उमाकी यह उक्ति सदा याद रखनी चाहिये—

> महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
> जेहि कर मन रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

साकार रूप मायिक नहीं है

कुछ लोग भगवान्‌के साकार, सगुण दिव्य स्वरूपको मायिक बतलाते हैं और यह समझते हैं कि इसकी उपासना मन्द अधिकारियोंके लिये है, जो ऊँचे अधिकारी हैं वे तो इस मायासे परे शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अभेद-भावसे उपासना करते हैं। शुद्ध ब्रह्मकी अभेदोपासना भी उत्तम है, इसमें कोई संदेह नहीं, परंतु भगवान्‌के साकार

दिव्य स्वरूपको मायिक और मन्द अधिकारियोंके सेवनयोग्य ही बतला
बड़ी भारी गलती है । भगवान्ने तो श्रीगीता और श्रीभागवतमें
दिव्य स्वरूपकी बड़ी महिमा गायी है । बल्कि कुछ भक्तोंके मतमें
भगवान्ने ब्रह्म-शब्दवाच्य निर्विशेष स्वरूपको अपने आधारपर स्थि
बतलाया है । कम-से-कम भगवान्का स्वरूप दिव्य, नित्य अमायिक
और ब्रह्मज्ञानियोंके द्वारा भी सेव्य है, इसमें तो कोई संदेह नहीं है
हाँ, उस परम आनन्दमय दिव्य विग्रहकी अवहेलना करनेसे ज्ञा
मार्गके उपदेशक उसके महान् सुखसे वञ्चित अवश्य रह जाते हैं
मायिक माननेवालेके सामने भगवान् उस मुनिमनहारी अपने दि
साकार स्वरूपसे प्रकट नहीं होते । इसीसे तो संतोंका यह पर
रहस्यमय मत है कि ज्ञानमार्गके पन्थी भगवान्के दिव्य साकार स्वरू
के दर्शन नहीं कर सकते । उनके मनमें माया घुसी रहती है, इस
उन्हें जहाँ-तहाँ माया ही दीखती है । वे भगवान्में भी मायाका आरो
करते हैं, कोई-कोई साकार, सगुण भगवान्को ब्रह्मसे अभि
मानकर भी प्रायः कह देते हैं कि यह विद्याकी उपाधिसे युक्त
और हमारे लिये वैसे ही हैं जैसे महान् अमृत-समुद्रमें डूबे हुएके
लिये एक गिलास जल । यह एक गिलास जल भी उस अमृत-समुद्रका
ही अभिन्नांश है; परंतु एक तो अलग गिलासमें है (मायामें है), दूस
अंश है, हम जब पूर्णमें स्थित हैं तो हमें इस उपाधियुक्त अंशसे क्या प्रयो
जन है ? वास्तवमें यह अहंकारोक्ति है । ऐसा कहना और मानना —
अनुचित है, परंतु जो ऐसा मानते हैं, मानें, उनके मानने-न-माननेसे
भगवान्के स्वरूपमें कोई हानि-लाभ नहीं होता; अवश्य ही उनकी
मूढ़तापर भगवान् हँसते हैं । भगवान्ने कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

मूढ लोग मेरे इस परम रहस्यको न जानकर कि मैं समस्त विश्व-ब्रह्माण्डोंका अधीश्वर भक्तोंके प्रेमवश और अपनी जगत्-लीलाको व्यवस्थित रखनेके लिये दिव्य विग्रह प्रकटकर दिव्य लीला करता हूँ, मुझ मनुष्य-शरीरधारी भगवान्को नहीं पहचानते हैं। मायासे उनके हृदयमें मोह हो रहा है। मेरी अलौकिकी मायासे तरनेका उपाय मुझ मायापतिकी शरणागति ही है। (गीता ७। १४) परन्तु वे लोग मुझको नहीं भजते। मैं जो क्षर जड-संसारसे अतीत अक्षर आत्मासे उत्तम हूँ, (गीता १५। १८) सबकी प्रतिष्ठा हूँ, (गीता १४। २७) सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ पुरुषोत्तम हूँ—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
(गीता १५। १९)

हे अर्जुन ! इस प्रकार जो मूढतासे रहित तत्त्वज्ञ पुरुष मुझ सर्वात्मा वासुदेव श्रीकृष्णको 'पुरुषोत्तम' जानता है, वह सब कुछ जान गया है, वह फिर सर्वभावसे केवल [illegible] ता है।

भगवान्को [illegible]

[illegible] प्रकार उनकी
[illegible] है और उनके
[illegible] भगवान्ने इसको
[illegible])
[illegible] करता है जिस
[illegible] रहे हैं। पर
[illegible]

समझानेके लिये है। मतलब यह कि भगवान्‌के साकार विग्रह दिव्य और नित्य हैं और वे महान् रहस्यमय परम तत्त्व हैं। इसका यह मतलब नहीं कि निराकार तत्त्व उनसे पृथक् है या उनका अपेक्षाकृत लघु स्वरूप है। निराकार ही साकार है, साकार ही निराकार है, निराकार साकारका रश्मि-स्वरूप है, तो साकार भी निराकारका ही प्रकट अग्निकी भाँति व्यक्त स्वरूप है। एक होते हुए ही दोनों स्वरूप नित्य हैं। यद्यपि यथार्थ ज्ञानी और भक्त निराकार-साकारमें वस्तुतः कोई स्वरूपगत भेद नहीं समझते तथापि ज्ञानीको निराकार और भक्तको साकार स्वरूप ही अधिक प्रिय है। ज्ञानी भगवान्‌के निराकार-स्वरूप ब्रह्ममें मिल जाना चाहता है, और भक्त सदा-सर्वदा भगवान्‌के साकार विग्रहके चरणोंकी सेवामें ही परमानन्दका अनुभव करता है। इसीसे यह रहस्य माना जाता है कि ज्ञानी ब्रह्म बन सकता है, परंतु (साकार सगुण) भगवान् नहीं बन सकता। जहाँ वह भगवान् बनना चाहता है, वहाँ ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें उसे साकार सगुण भगवान्‌की सेवा और लीलाके आनन्दसे वञ्चित होना पड़ता है, जो भक्तके लिये सबसे बड़ा दुःख है। इसीलिये भक्त इस वासना-बीजको अपने अंदर बड़ी सतर्कतासे सुरक्षित रखता है कि 'मैं कभी भगवान्‌की लीलासे अलग न रहूँ।' जन्म-जन्मान्तरकी परवा नहीं करता, कितने ही जन्म हों, किसी भी योनिमें जाना पड़े, परंतु प्यारे भगवान्‌का हृदयसे कभी विछोह न हो, श्यामसुन्दर कभी आँखोंसे ओझल न हों, वह प्राणधन प्रियतम मोहन सदा सामने नाचता रहे, उसकी भृकुटिको देखता हुआ मैं सदा अपने जीवनको उसकी रुचिके अनुकूल बिताता रहूँ। जीवन उसकी लीलाका क्रीडनक बन जाय, उसमें अपनापन कुछ रहे ही नहीं।

भक्त कहते हैं—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥
(श्रीमद्भा० ६। ११। २५)

वरं देव मोक्षं न मोक्षावधिं वा
न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह।
इदं ते वपुर्नाथ गोपालबालं
सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः ॥
(पद्मपुराण)

धर्मार्थकाममोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन।
त्वत्पादपङ्कजस्याधो जीवितं दीयतां मम ॥
मोक्षसालोक्यसारूप्यान् प्रार्थये न धराधर।
इच्छामि हि महाभाग कारुण्यं तव सुव्रत ॥
(नारदपाञ्चरात्र)

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥
(मुकुन्दमाला)

'भगवन्! तुम्हें छोड़कर मुझको ध्रुवलोक, इन्द्रपद, सार्वभौम राज्य, पाताल-राज्य, योगसिद्धि और अपुनर्भव—मुक्ति आदि किसीकी भी इच्छा नहीं है। देव! आप वरदाता ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, आप सब कुछ दे सकते हैं; परंतु मैं आपसे मोक्ष या मोक्षतकका कोई भी पदार्थ लेना नहीं चाहता। नाथ! आप श्रीगोपालबाल-मूर्तिसे मेरे मन-मन्दिरमें सदा विराजित रहें, इसके सिवा मुझे और

कुछ भी नहीं चाहिये । भगवन् ! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारोंमेंसे मुझे किसीकी भी इच्छा नहीं है । मेरे इस जीवनको सदा अपने चरणतलमें लुटाये रक्खें । हे धरणीधर ! हे महाभाग ! मैं सालोक्य, सारूप्यादि मोक्षकी प्रार्थना नहीं करता । हे सुव्रत ! मैं तो केवल आपकी करुणा चाहता हूँ ।

हे नरकान्तक ! मेरा निवास स्वर्गमें हो, पृथ्वीपर हो, चाहे नरकमें हो, इसका मुझे कोई दुःख नहीं है, और तो क्या, मृत्यु-समयमें भी मैं तुम्हारे शरत्कालीन अरविन्दकी अवज्ञा करनेवाले चरणारविन्दका चिन्तन करूँगा ।'

इसी परम कल्याणमय वासना-बीजके कारण वह भगवान्‌की नित्य-लीलामें नित्य सम्मिलित रहता है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह भगवत्तत्त्वके ज्ञानसे शून्य होता है या उसे कर्मबन्धनमें बँधे रहना पड़ता है, उसका कर्मबन्धन तो उसी दिन टूट गया था, जिस दिन उसने भगवान्‌को अपने प्राण सौंप दिये थे । ज्ञानकी तो बात ही क्या है, जब ज्ञानके मूल स्रोत भगवान् स्वयं उसके बाहर-भीतर नित्य विहार करते हैं, तब ज्ञान तो उसे स्वयमेव ही प्राप्त है । ज्ञान-का चरम फल मुक्ति उसके चरणोंका आश्रय पानेके लिये सदा लालायित रहती है, परंतु वह मुक्तिको पिशाचिनी समझकर उससे दूर रहता है और भक्तिको बड़े प्रेमसे सदा हृदयमें छिपाये रखता है । 'मुक्ति निरादर भगति लुभाने ।'*

* भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

'जबतक भोग और मोक्षकी पिशाची इच्छा हृदयमें है, तबतक वहाँ भक्ति-सुखका अभ्युदय कैसे होगा ?'

भगवान्की नित्य-लीला

भगवान्की नित्य-लीलामें कभी विराम नहीं है, स्थूल जगत्की लीला तो हम सभी देखते हैं, परंतु दुर्भाग्यवश भ्रमसे उसको उनकी लीला न समझकर कुछ और ही समझे हुए हैं। भगवान् तो स्पष्ट इशारा करते हैं कि तुम जगत्का जो रूप देखते हो, वह असली नहीं है, 'ऐसा मिलेगा नहीं,' 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,' हों तो मिले। परंतु हम भगवान्की इस उक्तिपर ध्यान ही नहीं देते, और अपने मनःकल्पित स्वरूपको सत्य समझकर तुच्छ विषयोंके पीछे मारे-मारे फिरते और नित्य नया दुःख मोल लेते हैं। इस स्थूलके पीछे एक सूक्ष्म जगत्—अन्तर्जगत् है। उसमें प्रधानतया दो स्तर हैं—एकमें स्थूल विश्वब्रह्माण्डके संचालन-सूत्रोंको हाथमें लिये हुए भगवान्की विभिन्न अनन्त शक्तियाँ अनवरत क्रिया करती हैं, स्थूल जगत्के बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन इस अन्तर्जगत्की शक्तियोंके जरा-से यन्त्र घुमानेसे ही हो जाते हैं। यह स्तर स्थूल और अपेक्षाकृत बाह्य है, दूसरा सूक्ष्म और आभ्यन्तर स्तर है, जिसमें भगवान् अपने परिकरों-सहित नित्य-लीला करते हैं, जो संसारकी समस्त लीलाओंका आधार है और जिसमें एक-से-एक आगे अनेक स्तर हैं। भगवान्की परम कृपासे ही इन सारे रहस्योंका पता लगता है। सगुण साकार भगवत्-स्वरूपके अनन्य भक्त ही अन्तर्जगत्के इस सूक्ष्मतर स्तरमें प्रवेश कर सकते हैं और भगवत्कृपासे अधिकार-प्राप्त होकर वे आगे बढ़ते-बढ़ते एक स्तरके बाद दूसरे स्तरमें प्रवेश करते हुए अन्तमें उस सर्वोपरि परम सूक्ष्मतम स्तरमें पहुँच जाते हैं, जहाँ भगवान्की अत्यन्त गुह्यतम मधुर लीलाएँ होती रहती हैं, इसी सूक्ष्मतम स्तरको विशेष

स्तरभेदसे श्रीरामभक्त 'साकेत', श्रीकृष्णभक्त 'गोलोक'; श्रीशिवभक्त 'कैलास', परमधाम, महाकारण आदि कहते हैं। यहाँ भगवान्‌के लौकिक सूर्य-चन्द्रके प्रकाशसे परे, वरं इन सबको प्रकाश देनेवाले दिव्य प्रकाशसे संयुक्त नित्य दिव्यधाम है, इसकी लीलाएँ अनिर्वचनीय होती हैं। यहाँकी लीलाओंका कुछ स्थूल अंश और वह भी बहुत ही थोड़े परिमाणमें—अनन्त जलनिधिके एक जलकणसे भी अल्प परिमाणमें श्रीअयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, पञ्चवटी और श्रीवृन्दावन, मथुरा और द्वारकामें उस समय प्रकट हुआ था, जिस समय स्वयं भगवान् अपने प्रिय परिकरोंसहित अयोध्यामें श्रीरामरूपमें और व्रजमें श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए थे। उनका यह नित्यविहार आज भी वहाँ होता है, भाग्यवान् जन देख पाते हैं। वस्तुतः भगवान्‌के अवतरणके साथ ही उनके नित्यधामका भी अवतरण होता है। उसीमें भगवान्‌की लीलाएँ होती हैं, इसीसे लीलाधामोंकी इतनी महिमा है।

ईश्वर-विश्वासकी आवश्यकता

जो यथार्थ ज्ञानमार्गके उपासक या सच्चे भक्त हैं, उनके लिये तो यह प्रश्न ही नहीं बन सकता कि 'ईश्वर हैं या नहीं'। उनकी दृष्टिमें यह प्रश्न पागलके प्रलापके सिवा और कुछ नहीं है। जो चराचर विश्वको भगवान्‌में और भगवान्‌को विश्वमें व्याप्त देखते हैं या जिनकी आँखोंके सामने भगवान् ललित त्रिभंग नवीन घनश्यामस्वरूपसे सदा थिरकते रहते हैं, उनके सामने ईश्वरके होने-न-होनेकी चर्चा करना उनका अपमान करना है, ईश्वरको कोई माने या न माने, इससे उनका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं और न ईश्वरका ही कुछ बनता-बिगड़ता है। उल्लूके सूर्यको न माननेसे सूर्यके अस्तित्वमें कोई बाधा

नहीं पड़ती; ईश्वरके होनेकी बात तो उन लोगोंसे कहनी है जो मनुष्य होकर भी ईश्वरको भूले हुए हैं और इसके परिणामस्वरूप जो दुःखके अनन्त सागरमें डूबनेवाले हैं। भारतवर्षमें भी अनीश्वरवादी इन्द्रियाराम मनुष्य हुए थे; परंतु यहाँ इस बातका निर्णय ऋषि-मुनियों-ने प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर बहुत पहले कर दिया था, लोग प्रायः मान गये थे। कुछ ही समय पूर्वतक भारतमें ऐसे आदमीका खोजने-पर मिलना कठिन था, जो ईश्वरपर अविश्वास रखता हो। श्रीआद्य-शंकराचार्य-सदृश वेदान्तके महान् आचार्यसे लेकर ग्रामीण अशिक्षित किसानतक सभी स्त्री-पुरुष सरलभावसे ईश्वर और उनकी लीलाओंमें विश्वास करते थे। इसीलिये हमारे इधरके ग्रन्थोंमें ईश्वर-सिद्धिपर विशेष उल्लेख नहीं मिलता, जो कुछ मिलता है वह अधिकांश ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंके विषयमें ही मिलता है। ईश्वरके सम्बन्धमें जब कोई शङ्का ही नहीं रह गयी थी, तब उसके निराकरणकी क्या आवश्यकता थी? इधर कुछ समयसे विदेशी भाषा-भावके अत्यधिक संसर्गसे हमारी संस्कृतिमें विकृति आरम्भ हुई और उसीका यह कटु फल है कि आज भारतमें जन्मे हुए भी कुछ लोग ईश्वरको और धर्मको स्वीकार करनेमें सकुचाते हैं, अथ च विद्याबुद्धिमें अपनेको किसीसे कम नहीं मानते। यह जड़ता अत्यन्त ही दुष्परिणामकारिणी होगी। भगवान् सुबुद्धि दें, जिससे भारत अपने सनातन सत्य आदर्शसे च्युत न हो। आज जो दुःख-कष्टके पहाड़ टूट रहे हैं, इनका बहुत कुछ कारण भगवान्-के आश्रयको भुला देना है। और जबतक भगवान्के अधिष्ठानसे शून्य सुखका प्रयत्न जारी रहेगा, तबतक सुख-शान्तिका स्वप्न यद्यपि सत्य नहीं हो सकता।

सब फल ईश्वर ही देता है

यदि हमें सुख-शान्तिकी अभिलाषा है तो हमारा सर्वप्रथम यही कर्तव्य होना चाहिये कि हम सर्वतोभावेन ईश्वरका आश्रय ग्रहण करें और उनके बलपर शान्तिके मार्गपर आगे बढ़ें। यह स्मरण रखना चाहिये कि सुख-शान्तिका स्रोत भगवान्‌के चरणोंसे ही निकलता है। हमें किसी अन्य उपायसे—साधनसे या किसी अन्य देवताकी उपासनासे—जो सुख या सुखोत्पादक भोग मिलते हैं वे भी, वहींसे आते हैं; कारण, खजाना वहीं है। और जिस पदार्थ, मनुष्य या देवतासे मनुष्य विषयोंको प्राप्त करता है, वह पदार्थ, मनुष्य या देवता भी वस्तुतः भगवान् ही है। भगवान्‌ने कहा है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हि तान्॥
(गीता ७। २०—२२)

''विषयासक्त मनुष्य विषय-भोगोंकी कामनासे ज्ञानसे रहित हो जाते हैं और विषयोंकी प्राप्तिके लिये अपने-अपने स्वभावानुसार भाँति-भाँतिके नियम धारण करते हुए अन्य देवताओंको पूजते हैं। जो भक्त देवता-के रूपमें मेरे ही जिस स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उसकी मैं उसी स्वरूपमें श्रद्धा स्थिर कर देता हूँ, फिर वह मनुष्य श्रद्धाके साथ उसी देवताकी आराधना करता है और उसीके फलसे उक्त देव-स्वरूपके द्वारा उसे इच्छित वस्तुएँ मिल जाती हैं, परंतु मिलती हैं

मेरे विधानके अनुसार ही यानी उतनी ही, जितनी मेरे एक देव-स्वरूपके अधिकारमें होती है और जितनी प्रदान करनेका उसका अधिकार होता है ।'

एक आदमी किसी जिलेके अफसरकी सेवा करके उसे प्रसन्न करता है, जिलाधीश प्रसन्न होकर उसे उतना ही पुरस्कार दे सकता है, जितना देनेका उसको सरकारसे अधिकार मिला हुआ होता है और वह देता भी है राज्यके कोषसे ही । वह जिलाधीश राजाका प्रतिनिधि राजसत्ताका एक अङ्ग है, राज्य-शरीरका एक अवयव है, इससे उसकी पूजा प्रकारान्तरसे राज्याधीश नरेशकी ही पूजा होती है, परंतु वह एक क्षुद्र जिलेके अफसरके रूपकी होती है, इससे उसे वह फल नहीं मिल सकता, जो स्वयं राजाकी सीधी पूजासे मिल सकता है । जिलाधीशका पुजारी राजाके महलका अन्तरङ्ग सेवक नहीं बन सकता, परंतु राजाका सेवक महलके अंदर जानेका अधिकारी हो जाता है । 'मद्भक्ता यान्ति मामपि ।' भगवान्ने आगे कहा भी है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

(गीता ९ । २३)

'अर्जुन ! श्रद्धालु भक्त जो किसी फल-सिद्धिके लिये दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी वस्तुतः मेरी ही पूजा करते हैं; क्योंकि वे देव-स्वरूप भी मेरे ही हैं, परंतु उनकी वह पूजा अविधिपूर्वक होती है ।' भगवान् ही सबके आधार, संचालक, फलदाता, फलभोक्ता स्वामी हैं, इस बातको नहीं जाननेके कारण ही मनुष्य भगवान्को छोड़कर सुखके लिये अन्य देवताओंका एवं अन्यान्य जड उपायोंका आश्रय लेते हैं । इसीसे वे बार-बार दुःखोंमें गिरते हैं 'च्यवन्ति ते ।'

४८८६

देवताओंके उपासक देव-लोकमें तो जा सकते हैं, परंतु ईश्वरके अस्तित्वको न मानकर जड़ प्रकृतिके या केवल अर्थके उपासकोंकी तो बहुत बुरी गति होती है, चाहे वह अर्थोपासना व्यक्तिगत सुखके लिये हो या जाति अथवा राष्ट्रके हितकी कामनासे हो। जहाँ ईश्वर-को भुलाकर केवल अर्थ-लाभसे सुख, समृद्धि और अभ्युदयकी इच्छा और चेष्टा होगी, वहाँ पाप-पुण्य या सत्कर्म-दुष्कर्मका विचार नहीं रहेगा, व्यक्तिगत स्वार्थके लिये दूसरे व्यक्तिका और जाति या राष्ट्रके स्वार्थके लिये दूसरी जाति या राष्ट्रका सर्वनाश करनेमें कुछ हिच-किचाहट नहीं होगी, मनुष्य स्वार्थसे अंधा हो जायगा, परिणाममें उसे अन्धतम गति ही मिलेगी! आजके मनुष्यों, जातियों और राष्ट्रोंमें इसी भावका पोषण हो रहा है और इसीसे द्वेष, वैर, हिंसा और हत्याओंकी संख्या बढ़ रही है। ईश्वररहित अहिंसा या सत्य भी शीघ्र ही विकृत होकर प्रकारान्तरसे हिंसा और असत्यका रूप धारण कर लेते हैं; अभिमान, ईर्ष्या, दर्प, असहिष्णुता आदि दोष तो सद्गुणका बाना पहिनकर बढ़ते रहते ही हैं। भगवद्भक्तिसे शून्य केवल कुछ बाह्य आचरणोंसे सिद्धि, सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

दैवीसम्पत्तिकी आवश्यकता

इसका यह अर्थ नहीं कि दैवीसम्पत्तिके गुणोंकी भक्तिमें जरूरत नहीं है, प्रत्युत भक्तिकी तो कसौटी ही दैवीगुणोंका प्रादुर्भाव है। ईश्वर-भक्तमें ही दैवीगुण नहीं होंगे तो और किसमें होंगे? जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर-भक्तिमें दैवीगुणोंकी कोई आवश्यकता नहीं या कोई ईश्वर-भक्त होकर भी दैवीगुणोंसे हीन रह सकता है, वे भ्रम फैलाते हैं। यह बात वैसे ही है, जैसे कोई यह कहे कि सूर्यमें अन्धकार है, या अग्निमें दाहकता नहीं है। जहाँ यथार्थ भक्ति है,

वहाँ दैवीगुण अवश्य ही रहते हैं। हाँ, ईश्वर-भक्तिके बिना केवल दैवीगुण चिरकालतक नहीं टिक सकते, किसी कारणसे कुछ आते हैं, परंतु शीघ्र ही उनका विनाश हो जाता है। जहाँ स्थायी दैवीगुण है, वहाँ भक्ति अवश्य है और जहाँ यथार्थ भक्ति है, वहाँ दैवीगुण भी अवश्य होने चाहिये।

ईश्वरवादियोंके पाप

इस बातको न माननेके कारण ही तो बड़ा अनर्थ हो गया। ईश्वरको माननेका दावा करनेवाले लोग दैवीगुणोंकी परवा न करके इस भ्रममें पड़ गये कि दैवीगुण हों या न हों, चाहे हम कितना ही पाप क्यों न करते रहें, ईश्वर-भक्तिसे हमारा सब कुछ आप ही ठीक हो जायगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि ईश्वर-भक्तिसे बड़े-से-बड़े महापातक भी आगमें सूखे ईंधनके समान तत्काल भस्म हो जाते हैं, परंतु जो भक्तिके बलपर पापोंको आश्रय देते हैं, भक्तिके सहारे पाप करते हैं, ईश्वरके नामपर मनमाना अनाचार, अत्याचार और व्यभिचार करते हैं, उनके पाप तो वज्रलेप होते हैं। बात-बातमें ईश्वरका नाम करनेवाले लोग जब दम्भसे भर गये, मनमाना पाप करने लगे, ईश्वर-भक्तिके स्वाँगमें अनाचार होने लगा, भक्तका वेश व्यभिचारी लोगोंके कामाचारका साधन बन गया, दूसरोंपर झूठा रोब जमाकर उन्हें फुसलाकर झूठी तसल्ली या आश्वासन देकर उनसे धन ऐंठना, उनसे पूजा प्राप्त करना और उनकी बहिन-बेटियोंपर बुरी नजरोंसे देखना आरम्भ हो गया, मन्दिरों और तीर्थोंपर व्यभिचारके अड्डे बन गये, भगवान‌्की मूर्तितकके गहने पुजारियोंद्वारा ही चुराये जाने लगे, तब स्वाभाविक ही ऐसे ईश्वरवादियोंके प्रति लोगोंमें अश्रद्धा,

घृणा और दुर्भावना उत्पन्न हुई और साथ ही यह भी भाव जाग्रत् हुआ कि जब ईश्वर इन लोगोंका कुछ भी नहीं करता जो उसके नामपर इतना जुल्म करते हैं, तब उस ईश्वरको माननेमें क्या लाभ है ! यद्यपि लोगोंका यह निश्चय भ्रमपूर्ण है तथापि गहरा विचार न करनेपर ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है । आज जो अनीश्वरवादकी लहर बह रही है, इसमें इन भेड़की खालमें घुसे हुए भेड़ियोंने—ज्ञानी और भक्तरूपको कलङ्कित करनेवाले मनुष्योंने बड़ी मदद की है । यह सब हुआ और हो रहा है, परंतु वास्तवमें बात तो यह है कि ऐसे लोगोंको ईश्वरवादी मानना ही भूल है, जो ईश्वरके नामपर पाप करता है, सर्वव्यापी ईश्वरको मानकर भी पाप करते नहीं सकुचाता, छिपकर पाप करनेमें कोई संकोच नहीं करता, वह वास्तवमें ईश्वरको मानता ही कहाँ है ? इनपर लोगोंके आचरणोंसे ईश्वरकी सत्तामें कोई अन्तर नहीं पड़ता और न सच्चे ईश्वरभक्तोंका ही कुछ बिगड़ता है ।

हमें क्या करना चाहिये ?

ईश्वरमें विश्वास होना यद्यपि बड़े सौभाग्यका विषय है, परंतु यह सौभाग्य हमलोगोंको प्राप्त करना ही पड़ेगा । सत्सङ्ग, ईश्वरविश्वासी महात्माओंकी वाणी, सत्-शास्त्रोंका अध्ययन, ईश्वर-प्रार्थना आदि उपायोंसे ईश्वरमें विश्वास बढ़ता है; इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधानीके साथ अपने आसपास सभी प्रकारका ऐसा वातावरण रखना चाहिये जिसमें ईश्वर-विश्वास बढ़ानेवाली ही सब चीजें हों । ऐसा करनेमें यदि कोई सांसारिक हानि हो तो उसे ईश्वरका आशीर्वाद समझकर सहर्ष स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि ईश्वरमें अविश्वास करनेसे बढ़कर अन्य कोई भी हानि नहीं है, इससे मनुष्यका जितना पतन होता है, उतना अन्य किसी बातमें नहीं होता ।

नित्य नियमपूर्वक भगवान्‌में विश्वास बढ़ानेवाले ग्रन्थ पढ़ने चाहिये। भगवद्विश्वासी पुरुषोंसे यथावसर मिलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उनके अनुभव और उनकी शिक्षाओंको सत्य समझकर श्रद्धाके साथ उनके बतलाये हुए साधनोंको कार्यान्वित करना चाहिये। ऐसा करते-करते जब भगवत्‌में विश्वास बढ़ जायगा, तब भगवत्कृपाका सूर्य उदय होकर हमारे सारे अन्धकारको दूर कर देगा, फिर हमें सर्वत्र आनन्द, सब ओर शान्ति, सबमें विज्ञानानन्दघन परमात्माका भाव दिखायी देगा। यदि और भी सौभाग्य हुआ तो सारी चेतनता, समस्त आनन्द, सम्पूर्ण प्रेम, अखिल ज्ञान और दिव्य माधुर्यकी घनमूर्ति, नव-जलधर, नवकिशोर, नटवर, ललित त्रिभंगभंगीसे मधुर-मुरलीमें सुर भरते हुए हमारे दृष्टिगोचर होंगे, उस अनन्त सौन्दर्यराशि, स्मित-हास्य, पीतवसन और वनमालाधारी, गोप-गोपिका-परिवेष्टित श्याम मूरतिको देखकर फिर कुछ भी देखना, करना-धरना शेष न रह जायगा। उस दिव्य आनन्द-रस-महोदधिमें डूबकर हम गा उठेंगे—

मुकुटके रंगनिपर इन्द्रको धनुष वारौं,
अमल कमल वारौं लोचन बिसालपर।
कुंडलकी प्रभा पै कोटिक प्रभाकर वारौं,
कोटिक मदन वारौं बदन रसालपर॥
तनके वरन पै नीरद सजल वारौं,
चपला चमकि मनमोहनकी मालपर।
चाल पै मराल वारौं, मेरो तन मन वारौं,
कहा कहा वारि डारौं नंदजूके लालपर॥

भगवान् शिव

शिव एक हैं

लोकत्रयस्थितिलयोदयकेलिकारः
कार्येण यो हरिहरद्रुहिणत्वमेति।
देवः स विश्वजनवाङ्मनसातिवृत्त-
शक्तिः शिवं दिशतु शश्वदनश्वरं वः॥

परात्पर सच्चिदानन्द परमेश्वर शिव एक हैं; वे विश्वातीत हैं और विश्वमय भी हैं। वे गुणातीत हैं और गुणमय भी हैं। वे एक ही हैं और अनेक रूप बने हुए हैं। वे जब अपने विस्ताररहित अद्वितीय स्वरूपमें स्थित रहते हैं, तब मानो यह विविध विलासमयी असंख्य रूपोंवाली विश्वरूप जादूके खेलकी जननी प्रकृतिदेवी उनमें विलीन रहती है। यही शक्तिकी शक्तिमान्में अक्रिय, अव्यक्त स्थिति है—शक्ति है, परंतु वह दीखती नहीं है और बाह्य क्रियारहित है। पुनः जब वही शिव अपनी शक्तिको व्यक्त और क्रियान्विता करते हैं, तब वही क्रीड़ामयी शक्ति—प्रकृति शिवको ही विविध रूपोंमें प्रकटकर उनके खेलका साधन उत्पन्न करती है। एक ही देव विविध रूप धारणकर अपने-आप ही अपने आपसे खेलते हैं। यहीं विश्वका विकास है। यहाँ शिव-शक्ति दोनोंकी लीला चलती है। शक्ति क्रियान्विता होकर शक्तिमान्के साथ तब प्रत्यक्ष-प्रकट विलास करती है। यही परात्पर परमेश्वर शिव, महाशिव, महाविष्णु, महाशक्ति, गोकुल-विहारी श्रीकृष्ण, साकेताधिपति श्रीराम आदि नाम-रूपोंसे

प्रसिद्ध हैं। सच्चिदानन्द विज्ञानानन्दघन परमात्मा शिव ही भिन्न-भिन्न सर्ग-महासर्गोंमें भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे अपनी परात्परताको प्रकट करते हैं। जहाँ जटाजूटधारी श्रीशिवरूप सबके आदि-उत्पन्नकर्ता और सर्वपूज्य महेश्वर उपास्य हैं तथा अन्य नाम-रूपधारी उपासक हैं, वहाँ वे शिव ही परात्पर महाशिव हैं तथा अन्यान्य देव उनसे अभिन्न होनेपर भी उन्हींके स्वरूपसे प्रकट, नाना रूपों और नामोंसे प्रसिद्ध होते हुए सत्त्व-रज-तम गुणोंको लेकर आवश्यकतानुसार कार्य करते हैं। उस महासर्गमें भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवता भिन्न-भिन्न होनेपर भी सब उन एक ही परात्पर महाशिवके उपासक हैं। इसी प्रकार किसी सर्ग या महासर्गमें महाविष्णुरूप परात्पर होते हैं और अन्य देवता उनसे प्रकट होते हैं; किसीमें ब्रह्मारूप, किसीमें महाशक्ति-रूप, किसीमें श्रीकृष्णरूप और किसीमें श्रीरामरूप परात्पर ब्रह्म होते हैं तथा अन्यान्य स्वरूप उन्हींसे प्रकट होकर उनकी उपासनाकी और उनके अधीन सृष्टि, पालन और विनाशकी विविध लीलाएँ करते हैं। इस तरह एक ही प्रभु भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होकर उपास्य-उपासक, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, शासक-शासितरूपसे लीला करते हैं। हाँ, एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, परात्परसे प्रकट त्रिदेव उनसे अभिन्न और पूर्ण शक्तियुक्त होते हुए भी तीनों भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रिया करने हैं तथा तीनोंकी शक्तियाँ भी अपने-अपने कार्यके अनुसार सीमित ही देखी जाती हैं।

यह नहीं समझना चाहिये कि परात्पर महाशिव परमात्माके ये सब भिन्न-भिन्न रूप काल्पनिक हैं। सभी रूप भगवान्‌के होनेके

धारण नित्य, शुद्ध और दिव्य हैं। प्रकृतिके द्वारा रचे जानेवाले विश्वप्रपञ्चके विनाश होनेपर भी इनका विनाश नहीं होता; क्योंकि ये प्रकृतिकी सत्तासे परे स्वयं प्रभु परमात्माके स्वरूप हैं। जैसे परमात्माका निराकार रूप प्रकृतिसे परे नित्य निर्विकार है, इसी प्रकार उनके ये साकार रूप भी प्रकृतिसे परे नित्य निर्विकार हैं। अन्तर इतना ही है कि निराकार रूप कभी शक्तिको अपने अंदर इस प्रकार विलीन किये रहता है कि उसके अस्तित्वका ही पता नहीं लगता और कभी निराकार रहते हुए ही शक्तिको विकासोन्मुखी करके गुणसम्पन्न बन जाता है; परंतु साकार रूपमें शक्ति सदा ही जाग्रत्, विकसित और सेवामें नियुक्त रहती है। हाँ, कभी-कभी वह भी अन्तःपुरकी महारानीके सदृश बाहर सर्वथा अप्रकट-सी रहकर प्रभुके साथ क्रीडारत रहती है और कभी बाह्य लीलामें प्रकट हो जाती है, यही नित्यधामकी लीला और अवतार-लीलाका तारतम्य है।

नित्यधामके शिव-शक्ति, विष्णु-लक्ष्मी, ब्रह्मा-सावित्री, कृष्ण-राधा और राम-सीता ही समय-समयपर अवताररूपसे प्रकट होकर बाह्य लीला करते हैं। ये सब एक ही परम-तत्त्वके अनेक नित्य और दिव्य स्वरूप हैं। अवतारोंमें, कभी तो परात्पर स्वयं अवतार लेते हैं और कभी सीमित शक्तिसे कार्य करनेवाले त्रिदेवोंमेंसे किसीका अवतार होता है। जहाँ दण्ड और मोहकी लीला होती है, वहाँ दण्डित एवं मोहित होनेवाले अवतारोंको त्रिदेवोंमेंसे, तथा दण्डदाता और मोह उत्पन्न करनेवालेको परात्पर प्रभु समझना चाहिये, जैसे नृसिंहरूपको शरभरूपके द्वारा दण्ड दिया जाना और शिवरूपका विष्णुद्वारा मोहिनी-

ाहित होना आदि। कहीं-कहीं परात्परके साक्षात् अवतारमें भी
ा देखी जाती है, परंतु उसका गूढ़ रहस्य कुछ और ही
जो उनकी कृपासे ही समझमें आ सकता है।

शिवके रूप कल्पना नहीं हैं

न श्रीशिवस्वरूपकी कुछ चर्चा करके लेखनीको पवित्र
कुछ लोगोंकी अनुभवहीन समझ, सूझ या कल्पना है कि
शिवका साकार स्वरूप कल्पनामात्र है। उनके एकमुख,
विभूषित, नीलकण्ठ, मदनदहन, वृषभ, कार्तिकेय, गणेश
काल्पनिक रूपक हैं। इसलिये इन्हें वास्तविक न मानकर
समझना चाहिये। परंतु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। ये
हैं। जिन भक्तोंने भगवान् श्रीशिवकी कृपासे इन रूपों
को देखा है या जो आज भी भगवत्कृपासे प्राप्त साधन-
कले हैं अथवा देखते हैं तथा साक्षात् अनुभव करते हैं,
तत्त्वको समझते हैं और उन्हींकी बातका वस्तुतः कुछ
उल्लूको सूर्य नहीं दीखता—इससे जैसे सूर्यके
ई बाधा नहीं आती, इसी प्रकार किसीके मानने-न-
स्वरूपका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, माननेवाला
और न माननेवाला हानि। एक बात ध्यानमें रखनी
गवान्‌की प्रत्येक लीला वास्तवमें इसी प्रकारकी होती
रा-पूरा आध्यात्मिक रूपक भी बँध सके; क्योंकि वे
के लिये ही अपने नित्य-स्वरूपको धरातलमें प्रकट
ना करते हैं। वेद, महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण,
ि सभी ग्रन्थोंमें वर्णित भगवान्‌की लीलाओंके रूपक

बन सकते हैं। परंतु रूपक ठीक बैठ जानेसे ही असली स्वरूपको काल्पनिक मान लेना वैसी ही भूल है जैसी पिताके छायाचित्र (फोटो) को देखकर उसके अस्तित्वको न मानना !

शिवपूजा

कुछ लोग कहते हैं कि शिव-पूजा अनार्योंकी चीज है, पीछेसे आर्योंमें प्रचलित हो गयी। इस कथनका आधार है वह मिथ्या कल्पना या अन्धविश्वास, जिसके बलपर यह कहा जाता है कि 'आर्य-जाति भारतवर्षमें पहलेसे नहीं बसती थी। पहले यहाँ अनार्य रहते थे। आर्य पीछेसे आये।' दो-चार विदेशी लोगोंने अटकलपच्चू ऐसा कह दिया; बस, उसीको ब्रह्मवाक्य मानकर लगे सब उन्हींका अनुकरण करने ! शिव-पूजाके प्रमाण अब उस समयके भी मिल गये हैं, जिस समय इन लोगोंके मतमें आर्य-जाति यहाँ नहीं आयी थी। इसलिये इन्हें यह कहना पड़ा कि शिव-पूजा अनार्योंकी है ! जो भ्रान्तिवश वेदोंके निर्माण-कालको केवल चार हजार वर्ष पूर्वका ही मानते हैं, उनके लिये ऐसा समझना स्वाभाविक है, परंतु वास्तवमें यह बात नहीं है। भारतवर्ष निश्चय ही आर्योंका मूल-निवास है और शिव-पूजा अनादि कालसे ही प्रचलित है; क्योंकि सारा विश्व शिवसे ही उत्पन्न है, शिवमें स्थित है और शिवमें ही विलीन होता है। शिव ही इसको उत्पन्न करते हैं, शिव ही इसका पालन करते हैं और शिव ही संहार करते हैं। विभिन्न तीन कार्योंके लिये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र—ये तीन नाम हैं। जब शिव अनादि हैं, तब शिवकी पूजाको परवर्ती बतलाना सरासर भूल है। परंतु क्या किया जाय ? वे लोग चार-पाँच हजार वर्षसे पीछे हटना ही नहीं चाहते। उनके चारों युग इसी कालमें पूरे हो जाते हैं।

उनके इतिहासकी यही सीमा है। इससे पहलेके कालको तो वे 'प्रागैतिहासिक युग' मानते हैं। मानो उस समय कुछ था ही नहीं और कहीं कुछ था तो उसको समझने, जानने या लिखनेवाला कोई नहीं था। प्राचीनताको—चारों युगोंको चार-पाँच हजार वर्षकी सीमामें बाँधकर वेद, रामायण, महाभारत, पुराण आदि समस्त ग्रन्थोंमें वर्णित घटनाओंको तथा उनके ग्रन्थोंको इसी कालके अंदर सीमित मानकर तरह-तरहकी अद्भुत अटकलोंद्वारा इधर-उधरके कुलाबे मिलाकर मनगढ़ंत बातोंका प्रचार करते हैं और इसीका नाम आज नवीन शोध या रिसर्च है। इस विचित्र रिसर्चके युगमें प्राचीनताकी बातें सुनना बेवकूफी समझा जाता है। भला, बेवकूफी कौन करे? अतः स्वयं बेवकूफीसे बचनेके लिये पूर्वजोंको बेवकूफ बनाना चाहते हैं। कुछ लोग श्रीशिव आदिके स्वरूप और उनकी लीलाएँ तथा उनकी उपासना-पद्धतिका पूरा रहस्य न समझनेके कारण उनमें दोष देखते हैं, फिर इनके रहस्यसे सर्वथा अनभिज्ञ विद्वान् माने जानेवाले अन्यदेशीय आधुनिक शिक्षाप्राप्त प्रसिद्ध पुरुष भगवान्के इन स्वरूपों, लीलाओं तथा पूजा-पद्धतिका जब उपहास करते हैं तथा इन्हें माननेवालोंको मूर्ख बतलाते हैं, तब तो इन लोगोंको आदर्श विद्वान् समझनेवाले एतद्देशीय उपर्युक्त पुरुषोंकी दोषदृष्टि और भी बढ़ जाती है और प्रत्यक्षदर्शी तत्त्वज्ञ ऋषियोंद्वारा रचित इन ग्रन्थोंसे, इनमें वर्णित घटनाओंसे, इनके सिद्धान्तोंसे लज्जाका अनुभव करते हुए, धर्मे, देशमें इन्हें कोसते हैं और बाहर अपने धर्म तथा देशको लज्जा तथा उपहाससे बचानेके लिये उन कथाओंसे नये-नये रूपकोंकी कल्पना कर विदेशी विद्वानोंकी दृष्टिमें अपने धर्म और इतिहासको तथा देवतावादको निर्दोष एवं विज्ञान-सम्मत

उच्च दार्शनिक भावोंसे सम्पन्न सिद्ध महर्षियोंका प्रयत्न कर उसके असली तत्त्वको देख लेते हैं और इस तरह नासमझ लोग वञ्चित रह जाते हैं। शास्त्ररहस्यसे अनभिज्ञ, अपरावित् आधुनिक विद्वानोंकी बुद्धिको ही सर्वांशमें आदर्श मानकर उनसे उत्तम कहे जानेके लिये भारतीय विद्वानोंने भारतीय धर्म-ग्रन्थोंमें वर्णित तत्त्व तथा इतिहासोंको एवं भगवान्‌की लीलाओंको, अपनी सभ्यताके और ग्रन्थोंके गौरवको बढ़ानेकी अच्छी नीयतसे भी जो सर्वथा उड़ाने तथा उनका बुरी तरह अर्थान्तर करने और उन्हें समझानेकी चेष्टा की है एवं कर रहे हैं, उसे देखकर रहस्यविद् तत्त्वज्ञ लोग हँसते हैं। साथ ही इन लोगोंकी इस प्रकारकी प्रगतिका अशुभ परिणाम सोचकर खिन्न भी होते हैं। रहस्य खुलनेपर ही पता लगता है कि हमारे शास्त्रोंमें वर्णित सभी बातें सत्य हैं और हमें ठगानेवाली नहीं, वरं संसारको ऊँची-से-ऊँची शिक्षा देनेवाली हैं। परंतु इस रहस्यका उद्घाटन भगवत्कृपासे प्राप्त योग्य तत्त्वज्ञ सद्गुरुकी कृपासे ही हो सकता है। खेद है कि आजकल गुरुमुखसे ग्रन्थोंका रहस्य जाननेकी प्रणाली प्रायः नष्ट होकर अपने-आप ही अध्ययन और मनमाना अर्थ करनेकी प्रथा चल पड़ी है, जिससे रहस्य-मन्दिरके दरवाजेपर ताले-पर-ताले लगते जा रहे हैं। पता नहीं, इसके परिणाम-स्वरूप हमारा जीवन कितना बहिर्मुख और जड़-भावापन्न हो जायगा।

शिव तामसी देवता नहीं हैं

इनके अतिरिक्त कुछ लोग भगवान् शिवको मानते तो हैं, किंतु उन्हें तामसी देव मानकर उनकी उपासना करनेमें दोष समझते हैं। वास्तवमें यह उनका भ्रम है, जो बाह्य दृष्टिवाले साम्प्रदायिक

आपहीने मनुष्योंको पैदा किया हुआ है। जिन भगवान् शिवका गुणगान वेदों, उपनिषदों और वैष्णव कहे जानेवाले पुराणोंमें भी गाया गया है, उन्हें तामसी बतलाना अपने तमोगुणी होनेका ही परिचय देना है। परात्पर महाशिव तो सर्वथा गुणातीत हैं, वहाँ तो गुणोंकी क्रिया ही नहीं है। जिस गुणातीत, नित्य, दिव्य, साकार चैतन्य रसविग्रह-स्वरूपमें क्रिया है, उसमें भी गुणोंका खेल नहीं है। भगवान्‌की दिव्य प्रकृति ही वहाँ क्रिया करती है और जिन त्रिदेव-मूर्तियोंमें सत्त्व, रज और तमकी लीलाएँ होती हैं, उनमें भी उनका स्वरूप गुणोंकी क्रियाके अनुसार नहीं है। भिन्न-भिन्न क्रियाओंके कारण सत्त्व, रज, तमका आरोप है। वस्तुतः ये तीनों दिव्य चेतन-विग्रह भी गुणातीत ही हैं।

शिव मोक्षदाता हैं

कुछ लोग भगवान् शङ्करपर श्रद्धा रखते हैं, उन्हें परमेश्वर मानते हैं, परंतु मुक्तिदाता न मानकर लौकिक फलदाता ही समझते हैं और प्रायः लौकिक कामनाओंकी सिद्धिके लिये ही उनकी भक्ति या पूजा करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि परम उदार आशुतोष, भगवान् सदाशिवमें दयाकी लीलाका विशेष प्रकाश होनेके कारण वे भक्तोंको मनमानी वस्तु देनेके लिये सदा ही तैयार रहते हैं, परंतु इससे इन्हें मुक्तिदाता न समझना बड़ा भारी प्रमाद है। जब भगवान् शिवके स्वरूपका तत्त्वज्ञान ही मुक्तिका नामान्तर है, तब उन्हें मुक्तिदाता न मानना सिवा भ्रमके और क्या हो सकता है? वास्तवमें लौकिक कामनाओंने हमारे ज्ञानको हर लिया है, इसीलिये हम अपने अज्ञानवश परमज्ञानस्वरूप शिवपर आरोप करके उनकी शक्तिको

लौकिक कामनाओंकी पूर्तितक ही सीमित मान लेते हैं और शिवकी पूजा करके भी अपनी मूर्खतावश परम लाभसे वञ्चित रह जाते हैं। भगवान् शिव शुद्ध, सनातन, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म हैं, उनकी उपासना परम लाभके लिये ही या उनका पुनीत प्रेम प्राप्त करनेके लिये ही करनी चाहिये। सांसारिक हानि-लाभ प्रारब्धवश होते रहते हैं, इनके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। शङ्करकी शरण लेनेसे कर्म शुभ और निष्काम हो जायँगे, जिससे आप ही सांसारिक कष्टोंका नाश हो जायगा और पूर्वकृत कर्मोंके शेष रहनेतक कष्ट होते भी रहें तो क्या आपत्ति है। उनके लिये न तो चिन्ता करनी चाहिये और न भगवान् शङ्करसे उनके नाशार्थ प्रार्थना ही करनी चाहिये। नाम-रूपसे सम्बन्ध रखनेवाले, आने-जानेवाले सुख-दुःखोंकी भक्त क्यों परवा करने लगा? लौकिक सुखका सर्वथा नाश होकर महान् विपत्ति पड़नेपर भी यदि भगवान्का भजन होता रहे तो भक्त उस विपत्तिको परम सम्पत्ति मानता है, परंतु उस सम्पत्ति और सुखका वह मुँह भी नहीं देखना चाहता जो भगवान्के भजनको भुला देते हैं। भजन बिना जीवन, धन, परिवार, यश, ऐश्वर्य—सभी उसको विरस भासते हैं। भक्तको तो सर्वथा देवी पार्वतीकी भाँति अनन्य प्रेमभावसे भगवान् शिवकी उपासना ही करनी चाहिये। एक बात बहुत ध्यानमें रखनेकी है, भगवान् शिवके उपासकमें जगत्के भोगोंके प्रति वैराग्य अवश्य होना चाहिये। यह निश्चित सिद्धान्त है कि विषय-भोगोंमें जिनका चित्त आसक्त है, वे परमपदके अधिकारी नहीं हो सकते और उनका पतन ही होता है। ऐन्द्रिय विषयोंको प्राप्त करके अथवा विषयोंसे भरपूर जीवनमें रहकर उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहना

जनक-सरीखे इने-गिने पूर्वाभ्यास-सम्पन्न पुरुषोंका ही कार्य है। अनुभव तो यह है कि विषयोंके सङ्ग तो क्या, उनके चिन्तनमात्रसे मनमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं। भगवान् भोलेनाथ विषय माँगनेवालेको विषय और मोक्ष माँगनेवालेको मोक्ष दे देते हैं और प्रेमका भिखारी उनके प्रेमको प्राप्तकर धन्य होता है। वे कल्पवृक्ष हैं। मुँहमाँगा वरदान देनेवाले हैं। यदि उपासकने उनसे विषय माँगा तो वे विषय दे देंगे, परंतु विषय उसके लिये विषका कार्य करेगा और अन्तमें दुःखदायी होगा। कामनासे घिरे हुए विषयपरायण मूढ़ पुरुष ही असुर हैं। ऐसे असुरोंके अनेकों दृष्टान्त प्राप्त होते हैं, जिन्होंने भगवान् शिवजीकी उपासना करके उनसे विषय माँग लिये और जो यथार्थ लाभसे वञ्चित रह गये। अतएव भगवान् शिवके उपासकको जगत्के विषयोंकी आसक्ति छोड़कर यथार्थ वैराग्यसम्पन्न होकर परमवस्तुकी चाहना करनी चाहिये, जिससे यथार्थ कल्याण हो। याद रखना चाहिये कि शिव स्वयं कल्याणस्वरूप ही हैं, इससे उनकी उपासनासे उपासकका कल्याण बहुत ही शीघ्र हो जाता है। केवल विश्वास करके लग जाने-मात्रकी देर है। भगवान्के दूसरे स्वरूप बहुत छान-बीनके अनन्तर फल देते हैं, परंतु औढरदानी शिव तत्काल फल दे देते हैं।

औढरदानी या आशुतोषका यह अर्थ नहीं करना चाहिये कि विज्ञानानन्दघन शिवस्वरूपमें बुद्धि या विवेककी कमी है। ऐसा मानना तो प्रकारान्तरसे उनका अपमान करना है। बुद्धि या विवेकके उद्गम-स्थान ही भगवान् शिव हैं। उन्हींसे बुद्धि प्राप्तकर समस्त देव, ऋषि, मनुष्य अपने-अपने कार्योंमें लगे रहते हैं। अलग-अलग रूपोंमें कुछ अपनी-अपनी विशेषताएँ रहती हैं। शङ्कररूपमें यही विशेषता है कि वे

बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं और भक्तोंकी मनःकामना-पूर्तिके समय भोलेसे बन जाते हैं। परंतु संहारका मौका आता है तब रुद्ररूप बनते भी उन्हें देर नहीं लगती।

शिवरूपका रहस्य गहन है

भगवान् शङ्करको भोलानाथ मानकर ही लोग उन्हें गँजेड़ी, भँगेड़ी, नशेबाज और बावला समझकर उनका उपहास करते हैं। विनोदसे भक्त सब कुछ कर सकते हैं और भक्तका आरोप भगवान् स्वीकार भी कर ही लेते हैं। परंतु जो वस्तुतः शिवको पागल, श्मशानवासी औघड़, नशेबाज आदि समझते हैं, वे गहरी भूलमें हैं। शङ्करका श्मशाननिवास, उनकी उन्मत्तता, उनका विष-पान, उनका सर्वाङ्गीपन आदि बहुत गहरे रहस्यको लिये हुए हैं, जिसे श्रीशिवकी कृपासे शिव-भक्त ही समझ सकते हैं। जैसे व्यभिचारप्रिय लोग भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलाको व्यभिचारका रूप देकर प्रकारान्तरसे अपने पापमय व्यभिचार-दोषका समर्थन करते हैं, इसी प्रकार सदाचार-हीन, अवैदिक क्रियाओंमें रत नशेबाज मनुष्य शिवके अनुकरणका ढोंग रचकर अपने दोषोंका समर्थन करना चाहते हैं। वस्तुतः शिव-भक्तको सदाचारपरायण रहकर गाँजा, भाँग, मतवालापन, अपवित्र वस्तुओंके सेवन, अपवित्र आचरण आदिसे सदा बचते रहना चाहिये—यही शङ्करका आदेश है।

कल्याणरूप शिव

भगवान् शिवको परात्पर मानकर सेवन करनेवालेके लिये तो वे परमब्रह्म हैं ही। अन्यान्य भगवत्-स्वरूपोंके उपासकोंके लिये,

जो शिवस्वरूपको परमब्रह्म नहीं मानते, भगवान् शिव मार्गदर्शक परमगुरु अवश्य हैं। भगवान् विष्णुके भक्तके लिये भी सद्गुरुरूपसे शिवकी उपासना आवश्यक है। वैष्णवग्रन्थोंमें इसका यथेष्ट उल्लेख है और साधकोंके अनुभव भी प्रमाण हैं। शक्तिके उपासक शक्तिमान् शिवको छोड़ ही कैसे सकते हैं? शिव बिना शक्ति अकेली क्या करेगी? गणेश और कार्तिकेय तो शिवके पुत्र ही हैं। पुत्रको पूजे और पिताका अपमान करे, यह शिष्ट मर्यादा कभी नहीं हो सकती। सूर्यदेव तो भगवान् शिवके तेजोलिङ्गके ही नामान्तर हैं। इसके सिवा अन्यान्य मतावलम्बियोंके लिये भी कम-से-कम श्रद्धा-विश्वासरूप शक्ति-शिवकी आवश्यकता रहती ही है। योगियोंके लिये तो परमयोगीश्वर शिवकी आराधनाकी आवश्यकता है ही। ज्ञानके साधक परमकल्याणरूप शिवकी ही प्राप्ति चाहते हैं। न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन भी शिवविद्याके ही प्रचारक हैं। तन्त्र तो शिवोपासनाके लिये ही बना है। ऐसी अवस्थामें जिस-किसी भी दृष्टिसे शिवको परम परमात्मा, महाज्ञानी, महान् विद्वान्, योगीश्वर, देवदेव, जगद्गुरु, सद्गुरु, महान् उपदेशक, उत्पादक, संहारक—कुछ भी मानकर उनकी उपासना करना सबके लिये कर्तव्य है। और सुख—कल्याणकी इच्छा स्वाभाविक होनेके कारण प्रत्येक जीव कल्याणरूप शिवकी ही उपासना करता है।

लिङ्ग-शब्दका अर्थ

कुछ लोग भगवान् शिवकी लिङ्गपूजामें अश्लीलताकी कल्पना करते हैं, यह वास्तवमें उनकी मूर्खता, नास्तिकता और अनभिज्ञता ही है। यह सत्य है कि लिङ्ग-शब्दके अनेक अर्थोंमें लोकप्रसिद्ध अर्थ अश्लील है, परंतु वैदिक शब्दोंका यौगिक अर्थ लेना ही समीचीन

बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं और भक्तोंकी मनःकामना-पूर्तिके
भोले-से बन जाते हैं। परंतु संहारका मौका आता है तब रु
बनते भी उन्हें देर नहीं लगती।

शिवरूपका रहस्य गहन है

भगवान् शङ्करको भोलानाथ मानकर ही लोग उन्हें गँजे
भँगेड़ी, नशेबाज और बावला समझकर उनका उपहास करते हैं
विनोदसे भक्त सब कुछ कर सकते हैं और भक्तका आरोप भगव
स्वीकार भी कर ही लेते हैं। परंतु जो वस्तुतः शिवको पाग
श्मशानवासी औघड़, नशेबाज आदि समझते हैं, वे गहरी भूलमें हैं
शङ्करका श्मशाननिवास, उनकी उन्मत्तता, उनका विषपान, उनक
सर्वाङ्गीपन आदि बहुत गहरे रहस्यको लिये हुए हैं, जिसे श्रीशिवकी
कृपासे शिव-भक्त ही समझ सकते हैं। [illegible] ने व्यभिचारप्रिय लोग
भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलाको [illegible] देकर प्रकारान्तरसे

शिव समस्त जगत्के कारण हैं, अत: कारणवाचक लिङ्गके उनका पूजन होता है। अतः इसमें अश्लीलताकी कल्पना दृष्टिसे कदापि नहीं करनी चाहिये और भगवान् शङ्करकी से शास्त्रानुमोदित पूजा-अर्चा करनी चाहिये।

शिवनिर्माल्य

गवान् शङ्करपर चढ़ायी हुई वस्तु ग्रहण करनी चाहिये या सम्बन्धमें तरह-तरहकी बातें कही जाती हैं। सिद्धान्त यह जिन पुरुषोंने शिवमन्त्रकी दीक्षा ली है, उनके लिये तो नैवेद्य—प्रसाद भक्षण करनेकी विधि है, परंतु जिनके की दीक्षा है, उनके लिये निषेध है। शास्त्रमें कहा गया है जीपर जो निर्माल्य या नैवेद्य चढ़ता है, वह चण्डेश्वरका उसका ग्रहण किसीको नहीं करना चाहिये—'चण्डाधिकारो द्गोक्तव्यं न मानवैः (शिवपुराण-विद्येश्वरसंहिता २२।१६) हाँ चण्डका अधिकार है वहाँ मनुष्यको शिव-नैवेद्यका भक्षण ना चाहिये।' परन्तु वहीं इसी श्लोकमें यह भी कहा है चण्डका अधिकार नहीं है, उसका भक्तिपूर्वक भक्षण हिये—'चण्डाधिकारो नो यत्र भोक्तव्यं तच्च भक्तितः।' यह निर्णय किया गया है कि भूमि, वस्त्र, भूषण, सोना, चा आदिको छोड़कर श्रीशिवजीपर चढ़े हुए पुष्प, फल, ल—इन सबको, जो शिवदीक्षासे रहित हैं, उनको ग्रहण चाहिये। पर वे भी यदि शालग्रामशिलाके स्पर्श हो जायँ के योग्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ शालग्राम-पत्ति होती है—वहाँ उत्पन्न लिङ्गमें, पारेके लिङ्गमें, पाषाण, सोनेसे बने हुए लिङ्गमें, देवता तथा सिद्धोंके द्वारा स्थापित

लिङ्गमें, स्फटिक या रत्ननिर्मित लिङ्गमें, केलासमें बने हुए लिङ्गमें
सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकाल, परमेश्वर, केदारनाथ, भीम
विश्वनाथ, त्र्यम्बक, वैद्यनाथ, नागेश, रामेश्वर और घुश्मेश
इन बारह ज्योतिर्लिङ्गोंमें चढ़ा हुआ शिव-नैवेद्य ग्रहण करने
होता है। जिनको शैवी दीक्षा नहीं है, वे भी उपर्युक्त लि
नैवेद्यको ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि इन लिङ्गोंके निर्माल्यमें न
अधिकार नहीं है।

सारांश यह है कि जिनको शिवदीक्षा नहीं है, परंतु
शिवजीके भक्त हैं उनके लिये पार्थिव लिङ्गको छोड़कर सभी शिवलिङ्
निवेदित की हुई वस्तुओंको तथा शिवजीकी प्रतिमापर चढ़ाये
प्रसादको ग्रहण करनेका अधिकार है। और जो वस्तुएँ शिवलिङ्
स्पर्श नहीं करतीं अलग रखकर शिवजीको निवेदन की जाती हैं
अत्यन्त पवित्र हैं, उन्हें भी ग्रहण करनेका अधिकार है। शिवज
पूजामें नारी तथा शूद्र सभीका अधिकार है, उन्हें केवल वैदि
पूजा नहीं करनी चाहिये।*

---

* पुराणप्रसिद्ध शिवलिङ्ग तथा प्राचीन शिवलिङ्गके पूजनका अधिक
स्त्री-शूद्र सभीको है। 'शिवसर्वस्व' में कहा है—

यस्तु पूजयते लिङ्गं देवादिं मां जगत्पतिम्।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा मत्परायणः॥
तस्य प्रीतः प्रदास्यामि शुभाँल्लोकाननुत्तमान्।

स्कन्दपुराणमें है—नमोऽन्तेन शिवेनैव स्त्रीणां पूजा विधीयते।
स्त्री 'शिवाय नमः' इस मन्त्रसे ही पूजा करे।

हाँ, स्त्री-शूद्रोंके अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा कोई नया शिवलिङ्
स्थापित किया गया हो तो उसकी पूजाका अधिकार स्त्री-शूद्रको नहीं है।

भगवती शक्ति

सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वमय, समस्त-गुणाधार, निर्विकार, नित्य, निरञ्जन, सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, संहार-कर्ता, विज्ञानानन्दघन, सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं। वे एक ही अनेक भावों और अनेक रूपोंमें लीला करते हैं। हम अपने समझनेके लिये मोटे रूपसे उनके आठ रूपोंका भेद कर सकते हैं। १—नित्य, विज्ञानानन्दघन, निर्गुण, निराकार, मायारहित, एकरस ब्रह्म; २—सगुण, सनातन, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त निराकार परमात्मा; ३—सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्मा; ४—पालन-कर्ता भगवान् विष्णु; ५—संहारकर्ता भगवान् रुद्र; ६—श्रीराम, श्री-कृष्ण, श्रीदुर्गा, काली आदि साकार रूपोंमें अवतरित रूप; ७—असंख्य जीवात्मारूपसे विभिन्न जीवशरीरोंमें व्याप्त और ८—विश्व-ब्रह्माण्डरूप विराट्। ये आठों रूप एक ही परमात्माके हैं। इन्हीं समग्ररूप प्रभुको रुचिवैचित्र्यके कारण संसारमें लोग ब्रह्म, सदाशिव, महाविष्णु, ब्रह्मा, महाशक्ति, राम, कृष्ण, गणेश, सूर्य, अल्लाह, गॉड, प्रकृति आदि भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें विभिन्न प्रकारसे पूजते हैं। वे सच्चिदानन्दघन अनिर्वचनीय प्रभु एक ही हैं, लीलाभेदसे उनके नाम-रूपोंमें भेद है और इसी भेदभावके कारण उपासनामें भेद है।

यद्यपि उपासकको अपने इष्टदेवके नाम-रूपमें ही अनन्यता रखनी चाहिये तथा उसीकी पूजा शास्त्रोक्त पूजन-पद्धतिके अनुसार करनी चाहिये, परंतु इतना निरन्तर स्मरण रखना चाहिये कि शेष सभी रूप और नाम भी उसीके इष्टदेवके हैं। उसीके प्रभु इतने विभिन्न नाम-रूपोंमें समस्त विश्वके द्वारा पूजित होते हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं। तमाम जगत्में वस्तुतः एक वही फैले हुए हैं। जो विष्णुको पूजता है, वह अपने आप ही शिव, ब्रह्मा, राम, कृष्ण आदिको पूजता है और जो राम, कृष्णको पूजता है वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिको। एककी पूजामें स्वाभाविक ही सभीकी पूजा हो जाती है; क्योंकि एक ही सब बने हुए हैं। परंतु जो किसी एक रूपसे अन्य समस्त रूपोंको अलग मानकर औरोंकी अवज्ञा करके केवल अपने इष्ट एक ही रूपको अपनी ही सीमामें आबद्ध रखकर पूजता है, वह अपने परमेश्वरको छोटा बना लेता है, उनको सर्वेश्वरत्वके आसनसे नीचे उतारता है। इसलिये उसकी पूजा सर्वोपरि सर्वमय भगवान्‌की न होकर एकदेशनिवासी स्वल्प देवविशेषकी होती है और उसे वैसा ही उसका अल्प फल भी मिलता है। अतएव पूजो एक ही रूपको, परंतु शेष सब रूपोंको समझो उसी एकके वैसे ही शक्तिसम्पन्न अनेक रूप!

परिणामवाद

अनुसार वह एक महाशक्ति ही परमात्मा हैं जो विभिन्न रूपोंमें विभिन्न लीलाएँ करती हैं। परमात्माके पुरुषवाचक सभी नाम इन्हीं अनादि, अविनाशिनी, अनिर्वचनीया, सर्वशक्तिमयी, परमेश्वरी आद्या

तेके ही हैं । यही महाशक्ति अपनी मायाशक्तिको जब अपने
छिपाये रखती हैं, उससे कोई क्रिया नहीं करतीं, तब निष्क्रिय,
। कहलाती हैं । यही जब उसे विकासोन्मुख करके एकसे
होनेका संकल्प करती हैं, तब स्वयं ही पुरुषरूपसे मानो
ही प्रकृतिरूप योनिमें संकल्पद्वारा चेतनरूप बीज स्थापन
गुण, निराकार परमात्मा बन जाती हैं । इसीकी अपनी शक्ति-
शयमें वीर्यस्थापनसे होनेवाले विकारकी भाँति उस प्रकृतिमें
सात विकृतियाँ होती हैं (महत्तत्त्व—समष्टि बुद्धि, अहंकार
म पञ्चतन्मात्राएँ—मूल प्रकृतिके विकार होनेसे इन्हें विकृति
; परंतु इनसे अन्य सोलह विकारोंकी उत्पत्ति होनेके कारण
कि समुदायको विकृति भी कहते हैं) फिर अहंकारसे मन
(ज्ञान-कर्मरूप) इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्रासे पञ्चमहाभूतों-
त्ति होती है । (इसीलिये इन दोनोंके समुदायका नाम प्रकृति-
। मूल प्रकृतिके सात विकार, सत्तथा विकाररूपा प्रकृतिसे
सोलह विकार और स्वयं मूल-प्रकृति—ये कुल मिलाकर
त्त्व हैं) यों वह महाशक्ति ही अपनी प्रकृति-सहित चौबीस
रूपमें यह स्थूल संसार बन जाती हैं और जीवरूपसे स्वय
तत्त्वरूपमें प्रविष्ट होकर खेल खेलती हैं । चेतन परमात्म-
महाशक्तिके बिना जड प्रकृतिसे यह सारा कार्य कदापि सम्पन्न
सकता । इस प्रकार महाशक्ति विश्वरूप विराट् पुरुष बनती
स सृष्टिके निर्माणमें स्थूल निर्माता प्रजापतिके रूपमें आप
तारके भावसे ब्रह्मा और पालनकर्त्ताके रूपमें विष्णु और

संहारकर्त्ताके रूपमें रुद्र बन जाती हैं और ये ब्रह्मा, विष्णु, शिव-प्रभृति अंशावतार भी किसी कल्पमें दुर्गारूपसे होते हैं, किसीमें महा-विष्णुरूपसे, किसीमें महाशिवरूपसे, किसीमें श्रीरामरूपसे और किसी-में श्रीकृष्णरूपसे। एक ही शक्ति विभिन्न नाम-रूपोंमें सृष्टि-रचना करती हैं। इस विभिन्नताका कारण और रहस्य भी उन्हींको ज्ञात है। यों अनन्त ब्रह्माण्डोंमें महाशक्ति असंख्य ब्रह्मा, विष्णु, महेश बनी हुई हैं और अपनी योगमायासे अपनेको आवृतकर आप ही जीव-संज्ञाको प्राप्त हैं। ईश्वर, जीव, जगत् तीनों आप ही हैं। भोक्ता, भोग्य और भोग तीनों आप ही हैं। इन तीनोंको अपनेहीसे निर्माण करनेवाली, तीनोंमें व्याप्त रहनेवाली भी आप ही हैं।

परमात्मरूपा यह महाशक्ति स्वयं अपरिणामिनी हैं, परंतु इन्हींकी मायाशक्तिसे सारे परिणाम होते हैं। यह स्वभावसे ही सत्ता देकर अपनी मायाशक्तिको क्रीडाशीला अर्थात् क्रियाशीला बनाती हैं, इसलिये इनके शुद्ध विज्ञानानन्दघन नित्य अविनाशी एकरस परमात्मरूपमें कदापि कोई परिवर्तन न होनेपर भी इनमें परिणाम दीखता है; क्योंकि इनकी अपनी शक्ति मायाका विकसित स्वरूप नित्य क्रीडामय होनेके कारण सदा बदलता ही रहता है और वह मायाशक्ति सदा इन महाशक्तिसे अभिन्न रहती है। वह महाशक्तिकी ही स्व-शक्ति है, और शक्तिमान्‌से शक्ति कभी पृथक् नहीं हो सकती, चाहे वह पृथक् दीखे भले ही, अतएव शक्तिका परिणाम स्वयमेव ही शक्तिमान्-पर आरोपित हो जाता है, इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म या महाशक्तिमें परिणामवाद सिद्ध होता है।

मायावाद

और चूँकि संसाररूपसे व्यक्त होनेवाली यह समस्त क्रीडा महाशक्तिकी अपनी शक्ति—मायाका ही खेल है और मायाशक्ति उनसे अलग नहीं, इसलिये यह सारा उन्हींका ऐश्वर्य है। उनको छोड़कर जगत्में और कोई वस्तु ही नहीं; दृश्य, द्रष्टा और दर्शन—तीनों वह आप ही हैं, अतएव जगत्को मायिक बतलानेवाला मायावाद भी इस हिसाबसे ठीक ही है।

आभासवाद

इसी प्रकार महाशक्ति ही अपने मायारूपी दर्पणमें अपने विविध शृङ्गारों और भावोंको देखकर जीवरूपसे आप ही मोहित होती हैं। इससे आभासवाद भी सत्य है।

माया अनादि और सान्त है

परमात्मरूप महाशक्तिकी उपर्युक्त मायाशक्तिको अनादि और सान्त कहते हैं। सो उसका अनादि होना तो ठीक ही है; क्योंकि वह शक्तिमयी महाशक्तिकी अपनी शक्ति होनेसे उसीकी भाँति अनादि है, परंतु शक्तिमयी महाशक्ति तो नित्य अविनाशिनी है, फिर उसकी शक्ति माया अन्तवाली कैसे होगी? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें वह अन्तवाली नहीं है। अनादि, अनन्त, नित्य, अविनाशी परमात्मरूपा महाशक्तिकी भाँति उसकी शक्तिका भी कभी विनाश नहीं हो सकता, परंतु जिस समय वह कार्यकरणविस्ताररूप समस्त संसारसहित महाशक्तिके सनातन अव्यक्त परमात्मरूपमें लीन रहती है, क्रियाहीना रहती है, तबतकके लिये वह अदृश्य या सान्त

हो जाती है और इसीसे उसे सान्त कहते हैं। इस दृष्टिसे उसको सान्त कहना सत्य ही है।

मायाशक्ति अनिर्वचनीय है

कोई-कोई परमात्मरूपा महाशक्तिकी इस मायाशक्तिको अनिर्वचनीय कहते हैं, सो भी ठीक ही है; क्योंकि यह शक्ति उस सर्वशक्तिमती महाशक्तिकी अपनी ही तो शक्ति है। जब वह अनिर्वचनीय है, तब उसकी अपनी शक्ति अनिर्वचनीय क्यों न होगी?

मायाशक्ति और महाशक्ति

कोई-कोई कहते हैं कि इस मायाशक्तिका ही नाम महाशक्ति, प्रकृति, विद्या, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान आदि हैं, महाशक्ति पृथक् वस्तु नहीं है। सो उनका यह कथन भी एक दृष्टिसे सत्य ही है; क्योंकि मायाशक्ति परमात्मरूपा महाशक्तिकी ही शक्ति है और वही जीवोंके बाँधनेके लिये अज्ञान या अविद्यारूपसे और उनकी बन्धन-मुक्तिके लिये ज्ञान या विद्यारूपसे अपना स्वरूप प्रकट करती है, तब इनसे भिन्न कैसे रही? हाँ, जो मायाशक्तिको ही शक्ति मानते हैं और महाशक्तिका कोई अस्तित्व ही नहीं मानते वे तो मायाके अधिष्ठान ब्रह्मको ही अस्वीकार करते हैं, इसलिये वे अवश्य ही मायाके चक्करमें पड़े हुए हैं।

निर्गुण और सगुण

कोई इस परमात्मरूपा महाशक्तिको निर्गुण कहते हैं और कोई सगुण। ये दोनों बातें भी ठीक हैं, क्योंकि उस एकके ही तो

नाम हैं। जब मायाशक्ति क्रियाशील रहती है, तब उसका
न महाशक्ति सगुण कहलाती हैं। और जब वह महाशक्तिमें
हती है, तब महाशक्ति निर्गुण हैं। इन अनिर्वचनीया परमात्म-
हाशक्तिमें परस्परविरोधी गुणोंका नित्य सामञ्जस्य है। वे
समय निर्गुण हैं, उस समय भी उनमें गुणमयी मायाशक्ति
मौजूद है और जब वे सगुण कहलाती हैं उस समय भी वे
मायाशक्तिकी अधीश्वरी और सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होनेसे वस्तुतः
ही हैं। अथवा स्व-स्वरूपमय अचिन्त्य अनन्त दिव्य
त्य विभूषित होनेसे वे सगुण हैं, और ये दिव्य गुण उनके
अभिन्न होनेके कारण वही वस्तुतः निर्गुण भी हैं, तात्पर्य कि
र्गुण और सगुण दोनों लक्षण सभी समय वर्तमान हैं। जो
से उन्हें देखता है, उसको उनका वैसा ही रूप भान होता
में वे कैसी हैं, क्या हैं, इस बातको वही जानती हैं।

शक्ति और शक्तिमान्

कोई कहते हैं कि शुद्ध ब्रह्ममें मायाशक्ति नहीं रह सकती,
तो वह शुद्ध कैसे? बात समझनेकी है। शक्ति कभी
पृथक् नहीं रह सकती। यदि शक्ति नहीं है तो उसका
नाम नहीं हो सकता और शक्तिमान् न हो तो शक्ति
अतएव शक्ति सदा ही शक्तिमान्‌में रहती है। शक्ति
तो सृष्टिके समय शुद्ध ब्रह्ममें एकसे अनेक होनेका
से और कैसे होता? इसपर कोई यदि यह कहे कि 'जिस

समय संकल्प हुआ, उस समय शक्ति आ गयी, पहले नहीं थी।' 'अच्छी बात है; पर बताओ, वह शक्ति कहाँसे आ गयी? ब्रह्मके सिवा कहाँ जगह थी जहाँ वह अबतक छिपी बैठी थी? इसका क्या उत्तर है?' 'अजी, ब्रह्ममें कभी संकल्प ही नहीं हुआ, यह सब असत् कल्पनाएँ हैं, मिथ्या स्वप्नकी-सी बातें हैं।' 'अच्छी बात है, पर यह मिथ्या कल्पनाएँ किसने किस शक्तिसे कीं और मिथ्या स्वप्नको किसने किस सामर्थ्यसे देखा? और मान भी लिया जाय कि यह सब मिथ्या है तो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शुद्ध ब्रह्मका अस्तित्व जिससे है! जिससे वह अस्तित्व है वही उसकी शक्ति है। क्या जीवनीशक्ति बिना भी कोई जीवित रह सकता है? अवश्य ही ब्रह्मकी वह जीवनीशक्ति ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। वही जीवनीशक्ति अन्यान्य समस्त शक्तियोंकी जननी है, वही परमात्मरूपा महाशक्ति है। अन्यान्य सारी शक्तियाँ अव्यक्तरूपसे उन्हींमें छिपी रहती हैं—और जब वे चाहती हैं तब उनको प्रकट करके काम लेती हैं। हनूमान्‌में समुद्र लाँघनेकी शक्ति थी, पर वह अव्यक्त थी, जाम्बवान्‌के याद दिलाते ही हनूमान्‌ने उसे व्यक्त रूप दे दिया। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् परमात्मा या परमा शक्ति भी नित्य शक्तिमान् हैं; हाँ, कभी वह शक्ति उनमें अव्यक्त रहती है और कभी व्यक्त। अवश्य ही भगवान्‌की शक्तियोंको व्यक्त रूप भगवान् स्वयं ही देते हैं, वहाँ किसी जाम्बवान्‌की आवश्यकता नहीं होती। परंतु शक्ति नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीसे ऋषि-मुनियोंने इस शक्तिमान् परमात्माको महाशक्ति-के रूपमें देखा।

शक्ति और शक्तिमान्‌की अभिन्नता

इन्हीं सगुण-निर्गुणरूप भगवान् या भगवतीसे उपर्युक्त प्रकारसे कभी महादेवीरूपके द्वारा, कभी महाशिवरूपके द्वारा, कभी महाविष्णु-रूपके द्वारा, कभी श्रीकृष्णरूपके द्वारा, कभी श्रीरामरूपके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, और यही परमात्मरूपा महाशक्ति पुरुष और नारीरूपमें विविध अवतारोंमें प्रकट होती हैं। वस्तुतः यह नारी हैं न पुरुष, और दूसरी दृष्टिसे दोनों ही हैं। अपने पुरुषरूप अवतारोंमें स्वयं महाशक्ति ही लीलाके लिये उन्हींके अनुसार रूपोंमें उनकी पत्नी बन जाती हैं। ऐसे बहुत-से इतिहास मिलते हैं जिनमें महाविष्णुने लक्ष्मीसे, श्रीकृष्णने राधासे, श्रीसदाशिवने उमासे और श्रीरामने सीतासे एवं इसी प्रकार श्रीलक्ष्मी, राधा, उमा और सीताने महाविष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीसदाशिव और श्रीरामसे कहा है कि हम दोनों सर्वथा अभिन्न हैं, एकके ही दो रूप हैं, केवल लीलाके लिये एकके दो रूप बन गये हैं, वस्तुतः हम दोनोंमें कोई भी अन्तर नहीं है।

शक्तिकी महिमा

यही आदिके तीन युगल उत्पन्न करनेवाली महालक्ष्मी हैं; इन्हींकी शक्तिसे ब्रह्मादि देवता बनते हैं, जिनसे विश्वकी उत्पत्ति होती है। इन्हींकी शक्तिसे विष्णु और शिव प्रकट होकर विश्वका पालन और संहार करते हैं। दया, क्षमा, निद्रा, स्मृति, क्षुधा, तृष्णा, तृप्ति, श्रद्धा, भक्ति, धृति, मति, तुष्टि, पुष्टि, शान्ति, कान्ति, लज्जा आदि इन्हीं महाशक्तिकी शक्तियाँ हैं। यही गोलोकमें श्रीराधा, साकेतमें श्रीसीता, क्षीरोदसागरमें लक्ष्मी, दक्षकन्या सती, दुर्गतिनाशिनी

मेनकापुत्री दुर्गा हैं। यही वाणी, विद्या, सरस्वती, सावित्री और गायत्री हैं। यही सूर्यकी प्रभाशक्ति, पूर्णचन्द्रकी सुधावर्षिणी शोभाशक्ति, अग्निकी दाहिकाशक्ति, वायुकी वहनशक्ति, जलकी शीतलताशक्ति, धराकी धारणाशक्ति और शस्यकी प्रसूतिशक्ति हैं। यही तपस्वियोंका तप, ब्रह्मचारियोंका ब्रह्मतेज, गृहस्थोंकी सर्वाश्रम-आश्रयता, वानप्रस्थोंकी संयमशीलता, संन्यासियोंका त्याग, महापुरुषोंकी महत्ता और मुक्त पुरुषोंकी मुक्ति हैं। यही शूरोंका बल, दानियोंकी उदारता, माता-पिताका वात्सल्य, गुरुकी गुरुता, पुत्र और शिष्यकी गुरुजनभक्ति, साधुओंकी साधुता, चतुरोंकी चातुरी और मायावियोंकी माया हैं। यही लेखकोंकी लेखनशक्ति, वाग्मियोंकी वक्तृत्वशक्ति, न्यायी नरेशोंकी प्रजा-पालनशक्ति और प्रजाकी राजभक्ति हैं। यही सदाचारियोंकी दैवीसम्पत्ति, मुमुक्षुओंकी षट्सम्पत्ति, धनवानोंकी अर्थसम्पत्ति और विद्वानोंकी विद्या-सम्पत्ति हैं। यही ज्ञानियोंकी ज्ञानशक्ति, प्रेमियोंकी प्रेमशक्ति, वैराग्यवानोंकी विरागशक्ति और भक्तोंकी भक्तिशक्ति हैं। यही राजाओंकी राजलक्ष्मी, वणिकोंकी सौभाग्यलक्ष्मी, सज्जनोंकी शोभालक्ष्मी और श्रेयार्थियोंकी श्री हैं। यही पतिकी पत्नीप्रीति और पत्नीकी पतिव्रताशक्ति हैं। सारांश यह कि जगत्‌में तमाम जगह परमात्मरूपा महाशक्ति ही विविध शक्तियोंके रूपमें खेल रही हैं। सभी जगह स्वाभाविक ही शक्तिकी पूजा हो रही है। जहाँ शक्ति नहीं है वहीं शून्यता है। शक्तिहीनको कहीं कोई पूछ नहीं। प्रह्लाद-ध्रुव भक्तिशक्तिके कारण पूजित हैं। गोपी प्रेम-शक्तिके कारण जगत्पूज्य हैं। भीष्म-हनुमानकी ब्रह्मचर्यशक्ति; व्यास-वाल्मीकिकी कवित्वशक्ति; भीम-अर्जुनकी शौर्यशक्ति; युधिष्ठिर-हरिश्चन्द्रकी

सत्यशक्ति; शङ्कर-रामानुजकी विज्ञानशक्ति; शिवाजी-प्रतापकी वीरशक्ति; इस प्रकार जहाँ देखो वहीं शक्तिके कारण ही सबकी शोभा और पूजा है। सर्वत्र शक्तिका ही समादर और बोलबाला है। शक्तिहीन वस्तु जगत्‌में टिक ही नहीं सकती। सारा जगत् अनादिकालसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे निरन्तर केवल शक्तिकी ही उपासनामें लग रहा है और सदा लगा रहेगा।

शक्तिकी शरण

यह महाशक्ति ही सर्वकारणरूप प्रकृतिकी आधारभूता होनेसे महाकारण हैं, यही मायाधीश्वरी हैं, यही सृजन-पालन-संहारकारिणी आद्या नारायणी शक्ति हैं और यही प्रकृतिके विस्तारके समय भर्ता, भोक्ता और महेश्वर होती हैं। परा और अपरा दोनों प्रकृतियाँ इन्हींकी हैं अथवा यही दो प्रकृतियोंके रूपमें प्रकाशित होती हैं। इनमें द्वैता-द्वैत दोनोंका समावेश है। यही वैष्णवोंकी श्रीनारायण और महालक्ष्मी, श्रीराम और सीता, श्रीकृष्ण और राधा; शैवोंकी श्रीशङ्कर और उमा, गाणपत्योंकी श्रीगणेश और ऋद्धि-सिद्धि, सौरोंकी श्रीसूर्य और उषा, ब्रह्मवादियोंकी शुद्ध-ब्रह्म और ब्रह्मविद्या हैं और शाक्तोंकी महादेवी हैं। यही पञ्च महाशक्ति, दस महाविद्या, नव दुर्गा हैं। यही अन्नपूर्णा, जगद्धात्री, कात्यायनी, ललिताम्बा हैं। यही शक्तिमान् हैं, यही शक्ति हैं, यही नर हैं, यही नारी हैं, यही माता, धाता, पितामह हैं; सब कुछ यही हैं। सबको सर्वतोभावसे इन्हींके शरण जाना चाहिये।

× × × ×

जो श्रीकृष्णरूपकी उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी करते हैं। जो राम, शिव या गणेशरूपकी उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी करते हैं।

और इसी प्रकार जो श्री, लक्ष्मी, विद्या, काली, तारा, षोडशी आदि रूपोंकी उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी करते हैं। श्रीकृष्ण ही काली हैं और काली ही श्रीकृष्ण हैं। इसलिये जो जिस रूपकी उपासना करते हों, उन्हें उस उपासनाको छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य निश्चय कर लेना चाहिये कि 'मैं जिन भगवान् या भगवतीस्वरूपकी उपासना कर रहा हूँ, वही सच्चिदानन्द और सर्वरूपमय हैं; सर्वशक्तिमान् और सर्वोपरि हैं। दूसरोंके सभी इष्टदेव इन्हींके विभिन्न स्वरूप हैं।' हाँ, पूजामें भगवान्के अन्यान्य रूपोंका यदि कहीं विरोध हो या उनसे द्वेषभाव हो तो उसे जरूर निकाल देना चाहिये; साथ ही किसी तामसिक पद्धतिका अवलम्बन किया हुआ हो तो उसे भी अवश्य ही छोड़ देना चाहिये।

तामसीको नरक-प्राप्ति

तामसिक देवता, तामसिक पूजा, तामसिक आचार सभी नरकोंमें ले जानेवाले हैं; चाहे उनसे थोड़े कालके लिये सुख मिलता हुआ-सा प्रतीत भले ही हो। देवता वस्तुतः तामसिक नहीं होते, पूजक अपनी भावनाके अनुसार उन्हें तामसिक बना लेते हैं। जो देवता अल्प सीमामें आबद्ध हों, जिनको तामसिक वस्तुएँ प्रिय हों, जो मांस-मद्य आदिसे प्रसन्न होते हों, पशु-बलि चाहते हों, जिनकी पूजामें तामसिक गंदी वस्तुओंका प्रयोग आवश्यक हो, जिनके लिये पूजा करनेवालेको तामसिक आचारकी प्रयोजनीयता प्रतीत होती हो, वह देवता, उनकी पूजा और उन पूजकोंके आचार तामसी हैं और

तामसी पापाचारीको बार-बार नरकोंकी प्राप्ति होगी, इसमें कोई संदेह नहीं ।

तन्त्रके नामपर व्यभिचार और हिंसा

यद्यपि तन्त्रशास्त्र समस्त श्रेष्ठ साधनशास्त्रोंमें एक बहुत उत्तम शास्त्र है, उसमें अधिकांश बातें सर्वथा अभिनन्दनीय और साधकको परम सिद्धि—मोक्ष प्रदान करानेवाली हैं, तथापि सुन्दर बगीचेमें भी जिस प्रकार असावधानीसे कुछ जहरीले पौधे उत्पन्न हो जाया करते और फलने-फूलने भी लगते हैं, इसी प्रकार तन्त्रमें भी बहुत-सी अवाञ्छनीय गंदगी आ गयी है । यह विषयी कामान्ध मनुष्यों और मांसाहारी मद्यलोलुप अनाचारियोंकी ही काली करतूत मालूम होती है, नहीं तो, श्रीशिव और ऋषिप्रणीत मोक्षप्रदायक पवित्र तन्त्रशास्त्रमें ऐसी बातें कहाँसे और क्यों आतीं ? जिस शास्त्रमें अमुक-अमुक जातिकी स्त्रियोंका नाम ले-लेकर व्यभिचारकी आज्ञा दी गयी हो और उसे धर्म तथा साधन बताया गया हो, जिस शास्त्रमें पूजाकी पद्धतिमें बहुत ही गंदी वस्तुएँ पूजा-सामग्रीके रूपमें आवश्यक बतायी गयी हों, जिस शास्त्रके माननेवाले साधक (?) हजार स्त्रियोंके साथ व्यभिचारको और अष्टोत्तरशत नरबालकोंकी बलिको अनुष्ठानकी सिद्धिमें कारण मानते हों, वह शास्त्र तो सर्वथा अशास्त्र और शास्त्रके नामको कलंकित करनेवाला ही है । व्यभिचारकी आज्ञा देनेवाले तन्त्रोंके अवतरण लेखकने पढ़े हैं और तन्त्रके नामपर व्यभिचार और नरबलि करनेवाले मनुष्योंको घृणित गाथाएँ विश्वस्त-सूत्रसे सुनी हैं । ऐसे महान् तामसिक कार्योंको शास्त्रसम्मत मानकर भलाईकी इच्छासे इन्हें करना सर्वथा भ्रम है, भारी भूल है और ऐसी भूलमें

और इसी प्रकार जो श्री, लक्ष्मी, विद्या, काली, तारा, षोडशी आदि रू
उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी करते हैं । श्रीकृष्ण ही काली
माँ काली ही श्रीकृष्ण हैं । इसलिये जो जिस रूपकी उपासना क
हों, उन्हें उस उपासनाको छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है। ह
इतना अवश्य निश्चय कर लेना चाहिये कि 'मैं जिन भगवान्'
भगवतीस्वरूपकी उपासना कर रहा हूँ, वही सर्वदेवमय औ
सर्वरूपमय हैं; सर्वशक्तिमान् और सर्वोपरि हैं । दूसरोंके सभी इष्टदे
इन्हींके विभिन्न स्वरूप हैं ।' हाँ, पूजामें भगवान्‌के अन्यान्य रूपोंसे
यदि कहीं विरोध हो या उनसे द्वेषभाव हो तो उसे जरूर निकाल
देना चाहिये; साथ ही किसी तामसिक पद्धतिका अवलम्बन किया
हुआ हो तो उसे भी अवश्य ही छोड़ देना चाहिये ।

तामसीको नरक-प्राप्ति

तामसिक देवता, तामसिक पूजा, तामसिक आचार सभी
नरकोंमें ले जानेवाले हैं; चाहे उनसे थोड़े कालके लिये सुख मिलता
हुआ-सा प्रतीत भले ही हो । देवता वस्तुतः तामसिक नहीं होते,
पूजक अपनी भावनाके अनुसार उन्हें तामसिक बना लेते हैं । जो
देवता अल्प सीमामें आबद्ध हों, जिनको तामसिक वस्तुएँ प्रिय हों,
जो मांस-मद्य आदिसे प्रसन्न होते हों, पशु-बलि चाहते हों, जिनकी
पूजामें तामसिक गंदी वस्तुओंका प्रयोग आवश्यक हो, जिनके लिये
पूजा करनेवालेको तामसिक आचारकी प्रयोजनीयता प्रतीत होती हो,
वह देवता, उनकी पूजा और उन पूजकोंके आचार तामसी हैं और

महाशक्तिके ही है। यही महाशक्ति अपनी मायाशक्तिको जब अपने अंदर छिपाये रखती हैं, उससे कोई क्रिया नहीं करती, तब निष्क्रिय, शुद्धब्रह्म कहलाती हैं। यही जब उसे विकासोन्मुख करके एकसे अनेक होनेका संकल्प करती हैं, तब स्वयं ही पुरुषरूपसे मानो अपनी ही प्रकृतिरूप योनिमें संकल्पद्वारा चेतनरूप बीज स्थापन करके सगुण, निराकार परमात्मा बन जाती हैं। इसीसे अपनी शक्तिसे गर्भाशयमें वीर्यस्थापनसे होनेवाले विकारकी भाँति उस प्रकृतिमें क्रमशः सात विकृतियाँ होती हैं (महत्तत्त्व—समष्टि बुद्धि, अहंकार और सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ—मूल प्रकृतिके विकार होनेसे इन्हें विकृति कहते हैं; परंतु इनसे अन्य सोलह विकारोंकी उत्पत्ति होनेके कारण इन सातोंके समुदायको विकृति भी कहते हैं। फिर अहंकारसे मन और दस (ज्ञान-कर्मरूप) इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्रासे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। (इसीलिये इन दोनोंके समुदायका नाम प्रकृति-विकृति है। मूल प्रकृतिके सात विकार, समष्टि विकाररूपा प्रकृतिसे उत्पन्न सोलह विकार और स्वयं मूल-प्रकृति—ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व हैं) यों वह महाशक्ति ही अपनी प्रकृति-सहित चौबीस तत्त्वोंके रूपमें यह स्थूल संसार बन जाती हैं और जीवरूपसे स्वयं पचीसवें तत्त्वरूपसे प्रविष्ट होकर खेल खेलती हैं। चेतन परमात्म-स्वरूपिणी महाशक्तिके बिना जड़ प्रकृतिसे यह सारा कार्य कदापि सम्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार महाशक्ति विश्वरूप विराट् [illegible] बनती हैं और इस सृष्टिके निर्माणमें स्थूल नि[illegible]
[illegible]ही अंशावतारके भावमें

परमधनरूप माँकी सेवामें लग जाओ। यदि पार्थिव-धन पास हो तो उसको अपना मानकर अभिमान न करो और कुसंगतिसे पिण्ड छुड़ाकर उस धनको माताकी पूजाकी सामग्री समझकर उसे माँकी यथार्थ पूजा—उसकी दुखी संतानको सुख पहुँचानेके कार्यमें लगाकर माँके कृपा-भाजन बनो!

मान-बड़ाईमें मत फँसो

पद-प्रतिष्ठा और मान-बड़ाई तो बहुत ही हानिकर है। जो मान-बड़ाईके मोहमें फँस गया उसके धर्म, कर्म, साधना, पुरुषार्थ 'सब भाँगके भाड़ेमें' चले गये। उसने मानो परमधन परमात्म-प्रेमको विषपूर्ण स्वर्णकलशरूप मान-बड़ाईके बदलेमें खो दिया। अतएव रूप, धन, पद-प्रतिष्ठा, मान-बड़ाई आदिके लिये चिन्तित न होओ और न इनकी प्राप्ति चाहो। ये परमार्थका साधन नष्ट करनेवाले महान् दुःखदायी और नरकप्रद हैं। माँकी उपासना करके उसके बदलेमें तो इन्हें कभी माँगो ही मत। अमृतके बदले जहर पीनेके समान ऐसी मूर्खता कभी न करो। माँसे माँगो सच्चा प्रेम, माँका वात्सल्य, माँकी कृपा, माँका नित्य-आश्रय और माँकी सुखमयी गोद! माँसे माँगकर वैराग्यशक्ति ले लो और उससे विषयासक्तिरूप वैरीको मार भगाओ। याद रक्खो, वैराग्यशक्तिमें अद्भुत सामर्थ्य है। जिन विषयोंके प्रलोभनोंमें बड़े-बड़े धीर-वीर और विद्वान् पुरुष फँस जाते हैं, वैराग्यवान् पुरुष उनकी ओर ताकता भी नहीं।

सदाचार-शक्तिको बढ़ाओ

[illegible] प्रकार सदाचार-शक्ति और दैवीसम्पद्-शक्तिको बढ़ाओ। [illegible] और दैवीसम्पद्-शक्ति जितनी बढ़ी हुई होगी, वह

उतना ही अधिक परमात्मरूपा माँका प्रिय-पात्र होगा और उतना ही अधिक शीघ्र माँके दर्शनका अधिकारी होगा। स्मरण रक्खो, माँके विभिन्न रूप केवल कल्पना नहीं हैं, सत्य हैं और तुम्हें माँकी कृपासे उनके साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

भगवान्‌को बाँधनेकी डोरी

माँके दर्शनका सर्वोत्तम उपाय है—दर्शनके लिये व्याकुल होना। जैसे छोटा बच्चा जब किसी वस्तुमें न भूलकर एकमात्र माँके लिये व्याकुल होकर रोने लगता है, केवल माँ-माँ पुकारता है और किसी बातको सुनना ही नहीं चाहता तब माँ दौड़ी आती है और उसके आँसू पोंछकर उसे तुरंत अपनी गोदमें छिपाकर मुँह चूमने लगती है। इसी प्रकार वे परमात्मरूपा जगज्जननी माँ काली या माँ श्रीकृष्ण भी तुम्हारा रोना सुनकर—पुकार सुनकर तुम्हारे पास आये बिना नहीं रहेंगे, अतएव उत्कण्ठित हृदयसे व्याकुल होकर रोओ—अपने करुणक्रन्दनसे करुणामयी माँके हृदयको हिला दो—पिघला दो। राम, कृष्ण, हरि, शङ्कर, दुर्गा, काली, तारा, राधा, सीता आदि नामोंकी निर्मल और ऊँची पुकारसे आकाशको गुँजा दो। भगवती माँ तुम्हें जरूर दर्शन देंगी। करुणापूर्ण नामकीर्तन माँको बुलानेका परम साधन है। समस्त मन्त्रोंमें यह नाम-मन्त्र मन्त्रराज है और इसमें कोई विधि-निषेध नहीं है, कोई भय नहीं है। हम-सरीखे बच्चोंके लिये तो उस सच्चिदानन्दमयी भगवान्-रूपी माँको बाँध रखनेकी, बस, यही एक [illegible]

माँके उपदेशोंपर ध्यान दो

माँके उपदेशोंपर ध्यान दो। उनके सारे उपदेश तुम्हारी भलाईके लिये ही हैं। देवीभागवतमें ऐसे बहुत-से उपदेश हैं। भगवती गीता ऐसे उपदेशोंका सुन्दर संग्रह है। और न हो तो, माँके ही श्रीकृष्णरूपसे उपदिष्ट भगवद्गीताको माँके उपदेशोंका खजाना समझो—उसीको आदर्श बनाओ, पथ-दर्शक बनाओ, उसीके उज्ज्वल प्रकाशके सहारे माँका अनन्य आश्रय लिये हुए, माँके नामोंका रटन करते हुए माँको पुकारो—माँकी सेवा करो। गीताशक्तिमें भगवती-की सारी शक्ति निहित है।

श्रद्धा-शक्ति

श्रद्धा-शक्तिको बढ़ाओ, झूठे तर्क न करो। तर्कोंसे कभी भगवान्की प्राप्ति नहीं हो सकती। माता-पिताके लिये तर्क करना उनका अपमान करना है। अतएव तर्क छोड़कर माँके भक्तोंकी वाणीपर विश्वास करो और श्रद्धापूर्वक माँकी सेवामें लगे रहो। इसका यह अर्थ नहीं है कि शुद्ध बुद्धि-शक्तिका तिरस्कार करो। जो भगवान्में अविश्वास उत्पन्न कराती है वह बुद्धि ही नहीं है, बुद्धि—शुद्ध बुद्धि तो वही है जिससे परमात्माका निश्चय होता है और भजनमें मन लगता है। ऐसी शुद्ध बुद्धि शक्तिको बढ़ाओ। इस बुद्धि-शक्तिकी अधिष्ठात्री देवता सरस्वती हैं; बुद्धिके साथ ही माँकी सेवाके लिये धन भी चाहिये—अतएव न्यायपूर्वक लक्ष्मी-शक्तिका आश्रय लिये हुए धनोपार्जन भी करो, धनकी अधिष्ठात्री देवता लक्ष्मीजी हैं। और साथ ही शारीरिक [illegible] भी विकास करो, शक्तिकी अधिष्ठात्री देवी कालीजी हैं। [illegible], धन और शरीरकी रक्षा और सफलताके लिये महाशक्तिके

त्रिरूप महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकालीकी श्रद्धापूर्वक उपासना करो, परंतु इस बातको स्मरण रक्खो कि बुद्धि, धन और शरीरकी आवश्यकता भी केवल माताकी निष्काम सेवाके लिये ही है, सांसारिक—इस लोक और परलोकके सुखोपभोगके लिये कदापि नहीं ।

मानसिक शक्ति

मानसिक शक्तिको बढ़ाओ । तुम्हारी मानसिक शक्ति शुद्ध होकर बढ़ जायगी तो तुम इच्छामात्रसे जगत्‌का बड़ा उपकार कर सकोगे । शारीरिक शक्तिको बढ़ाओ, शरीर बलवान् और स्वस्थ रहेगा तो उसके द्वारा कर्म करके तुम जगत्‌की बड़ी सेवा कर सकोगे । इसी प्रकार बुद्धिको भी बढ़ाओ । शुद्ध प्रखर बुद्धिसे संसारकी सेवाएँ करनेमें बड़ी सुविधा होगी । इच्छा, क्रिया और ज्ञान, अर्थात् मानसिक शक्ति, शारीरिक शक्ति और बुद्धि-शक्ति तीनोंकी ही जगज्जननी माँकी सेवाके लिये आवश्यकता है । और माँसे ही यह तीनों मिल सकती हैं, परंतु इनका उपयोग केवल माँकी सेवाके लिये ही होना चाहिये । कहीं दुरुपयोग हुआ, कहीं भोग और पर-पीड़ाके लिये इनका प्रयोग किया गया तो सब शक्तियोंके मूलस्रोत महाशक्तिकी ईश्वरी-शक्ति इन सारी शक्तियोंको तुरंत हरण कर लेगी ।

ईश्वरीय शक्तिकी प्रबलता

पशुबल, मानवबल, असुरबल और देवबल—ये चारों ही बल ईश्वरीय बल या शक्तिके सामने नहीं ठहर सकते । महिषासुरमें विशाल पशुबल था, कौरवोंमें मानवशक्तिकी प्रचुरता थी, रावणादिमें असुरबल अपार था और इन्द्रादि देवता देवबलसे सदा बलीयान् रहते हैं ।

परंतु ईश्वरीय शक्तिने चारोंको परास्त कर दिया। महिषासुरका साक्षा ईश्वरीने वध किया, कौरवोंको भगवान् श्रीकृष्णके आश्रित पाण्डवों नष्ट कर दिया, रावणका भगवान् श्रीरामने स्वयं संहार किया औ भगवान् श्रीकृष्णके तेजके सामने इन्द्रको हार माननी पड़ी। इ चारोंमें पशुबल और असुरबल तो सर्वथा त्याज्य हैं। मनुष्यबल औ देवबल ईश्वराश्रित होनेपर मान्य हैं। पर यथार्थ बल तो परमात्मबल है वह बल समस्त जीवोंमें छिपा हुआ है। आत्मा परमात्माका सनातन अंश है। उस आत्माको जाग्रत् करो, आत्मबलका उद्बोधन करो, अपनेको जडशरीर मत समझो, चेतन विपुल शक्तिमान् आत्मा समझो। याद रक्खो, तुममें अपार शक्ति है। तुम्हारा अणु-अणु शक्तिसे भरा है। पुरुषार्थ करके उस शक्तिके भंडारका द्वार खोल लो। अपनेको हीन, पापी समझकर निराश मत होओ। शक्तिमाताकी अपार शक्ति तुममें निहित है। उस शक्तिको जगाओ, शक्तिकी उपासना करो, शक्तिका समादर करो, शक्तिको क्रियाशील बनाओ। फिर शक्तिकी कृपासे तुम जो चाहो कर सकते हो।

नर-नारी सभी भगवान्के रूप हैं

तुम नर हो या नारी हो,—भगवान् या भगवतीके रूप हो। नारी नरका अपमान न करे और नर नारीका कभी न करे। दोनों-को शुद्ध प्रेमभावसे एक-दूसरेकी यथार्थ उन्नति और सुखसाधनामें लगे रहना चाहिये। इसीमें दोनोंका कल्याण है। जगत्की सारी नारियोंमें देवी भगवतीकी भावना करो। समस्त स्त्रियोंको माँकी साक्षात् मूर्ति समझकर उनका आदर करो, उन्हें सुख पहुँचाओ,

उन्हें भोग्य पदार्थ न समझकर माँ दुर्गा समझो । किसी भी नारीको कभी मत सताओ । शास्त्रोंमें कुमारी-पूजाका बड़ा माहात्म्य लिखा है। लड़कीको लड़केके समान ही बड़े आदरसे पालो, घरमें उसका भी स्वत्व समझो, उसे कभी दुत्कारो मत, उसका अपमान न करो ।

माँ दुर्गाका अपमान

विलाससामग्रीका सब्जबाग दिखलाकर नारीको विलासमयी बनाना, भोगकी ओर प्रवृत्त करना और पवित्र सती-धर्मसे च्युत करना भी उसका अपमान ही है । नारीका अपमान माँ दुर्गाका अपमान है । इससे सदा सावधान रहो ।

विधवा नारीकी पूजा

विधवा नारीको तो साक्षात् दुर्गा समझकर उसका सम्मान करो । आदरपूर्वक हृदयसे उसकी पूजा करो; वह त्यागकी मूर्ति है। उसे विषयका प्रलोभन कभी मत दो, उसे ब्रह्मचर्यसे डिगाओ मत, सताओ मत, दुखी मत करो; माँ विधवाके शापसे तुम्हारा सर्वनाश और उसके आशीर्वादसे तुम्हारा परम कल्याण हो सकता है ।

नारी-शक्तिसे निवेदन

नारीजातिको विलासमें मत लगाओ, इससे नारी-शक्तिका ह्रास होगा, नारी-शक्ति उद्बोधन करो । हे नारीशक्ति! हे माँ! हे देवी! तुम भी सजग रहो, विलासी पुरुषोंके वाग्जालमें मत फँसो। संयम और त्यागके अपने परम पवित्र अति सुन्दर देव-पूज्य स्वरूपको कभी न छोड़ो! इन्द्र तुमसे काँपते थे, सूर्य तुम्हारी जबानपर रुक जाते थे, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तुम्हारे सामने शिशु होकर खेलते थे, रावण-से दुर्वृत्त

राक्षस तुमसे थर्राते थे। तुम साक्षात् भगवती हो। संयम और त्यागको भूलकर भी न छोड़ो। पुरुषोंके मिथ्या प्रलोभनोंमें मत फँसो। उनको सावधान कर दो। आज विवाह और कल सम्बन्धत्याग, इस पातकी आदर्शको कभी न अपनाओ। तुम्हें जो ऐसा करनेको कहते हैं वे तुम्हारा अपमान करते हैं। जीवनकी अखण्ड पवित्रताको दृढ़तापूर्वक सुरक्षित रक्खो। संसारके मिथ्या सुखोंमें कभी न भूलो। अपनी शक्तिको प्रकट करो। त्याग, प्रेम, शौर्य और वात्सल्यकी सबको शिक्षा दो। जो तुम्हारी भक्ति करे, तुम्हें देवीके रूपमें देखे, उसके लिये लक्ष्मी और सरस्वती बनकर उसका पालन करो। और जो दुष्ट तुम्हारी ओर बुरी नजर करे, उसके लिये साक्षात् रणरङ्गिणी काली और चण्डिकास्वरूप प्रकाश करो, जिससे तुम्हें देखते ही वह डर जाय—उसके होश ठिकाने आ जायँ।

माँ सबका कल्याण करें

शक्ति ही जीवन है, शक्ति ही धर्म है, शक्ति ही गति है, शक्ति ही आश्रय है, शक्ति ही सर्वस्व है, यह समझकर परमात्मरूपा महाशक्तिका अनन्यरूपसे आश्रय ग्रहण करो। परंतु किसी भी दूसरेकी इष्टशक्तिका अपमान कभी न करो। गरीब दुखी प्राणियोंकी अपनी शक्तिभर तन-मन-धनसे सेवा कर महाशक्तिकी प्रसन्नता प्राप्त करो। पापाचार, अनाचार, व्यभिचार, लौकिक पंचमकार आदिको सर्वथा त्यागकर सात्त्विक विशुद्ध निष्काम भक्ति करो। इसीमें अपना कल्याण समझो। मेरी माँ दुर्गा सबका कल्याण करें।

मृत्युञ्जययोग

जिस प्रकार महाभारतमें अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश किया था, उसी प्रकार श्रीद्वारकापुरीमें उद्धवजीको भी उपदेश प्रदान किया। उक्त उपदेशमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि अनेक विषयोंकी भगवान्ने बड़ी ही विशद व्याख्या की है। अन्तमें योगका उपदेश हो जानेके बाद उद्धवने भगवान्से कहा—'प्रभो! मेरी समझसे आपकी यह योगचर्या साधारण लोगोंके लिये दुःसाध्य है, अतएव आप कृपापूर्वक कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे सब लोग सहज ही सफल हो सकें।' तब भगवान्ने उद्धवको भागवतधर्म बतलाया और उसकी प्रशंसामें कहा—'अब मैं तुम्हें मङ्गलमय धर्म बतलाता हूँ, जिसका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य दुर्जय मृत्युको जीत लेता है।' यानी जन्म-मरणके चक्रसे सदाके लिये छूटकर भगवान्को पा जाता है। इसीलिये इसका नाम 'मृत्युञ्जययोग' है। भगवान्ने कहा—

मनके द्वारा निरन्तर मेरा विचार और चित्तके द्वारा निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे आत्मा और मनका मेरे ही धर्ममें अनुराग हो जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि शनैः-शनैः मेरा स्मरण बढ़ाता हुआ ही सब कर्मोंको मेरे लिये ही करे। जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों, उन पवित्र स्थानोंमें रहे और देवता, असुर तथा मनुष्योंमेंसे जो मेरे अनन्य भक्त हो चुके हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करे। अलग या सबके साथ मिलकर प्रचलित पर्व, यात्रा आदिमें महोत्सव करे। यथाशक्ति ठाट-बाटसे गान, वाद्य, कीर्तन आदि करे-कराये। निर्मल-चित्त होकर सब प्राणियोंमें और अपने-आपमें बाहर-भीतर सब जगह आकाशके समान सर्वत्र मुझ परमात्माको व्याप्त देखे। इस प्रकार ज्ञानदृष्टिसे जो सब प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सबका सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण भक्त, सूर्य और चिनगारी, दयालु और क्रूर—सबमें समान दृष्टि रखता है वही मेरे मनसे पण्डित है। बारंबार बहुत दिनोंतक सब प्राणियोंमें मेरी भावना करनेसे मनुष्यके चित्तसे स्पर्धा, असूया, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपनी दिल्लगी उड़ानेवाले घरके लोगोंको, 'मैं उत्तम हूँ, यह नीच है'—इस प्रकारकी देहदृष्टिको और लोकलाजको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेतकको पृथ्वीपर गिरकर भगवद्भावसे साष्टाङ्ग प्रणाम करे।

जबतक सब प्राणियोंमें मेरा स्वरूप न दीखे, तबतक उक्त प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके व्यवहारोंद्वारा मेरी उपासना करता

रहे। इस तरह सर्वत्र परमात्मबुद्धि करनेसे उसे सब कुछ ब्रह्ममय दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर जब समस्त संशयोंका सर्वथा नाश हो जाय, तब उसे कर्मोंसे उपराम हो जाना चाहिये। अथवा वह उपराम हो जाता है। उद्धव! मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे और चेष्टाओंसे सब प्राणियोंमें मुझको देखना ही मेरे मतमें सब प्रकारकी मेरी प्राप्तिके साधनोंमें सर्वोत्तम साधन है। उद्धव! एक बार निश्चयपूर्वक आरम्भ करनेके बाद फिर मेरा यह निष्काम धर्म किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे अणुमात्र भी ध्वंस नहीं होता; क्योंकि निर्गुण होनेके कारण मैंने ही इसको पूर्णरूपसे निश्चित किया है। हे संत! भय, शोक आदि कारणोंसे भागने, चिल्लाने आदि व्यर्थके प्रयासोंको भी यदि निष्काम बुद्धिसे मुझ परमात्माके अर्पण कर दे तो वह भी परम धर्म हो जाता है। इस असत् और विनाशी मनुष्यशरीरके द्वारा इसी जन्ममें मुझ सत्य और अमर परमात्माको प्राप्त कर लेनेमें ही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमानी और चतुरोंकी चतुराई है।

> एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
> यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥
> (श्रीमद्भा० ११। २९। २२)

अतएव जो मनुष्य भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कोई यत्न न करके केवल विषयभोगोंमें ही लगे हुए हैं, वे श्रीभगवान्‌के मतमें न तो बुद्धिमान् हैं और न [illegible]

युगल सरकारकी उपासना और ध्यान

पद्मखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः ।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम् ॥

एक सज्जनने बहुतसे प्रश्न लिख भेजे हैं और बड़े आग्रहके साथ अपने प्रश्नोंके उत्तर देनेकी आज्ञा की है । उनके आज्ञानुसार प्रश्नोंको सिलसिलेवार जँचाकर उनका उत्तर लिखनेका प्रयत्न किया जाता है । उत्तरमें जो कुछ लिखा जायगा, उसका आधार शास्त्र और संतवाक्य हैं । उत्तर यथार्थ ही होगा इस बातका कोई दावा नहीं है । हाँ, इस बहाने भगवत्सम्बन्धी विचारोंमें कुछ समय लगेगा यही सोचकर उत्तर लिखनेका प्रयास किया जाता है ।

भगवान्‌का रूप

प्रश्न—भगवान्‌के अनेक रूप बतलाये जाते हैं, उनमें क्या कोई न्यूनाधिकता है, है तो क्यों और कैसी ? साधकको किस रूपकी उपासना करनी चाहिये ?

उत्तर—एक ही भगवान् अनेक नाम-रूपोंमें पूजित होते हैं, इसलिये उनमें न्यूनाधिकताकी या छोटे-बड़ेकी किसी कल्पनाको कोई स्थान नहीं है। ब्रह्म, शिव, विष्णु, नारायण, राम, कृष्ण, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि सब उन्हीं एक भगवान्‌के दिव्य नाम-रूप हैं। लीलाकी दृष्टिसे न्यूनाधिकताकी कल्पना हो सकती है, जैसे एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न समय, भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगा हुआ भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जा सकता है, जैसे एक ही मनुष्य लौकिक सम्बन्धके कारण किसीका पिता, किसीका पति, किसीका पुत्र, किसीका मित्र, किसीका गुरु, किसीका शिष्य कहलाता है, और इस प्रकार उसमें छोटे-बड़ेकी कल्पना होती है, ऐसे ही लीलामय भगवान् भी विभिन्न लीलाओंके कारण विभिन्न रूपोंमें अपनेको प्रकट करते हैं और लीलाको न समझनेवाले व्यक्ति मोहसे, और लीलाके सङ्गी भगवान्‌के अनुचरगण लीलासे उनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना करते हैं। वास्तवमें भगवान् एक हैं और वे सब समय सब लीलाओंमें सब ओरसे पूर्णतम हैं, इसलिये जो साधक जिस रूपकी उपासना करता है, उसे उसी रूपकी उपासना करनी चाहिये और यह मानना चाहिये कि हमारे ही उपास्यदेव समस्त ब्रह्माण्डोंमें भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें पूजित होते हैं। शिवका उपासक

यह समझे कि हमारे भोलानाथ शिव ही राम, कृष्ण आदिके रूपमें प्रकट हैं और राम, कृष्णके उपासक यह मानें कि हमारे राम या कृष्ण ही शिव, शक्ति आदिके रूपमें लोगोंके द्वारा पूजित होते हैं। इस प्रकार किसी भी रूपकी उपासनाका विरोध न करके अपने उपास्य इष्टकी उपासना अनन्यभावसे करनी चाहिये। और उसीको सर्वेश्वर, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वतश्चक्षु, सच्चिदानन्दघन एकमात्र प्रभु मानना चाहिये।

निराकार और साकारके उपासककी गति

प्रश्न—क्या निराकार और साकारके उपासक दोनों एक ही गतिको प्राप्त होते हैं?

उत्तर—अवश्य ही तत्त्वतः परमात्मा एक होनेसे एक ही गतिको प्राप्त होते हैं। लीलाकी दृष्टिसे लीला-जगत्में अन्तर माना जाता है और यह रहता भी है, परंतु तत्त्वदृष्टिसे वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है।

शक्तिसहित उपासना

प्रश्न—कुछ लोग कहते हैं कि भगवान्‌की उपासना उनकी शक्तिसहित करनी चाहिये और कुछ लोग कहते हैं कि अकेले भगवान्‌की ही उपासना करनी चाहिये। इन दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है?

उत्तर—भगवान् और भगवान्‌की शक्ति दो अलग-अलग वस्तु नहीं हैं। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति एक ही वस्तु है, इसी प्रकार भगवान् और उनकी शक्ति है। दाहिका शक्ति है इसीलिये वह अग्नि है, नहीं तो उसका पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहता, और अग्नि न हो तो दाहिका शक्तिका कोई आधार नहीं रहता। अतएव दोनों

मिलकर ही एक अग्नि बना है या अग्निके ही ये दो नाम हैं, इसी प्रकार भगवान् और भगवान्की शक्ति सर्वथा अभिन्न है, इनमें भेद मानना ही पाप है। इस दृष्टिसे जो भगवान्की उपासना करता है वह उनकी शक्तिकी उपासना करता ही है और जो शक्तिका उपासक है, वह भगवान्की उपासना करनेको बाध्य है, अतएव एककी उपासनामें ही दोनोंकी उपासना आप ही हो जाती है, परंतु उपासक यदि चाहें तो विग्रहके रूपमें दोनोंकी अलग-अलग मूर्तियोंमें भी उपासना कर सकते हैं। इतना याद रखना चाहिये कि लक्ष्मी-नारायण, गौरी-शंकर, राधा-कृष्ण, सीता-राम आदि सब एक ही हैं, इनमें अपनी-अपनी रुचि और भावनाके अनुसार किसी भी युगल रूपकी उपासना हो सकती है। यहाँ इतना जरूर कह देना चाहिये कि युगल रूपकी उपासना विशेष अधिकारीको ही करनी चाहिये। नहीं तो, उसमें अनर्थ होनेका डर है। जगज्जननी लक्ष्मी, उमा, राधा या सीताके स्वरूपमें कहीं पापभावना हो गयी तो सारी उपासना नष्ट होकर उल्टा विपरीत फल हो सकता है, और जो लोग वैराग्यवान् नहीं हैं, उनके द्वारा स्त्रीरूपकी उपासनामें मनमें विकार होनेका डर है ही; क्योंकि ऐसे लोग भगवान्की दिव्य स्वरूपाशक्तिके तत्त्वको न जानकर अपने अज्ञानसे इन्हें प्राकृत स्त्री ही समझ लेते हैं और प्राकृत स्त्रीरूपका आरोप करके विषयासक्तिके कारण विकारके वश हो जाते हैं। भगवान्की रासलीला देखनेवाले एक मनुष्यने तथा श्रीराधाजीका ध्यान करनेवाले एक दूसरे मित्रने अपनी ऐसी दुर्घटनाएँ सुनायी थीं, इससे यह पता चलता है कि दिव्य अनन्तसौन्दर्यसुधामयी इन स्वरूपा-

शक्तियोंके साथ भगवान्‌की उपासना करनेवाले सच्चे अधिकारी विरले ही होते हैं। अतएव साधारण श्रेणीके साधकोंको भगवान्‌की अकेले ही पुरुषरूपमें उपासना करनी चाहिये।

प्रश्न—श्रीराधा, सीता, उमा आदि भगवान्‌की स्वरूपाशक्तियोंकी उपासनाके अधिकारीमें कौन-कौन-सी बातें होनी चाहिये?

उत्तर—सबसे पहली बात तो यही है कि उसे कामविजयी होना चाहिये। कामी पुरुष दिव्य स्वरूपाशक्तियोंकी उपासनाका अधिकारी कदापि नहीं है। इसके सिवा अन्यान्य आवश्यक बातें दूसरे प्रश्नोंके उत्तरमें आगे आ सकती हैं।

प्रश्न—मैं यह तो नहीं कहता कि मुझे वैराग्य प्राप्त है, परंतु इतना अवश्य है कि भगवत्कृपासे विषयोंकी ओर मेरा चित्त बहुत कम जाता है। मैं समझता हूँ कि भगवान् ही मेरी रक्षा करते हैं, मुझे श्रीराधा-कृष्णका स्वरूप अत्यन्त प्रिय है। मैं यत्किञ्चित् इन युगल सरकारकी उपासना करता हूँ और इसीमें अपना जीवन बिता देना चाहता हूँ। कृपया बतलाइये किन साधनोंसे और किस भावसे उपासना करनेपर मैं पूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीराधा-कृष्णके दर्शन और उनके दुर्लभ प्रेमको प्राप्त कर सकता हूँ। मैंने सुना है इस उपासनामें द्वादश सिद्धि, पञ्चप्रकार पूजा, न्यास, प्रपत्ति, शरणागति, आत्मसमर्पण आदि विभिन्न साधनोंकी आवश्यकता होती है, इन साधनोंके रूप भी बतलाइये।

उत्तर—आपका चित्त भगवत्कृपासे विषयोंकी ओर बहुत कम जाता है, यह बड़े ही आनन्दका विषय है। भगवान्‌की कृपाके

बलसे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। भगवत्कृपाकी शक्ति अनन्त है, परंतु सदा सावधान रहना चाहिये। कहीं भगवत्कृपाके आश्रयकी विस्मृति न हो जाय, अभिमान न पैदा हो जाय। विषयोंमें बहुत बड़ा प्रलोभन होता है। कई बार तो ऐसा धोखा हो जाता है कि मनुष्य भगवान्के नामपर विषयोंका सेवन करता रहता है। शृङ्गार, भोग, उत्सव, कीर्तन आदिकी शोभा और महत्ता इसीलिये भक्तके मनमें होनी चाहिये कि वे भगवान्से सम्बन्ध रखते हैं। भगवान्से ही शृङ्गारकी शोभा है, भगवान्का प्रसाद होनेसे ही भोगमें परम स्वाद है, भगवान्की स्मृति करानेवाला होनेके कारण ही उत्सव कर्तव्य है और भगवान्का नाम-गुणगान होनेके कारण ही कीर्तन भक्तका परम आदरणीय साधन है। यदि भगवान्को भुलाकर केवल शृङ्गारकी शोभामें, अन्नके स्वादमें, उत्सवकी चहल-पहलमें और संगीतकी ध्वनिमें ही आकर्षण है तो वह विषयसेवन ही है। अवश्य ही भगवान्से सम्पर्क हो जानेके कारण किसी अंशमें वह भी है शुभ ही। भगवान् श्रीराधा-कृष्णके दिव्य स्वरूपको समझकर ही उनकी उपासना करनी चाहिये, उन्हें विषयलोलुप इन्द्रियासक्त भोग-कामी आशिक-माशूकोंकी तरह मानकर ही नहीं। ऐसा न होगा तो पतन ही होगा। भगवान् श्रीराधाकृष्णके स्वरूपका किंचित् दिग्दर्शन आगे चलकर आपके दूसरे प्रश्नके उत्तरमें कराया जायगा। इसके पहले आप द्वादश शुद्धि, पञ्चप्रकार पूजा, न्यास, प्रपत्ति, शरणागति और आत्मसमर्पणको संक्षेपमें समझ लें और दूसरे मुख्य साधनों तथा भावोंको भी कुछ जान लें।

द्वादश शुद्धि

द्वादश शुद्धि दो प्रकारकी है। जिनमें एक प्रकार है—चार मनकी, चार वाणीकी और चार शरीरकी। १—विशुद्ध और अनन्य प्रेम, २—श्रद्धापूर्वक भगवच्चिन्तन, ३—चित्तकी प्रसन्नता और ४—प्राणिमात्रकी हितकामना—ये चार मनकी शुद्धि हैं। १—भगवन्नाम-गुणका कीर्तन करना, २—सत्य बोलना, ३—हितकर बात कहना और ४—मीठे शब्दोंमें बोलना—ये चार वाणीकी शुद्धि हैं। एवं १—दूसरोंकी सेवा करना, २—हाथोंसे सात्त्विक दान करना, ३—शरीरके आरामको छोड़कर तप करना और ४—ब्रह्मचर्यका पालन करना—ये शरीरकी शुद्धि हैं। यों त्रिविध बारह प्रकारकी शुद्धि है।

द्वादश शुद्धिका दूसरा प्रकार है—

गृहोपलेपनं चैव तथानुगमनं हरेः।
भक्त्या प्रदक्षिणं चैव पादयोः शोधनं पुनः॥
पूजार्थं पत्रपुष्पाणां भक्त्यैवोच्चयनं हरेः।
करयोः सर्वशुद्धीनामियं शुद्धिर्विशिष्यते॥
तन्नामकीर्तनं चैव गुणानामपि कीर्तनम्।
भक्त्या श्रीकृष्णदेवस्य वचसः शुद्धिरिष्यते॥
तत्कथाश्रवणं चैव तस्योत्सवनिरीक्षणम्।
श्रोत्रयोर्नेत्रयोश्चैव शुद्धिः सम्यगिहोच्यते॥
पादोदकं च निर्माल्यमालानामपि धारणम्।
उच्यते शिरसः शुद्धिः प्रणतस्य हरेः पुरः॥

आघ्राणं तस्य पुष्पादेर्निर्माल्यस्य तथा प्रिये।
विशुद्धिः स्यादन्तरस्य प्राणस्यापि विधीयते॥
पत्रपुष्पादिकं यच्च कृष्णपादयुगार्पितम्।
तदेकं पावनं लोके तद्धि सर्वं विशोधयेत्॥

भगवान् श्रीहरिके मन्दिरमे जाकर उसके आँगन लीपनसे, मूर्तिके पीछे-पीछे चलनेसे और भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा करनेसे दोनों चरणोंकी शुद्धि होती है। भक्तिसहित भगवान्‌की पूजाके लिये पुष्पादिका चयन करनेसे दोनों हाथ शुद्ध होते हैं, सब शुद्धियोंमें यह शुद्धि विशेष है। भक्तिपूर्वक परमदेव श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका कीर्तन करनेसे वाणीकी शुद्धि होती है। श्रीहरिकी कथा सुननेसे कानोंकी और उनके उत्सव देखनेसे नेत्रोंकी भलीभाँति शुद्धि होती है। सिर झुकाकर भगवान्‌का चरणोदक लेनेसे और उनकी निर्माल्य माला धारण करनेसे मस्तककी शुद्धि होती है। भगवान्‌के निर्माल्य पुष्पादिके सूँघनेसे ही अन्तःकरण और प्राणोंकी शुद्धि होती है। सारांश यह कि श्रीकृष्णके चरणयुगलपर चढ़ी हुई पत्रपुष्पादि कोई भी वस्तु सबको पवित्र करनेवाली होती है। यह द्वादश शुद्धिका दूसरा प्रकार है। दोनों ही प्रकारोंसे शुद्ध होना आवश्यक है।

पञ्चप्रकार पूजा

पञ्चप्रकार पूजाके भी दो प्रकार हैं—

प्रथम यह है—

मनसे भगवान्‌का चिन्तन करना, वाणीसे भगवान्‌के गुण गाना, हाथोंसे भगवान्‌की पूजा करना, मस्तकसे भगवान्‌को प्रणाम करना और अपना सर्वस्व भगवान्‌के निवेदन कर देना।

दूसरा प्रकार यह है—

इसमें अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या—ये पाँच प्रकार माने गये हैं—

नत्राभिगमनं नाम देवतास्थानमार्जनम् ।
उपलेपं च निर्माल्यदूरीकरणमेव च ॥
उपादानं नामगन्धपुष्पादिचयनं तथा ।
योगो नाम स्वदेवस्य स्वात्मनैवात्मभावना ॥
स्वाध्यायो नाममन्त्रार्थसन्धानपूर्वको जपः ।
सूक्तस्तोत्रादिपाठश्च हरेः संकीर्तनं तथा ॥
तत्त्वादिशास्त्राभ्यासश्च स्वाध्यायः परिकीर्तितः ।
इज्या नाम स्वदेवस्य पूजनं च यथार्थतः ॥

अपने इष्टदेवके स्थान साफ करने और उसे लीपने और इष्टविग्रहके निर्माल्य उतारनेका नाम अभिगमन है । गन्ध-पुष्पादिके चयनका नाम उपादान और इष्टदेवके साथ अपने आत्माको एक कर देनेकी भावनाका नाम योग है । मन्त्रके अर्थका ध्यान करते हुए जप करने, सूक्त-स्तोत्रादिके पाठ, हरिनामसंकीर्तन और तत्त्वनिरूपण करनेवाले शास्त्रोंके अभ्यासको स्वाध्याय कहते हैं, एवं अपने इष्टदेवकी यथार्थ रूपसे पूजा करना ही इज्या है ।

न्यास

भगवान्‌के चरणकमल ही मेरे एकमात्र जीवनाधार, रक्षक, स्वामी और सहायक हैं । ऐसा दृढ़ विश्वास करके अन्य सब आश्रयोंके ... ो न्यास कहते हैं ।

प्रपत्ति

मैं एकमात्र भगवान्‌के श्रीचरणोंका ही गुलाम हूँ। श्रीचरणोंकी कृपासे जो कुछ हो रहा है और होगा उसीमें मेरा परम कल्याण है। श्रीचरण ही मेरे एकमात्र अवलम्बन हैं। दृढ़ श्रद्धाके साथ किये हुए ऐसे निश्चित संकल्पका नाम प्रपत्ति है।

शरणागति

'अपना भला किस बातमें है, इस बातको न जाननेवाला मैं दुःखपीड़ित अज्ञानी जीव आपके (प्रभुके) श्रीचरणोंके शरण हूँ, आपके चरणोंकी शरणमें ही मेरा परम कल्याण है। मैं कहीं भी, किसी भी दशामें रहूँ, सदा आपके श्रीचरणोंकी शरण मुझे प्राप्त रहे।' इस निश्चयके साथ भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें आनन्द मानना, भगवान्‌के परममङ्गलमय नामका चिन्तन निरन्तर करते रहना, भगवान्‌की रुचिके अनुकूल आचरण करना और भगवान्‌के भरोसेपर अपनेको छोड़कर उनसे किसी भी अवस्थामें कुछ भी न माँगना, भगवान्‌को परम पिता, परम पति, परम गति, परम धाम, परम सुहृद् मानकर उनके चरणोंपर सदाके लिये टूट पड़ना शरणागति है।

आत्मसमर्पण

मैं भगवान्‌का हूँ, मेरा सब कुछ भगवान्‌का है, मेरा 'मैं' भी मेरा नहीं, उन्हींका है, इस अपनी वस्तुको वे चाहे जैसे उपयोगमें लावें, चाहे जैसे भोगें, चाहे सो करें;—इस भावसे अपनेको भगवच्चरणोंमें निवेदन कर देना आत्मसमर्पण कहलाता है।

वस्तुतः न्यास, प्रपत्ति, शरणागति और आत्मसमर्पण एक ही साधनकी उत्तरोत्तर विकसित स्थिति है। पूर्ण आत्मसमर्पण तो मनुष्य

कर नहीं सकता। इसकी तो वह तैयारी मात्र करता है। फिर भगवान् उसे स्वयं उसी प्रकार खींच लेते हैं, जैसे निर्लिप्त लोहेको चुम्बक खींच लेता है।

प्रश्न—'न्यास' शब्दसे क्या अङ्गन्यास और करन्यास नहीं लिया जा सकता है?

उत्तर—क्यों नहीं? तन्त्रमें तो अङ्गन्यास और करन्यासके बिना काम ही नहीं चलता। हाँ, भक्ति-साधनामें न्यासका अर्थ अङ्गन्यास करन्यास नहीं किया जाता। अङ्गन्यास-करन्यासके सम्बन्धमें मन्त्र-सम्बन्धी प्रश्नके उत्तरमें कुछ कहा जायगा। अब युगल सरकार श्री-राधाकृष्णके दर्शन और उनके दुर्लभ प्रेमकी प्राप्तिके कुछ मुख्य साधनों और भावोंके सम्बन्धमें कुछ देखना है।

मुख्य साधन और भाव

दम्भ, द्रोह, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ और विषयासक्तिके त्यागसे ही इस प्रेममार्गकी साधना आरम्भ होती है। जिन पुरुषोंमें दम्भादि छः दोष हैं और जो विषयोंमें आसक्त हैं अर्थात् जिनका मन सुन्दर रूप, बढ़िया स्वादिष्ट पदार्थ, मनोहर गन्ध, कोमल स्पर्श और सुरीले गायनपर रीझा रहता है, वे इस मार्गपर नहीं चल सकते। त्यागी-विरागी महाजन ही इस प्रेमपन्थके पथिक हो सकते हैं; क्योंकि इस उपासनामें दिव्य प्रेमराज्यमें प्रवेश करना पड़ता है और वहाँ बिना गोपी-भावको प्राप्त किये किसीका प्रवेश हो नहीं सकता। एवं गोपी-भावकी प्राप्ति विषयासक्त पुरुषको कदापि होना सम्भव नहीं। जो विषय-लोलुप भी हैं और अपनेको श्रीराधाकृष्णके प्रेमी बतलाते

हैं, वे या तो स्वयं धोखेमें हैं अथवा जान या अनजानमें जगत्‌को धोखा देना चाहते हैं । उपर्युक्त छः दोषोंसे बचकर और विषयासक्तिको त्यागकर निम्नलिखित रूपमें मुख्य साधना करनी चाहिये ।

१–अपनेको श्रीराधिकाजीकी अनुचरियोंमें एक तुच्छ अनुचरी मानना ।

२–श्रीराधाजीकी सेविकाओंकी सेवामें ही अपना परम कल्याण समझना ।

३–सदा यही भावना करते रहना कि मैं भगवान्‌की प्रियतमा श्रीराधिकाजीकी दासियोंकी दासी बना रहूँ और श्रीराधाकृष्णके मिलन-साधनके लिये विशेष रूपसे यत्न कर सकूँ ।

यह बहुत ही रहस्यका विषय है । इसलिये इस विषयपर विशेषरूपसे लिखना अनुचित है । हरेकको इस ओर आकर्षित नहीं होना चाहिये । इस मार्गपर पैर रखना आगपर खेलना है । जो बिना इसका रहस्य समझे इस पथमें प्रवेश करना चाहता है वह पतित हो जाता है । जिसके हृदयमें तनिक-सा काम-विकार हो, उसे इस मार्गसे डरकर सदा अलग ही रहना चाहिये । अवश्य ही जो अधिकारी साधक हैं, उन्हें इस मार्गमें जो अतुल दिव्य आनन्द है, उसकी प्राप्ति होती है । श्रीराधिकाजीकी सेविकाओंकी सेवामें सफल होनेपर स्वयं श्रीराधिकाजीकी सेवाका अधिकार मिलता है, और श्रीराधिका-जीकी सेवा ही युगलस्वरूपकी कृपा प्राप्त करनेका प्रधान उपाय है । जो ऐसा नहीं कर सकते उन्हें युगलस्वरूपकी प्राप्ति बहुत ही कठिन है । भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं देवदेव शङ्करसे कहा है—

> यो मामेव प्रपन्नश्च मत्प्रियां न महेश्वर।
> न कदापि स चाप्नोति मामेवं ते मयोदितम्॥
> तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।
> आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि॥
> इदं रहस्यं परमं मया ते परिकीर्तितम्।
> त्वयाप्येतन्महादेव गोपनीयं प्रयत्नतः॥

हे महेश्वर ! (युगल स्वरूपकी कृपा चाहनेवाला) जो पुरुष मेरी शरण होता है परंतु मेरी प्रिया श्रीराधिकाजीकी शरण नहीं होता, वह मुझको (युगल स्वरूपमें) वस्तुतः नहीं प्राप्त होता, यह मैं आपसे सत्य कहता हूँ। अतएव पूरे प्रयत्नसे मेरी प्रिया (श्रीराधिका जी) की शरण ग्रहण करो। मेरी प्रियाका आश्रय ग्रहण करनेवाला मुझे अपने वशमें कर लेता है। मैंने आपसे यह परम रहस्यकी बात कही, आप भी इसे जतनसे गुप्त ही रखियेगा।

युगल स्वरूपकी उपासनाका विषय कितना रहस्यमय है, यह उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे सिद्ध है। मुख्य उपासना तो यही है।

इसके अतिरिक्त इस उपासनासे गौणरूपसे कायिक, वाचिक और मानस—तीन प्रकारके व्रत भी किये जाते हैं। इन व्रतोंसे मुख्य उपासनाके दर्जेतक पहुँचनेमें बड़ी सहायता मिलती है। देवर्षि नारदने भक्त अम्बरीषसे कहा है—

> एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्।
> इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर॥

वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम् ।
अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्पता ।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये ॥

दिनभरमें एक बार अपने आप जो कुछ मिल जाय सो खा लेना तकों उपवास करना । राजन् ! यह कायिक व्रत कहलाता का अध्ययन, भगवान्‌के नामगुणोंका कीर्तन, सत्यभाषण और निन्दा या चुगली न करना—वाचिक व्रत कहा जाता है । हिंसा, सत्य, किसीकी वस्तुपर मन न चलाना, मनसे भी का पालन करना और कपट न करना—मानस व्रत है ।

के सिवा भगवान्‌की उपासनामें अनन्य भावका होना परम है । बस, प्रेमी साधक केवल एक भगवत्प्रेमको ही चाहे भी प्रेममय भगवान्‌से ही चाहे । गोस्वामी तुलसीदासजी कहा है—

बिनती रघुबीर गुसाईं ।
र आस-बिस्वास-भरोसो, हरौ जीव-जड़ताई ॥
हैं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई ।
-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ॥

, दिन-पर-दिन केवल अहैतुक प्रेम ही बढ़ता रहे । मोक्ष, र्य, ऋद्धि, सिद्धि या महान् कीर्ति कुछ भी नहीं चाहिये । मकी भीख भी भगवान् ही दें । दूसरेकी या दूसरी आशा या दूसरेपर या दूसरा विश्वास-भरोसा करना तो हृदयकी

जडता है। इस जडताको समर्थ वीर श्रीरघुनाथजी हर लें, बस यही विनती है।

पार्वतीजी तो यहाँतक कहती हैं—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भोग या मोक्षकी पिशाची इच्छा हृदयमें वर्तमान है, तबतक यहाँ प्रेमानन्दका उदय कैसे हो सकता है!

वास्तवमें यह विषय बहुत ही रहस्यमय है। अधिकारी पुरुषको श्रीराधाकृष्णतत्त्वके ज्ञाता किसी प्रेमप्राप्त सद्गुरुकी सेवामें रहकर इस विषयको जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये।

सद्गुरु

प्रश्न—ऐसे सद्गुरुके क्या लक्षण हैं? और उनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है?

उत्तर—कान फूँकने और द्रव्यादिकी आशा रखनेवाले गुरु तो संसारमें बहुत मिलते हैं, परंतु सद्गुरु—खास करके प्रेममार्गके गुरु तो कोई विरले ही मिलते हैं। ऐसे सद्गुरुमें निम्नलिखित गुणोंका होना तो अत्यन्त आवश्यक है।

दान्तो विमत्सरः कृष्णे भक्तोऽनन्यप्रयोजनः।
अनन्यसाधनो धीमान् कामक्रोधविवर्जितः॥
श्रीकृष्णरसतत्त्वज्ञः कृष्णमन्त्रविदां वरः।
कृष्णमन्त्राश्रयो नित्यं लोभहीनः सदा शुचिः॥
सद्धर्मशासको नित्यं सदाचारनियोजकः।
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते॥

गुरु उन्हें कहते हैं जो शान्त हों, किसीसे डाह न करते हों, श्रीकृष्णके भक्त हों, श्रीकृष्णके सिवा जिनको दूसरा कोई प्रयोजन न हो, श्रीकृष्ण ही जिनका अनन्य साधन हो, जो बुद्धिमान् हों, काम और क्रोध जिनमें बिल्कुल ही न हो, जो श्रीकृष्णरसतत्त्वके जाननेवाले हों, श्रीकृष्णके मन्त्रज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हों, जो सदा श्रीकृष्णके मन्त्रका ही आश्रय रखते हों, लोभसे सर्वथा रहित हों, अंदर और बाहरसे— मनमें और व्यवहारमें पवित्र हों, सच्चे धर्मका उपदेश करनेवाले हों, सदाचारके नियोजक हों, श्रीराधाकृष्णतत्त्वके जाननेवाले सम्प्रदायमें हों, जिनका हृदय कृपासे पूर्ण हो और जो भोग-मोक्ष दोनोंमें ही राग न रखते हों।

ऐसे ही सद्गुरुकी शरणमें जाकर अधिकारी शिष्यको श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

अधिकारी शिष्य

प्रश्न–अधिकारी शिष्यके क्या लक्षण हैं?

उत्तर–प्रेममार्गके अधिकारी शिष्यमें पहला आवश्यक गुण तो भगवान्में सहज भक्ति है। श्रीकृष्णमें जिनकी भक्ति नहीं है, वे अन्य सब गुणोंसे विभूषित होनेपर भी अधिकारी नहीं हैं—

अत्राधिकारी न भवेत् कृष्णभक्तिविवर्जितः।

भक्तिके साथ ही, कृतज्ञता, निरभिमानिता, विनय, सरलता, श्रद्धा आदि गुणोंका होना भी आवश्यक है। दम्भी, लोभी या कामी, क्रोधीको गुरु यह विषय न बतावे। शास्त्रमें कहा है—

श्रीकृष्णेऽनन्यभक्ताय दम्भलोभविवर्जिते ।
कामक्रोधविमुक्ताय देयमेनम् प्रयत्नतः ॥

जो श्रीकृष्णका अनन्य भक्त हो और दम्भ, लोभ, काम और क्रोधसे रहित हो उसी पुरुषको यह विषय बतलाना चाहिये । परंतु ऐसे अधिकारीको भी साल्भर उसकी परीक्षा करनेके बाद ही बतलाना उचित है—

नाशुश्रूषुं मति शृयाद्मासंयत्सरसेविनम् ।

अधिकारी शिष्यके कर्तव्य

प्रश्न—अधिकारी शिष्यको मन्त्रदीक्षा ग्रहण करनेके बाद क्या करना चाहिये ?

उत्तर—मुख्य साधना तो ऊपर बतलायी ही जा चुकी है । परंतु अधिकारी शिष्यका कर्तव्य बतलाते हुए भगवान् शङ्करने कई बातें और बतलायी हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

मन्त्रदीक्षा प्राप्त होनेपर बुद्धिमान् शिष्य भक्तिपूर्वक गुरु महाराजकी सेवा करते हुए निरन्तर इष्टदेवके भजनमें लगे रहें । दूसरों को कोई दुःख न दें, किसीको भी कटु शब्द न कहें, इस लोक और परलोककी सारी चिन्ताओंको छोड़ दें । इस लोकमें पूर्वकर्मके अनुसार फल मिलेगा और परलोकमें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं मङ्गल करेंगे, ऐसा सोचकर निश्चिन्त हो जायँ और श्रीकृष्णकी पूजामें लगे रहें । परंतु पूजामें यह भाव कभी मनमें न आने दें कि मेरे इस लोक और परलोककी भलाईके लिये मैं पूजा करता हूँ । भगवान्के पूजनको विषय-सुखका साधन कभी न बनावें । और—

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य सङ्गैककाङ्क्षिणी॥
तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यभिशृणोति च।
श्रीकृष्णगुणलीलादेः स्मरणादि तथाचरेत्॥

'बहुत समयसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा स्त्री
केवल उस पतिपर ही प्रेम करती हुई एकमात्र उसीके सङ्गकी अ
करती हुई दीन होकर सदा-सर्वदा पतिके गुणोंका स्मरण क
पतिके गुणोंको गाती और सुनती है, इसी प्रकार अधिकारी शि
एकमात्र श्रीकृष्णमें आसक्त होकर उनके गुणों और लीलाओंको
गाना और स्मरण करना चाहिये।'

पतिपरायणा साध्वी पत्नी जैसे अपने सर्वस्वको पतिके अ
पतिको ही परम गति मानकर प्रतिक्षण बिना विराम शरीर-मन
से पतिकी सेवामें लगी रहती है और इसीमें परमानन्दका
करती है, इसी प्रकार अधिकारी शिष्यको श्रीकृष्णकी सेवामें प्रे
निरन्तर लगे रहना और इसीमें परमानन्दका अनुभव करना च
एकमात्र श्रीकृष्णके ही अनन्यशरण होना चाहिये। दूसरा
उसके लिये साध्य या साधन नहीं होना चाहिये। दूसरे देव
तो इष्टभावसे पूजना चाहिये और न किसी अन्य देवकी निन्द
चाहिये। उसे अपने इष्टको छोड़कर दूसरेको स्मरण करने
'अवसर' क्यों मिले! दूसरेका जूँठा भोजन न करे। दूसरे
हुए वस्त्र न पहने, दूसरे विचारवालोंसे वाद-विवाद न करे, श्र
की, किसी अन्य देवताकी और भक्तकी निन्दा न सुने। अपने
के अनुकूल आचरण करे, प्रतिकूलका सर्वथा त्याग क

निरन्तर अनन्य होकर मनकी वृत्तिसे श्रीकृष्णका स्मरण करता रहे
गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज मनकी वृत्तिका सुन्दर वर्णन कर
हुए कहते हैं—

> जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास ।
> तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस ॥
> उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर ।
> चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥
> चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष ।
> तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख ॥
> जिअत न नाईं नारि चातक घन तजि दूसरहि ।
> सुरसरिहू को बारि मरत न माँगेउ अरध जल ॥

हे बादल ! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो या जीवनभर कभी *न बरसो, प्रेमी याचक चातकको तब भी तुम्हारी ही आशा बनी रहेगी,* वह तो तुम्हें छोड़कर दूसरेकी ओर ताकेगा ही नहीं । जल न बरसाकर यदि मेघ उलटे चातकके ऊपर ओले बरसाने लगे, डरा-डराकर गरजे और कठोर वज्र गिरावे, तब भी प्रेमी चातक क्या मेघको छोड़कर कभी दूसरेकी ओर ताकता है ? प्रेमी चातकका अपने तम मेघके दोषोंकी ओर कभी ध्यान ही नहीं जाता, चाहे वह भी करे, प्रेमके समुद्रका नाप-तौल कभी हो नहीं सकता ! चा अपनी टेकपर अड़ा रहता है, उसने जीते-जी तो मेघको छोड़ दूसरेके सामने गर्दन झुकायी नहीं और मरते हुए भी गङ्गा-ज अर्धजली नहीं माँगी ।

शास्त्र कहते हैं कि इसी प्रकार—

सरःसमुद्रनद्यादीन् विहाय चातको यथा।
तृषितो म्रियते चापि याचते वा पयोधरम् ॥
एवमेव प्रयत्नेन साधनानि विचिन्तयेत्।
स्वेष्टदेवौ सदा याच्यौ गतिस्तौ मे भवेदिति ॥

जैसे चातक सहज ही प्राप्त सरोवर, नदी और समुद्र आदिको छोड़कर एकमात्र मेघकी याचना करता है, प्याससे मर जाता है परंतु दूसरेकी ओर नहीं देखता, वैसे ही अधिकारी शिष्य भी एकमात्र अपने इष्टदेवका ही आश्रय करे।

मन्त्र

प्रश्न—अच्छा, युगलस्वरूपकी प्राप्तिके लिये मन्त्र कौन-सा है ?

उत्तर—मन्त्र तो वस्तुतः गुरुसे ही पूछना चाहिये। युगल-स्वरूपकी प्रसन्नता प्राप्त करानेवाले अनेक मन्त्रोंका शास्त्रोंमें विधान है। उनमें कुछ ये हैं—

१—'गोपीजनवल्लभचरणान् शरणं प्रपद्ये' यह षोडशाक्षर मन्त्र है। २—'नमो गोपीजनवल्लभाभ्याम्' यह दशाक्षर मन्त्र है। ३—'क्लीं राधाकृष्णाभ्यां नमः' यह अष्टाक्षर मन्त्र है। ऐसे ही और भी मन्त्र हैं। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक इनमेंसे किसी भी मन्त्रका आश्रय ग्रहण करनेपर श्रीराधाकृष्णकी सन्निधि प्राप्त हो सकती है। इन मन्त्रोंमें प्रधान सहायक श्रद्धा-विश्वास ही है। न्यास, देश-काल, नियम, आसन आदिकी खास आवश्यकता नहीं है। तथापि कोई करना चाहे

तो पहले दो मन्त्रोंमें मन्त्रोंके प्रथम वर्ण 'ग' पर अनुस्वार लगाकर 'गं' बीज और 'नमः' शक्ति मानकर शेष मन्त्राक्षरोंके द्वारा अङ्गन्यास-करन्यास कर ले। तीसरे मन्त्रमें तो बीज तथा नमः है ही। और श्रीराधाकृष्णकी मूर्तिकी यथाविधि गन्ध-पुष्पादिसे पूजा करे।

दीक्षा

प्रश्न—मन्त्रकी दीक्षा कैसे ग्रहण करनी चाहिये?

उत्तर—सद्गुरुकी शरणमें जाकर उनके बताये हुए साधनोंमें लगे रहकर गुरुकी सेवा करे। फिर गुरु जब जो उचित समझें तब वही मन्त्र शिष्यको दे दें। सद्गुरु न प्राप्त हों तो किसी शुभ दिनमें जब चित्त भगवान्‌को पानेके लिये आतुर हो—मन-ही-मन भगवान्‌को परम गुरु मानकर उन्हींसे मानस-मन्त्र ग्रहण कर ले। गोपीभावके उपासकोंको ललितादि किसी महान् प्रेमिका गोपीको गुरु मानकर उनसे मानस-मन्त्र ग्रहण करना चाहिये। दीक्षाके अनेक भेद हैं, परंतु वे सब तान्त्रिक साधकोंके लिये जानने आवश्यक हैं। भक्तिके साधकोंको उनकी उतनी आवश्यकता नहीं है।

श्रीराधाकृष्णका तात्त्विक स्वरूप

प्रश्न—अब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीके तात्त्विक स्वरूपका कुछ वर्णन कीजिये।

उत्तर—भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपाशक्ति श्रीराधिकाजीके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान उन्हींको है। दूसरा कोई भी यह नहीं कह सकता कि इनका स्वरूप ऐसा ही है, जो कुछ भी वर्णन होता है, वह स्थूलरूपका और आंशिक ही होता है। भगवान् क्या हैं इस बातको भगवान् ही जानते हैं। अतएव उनका पूर्ण वर्णन कौन

कर सकता है ? परंतु जो कुछ वर्णन होता है सो उन्हींका होता है, इस दृष्टिसे सभी वर्णन यथार्थ हैं। भगवान्‌का पूर्ण स्वरूप सदा पूर्ण है, सब ओरसे पूर्ण है, सब लीलाओंमें पूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्ण ही विज्ञानानन्दघन निराकार निर्विकार मायातीत ब्रह्म हैं, भगवान् ही अक्षर आत्मा हैं, भगवान् ही देवता हैं, भगवान् ही जीवात्मा, प्रकृति और जगत् हैं, जो कुछ है सो वही हैं, जो कुछ नहीं है सो भी वही हैं, इतना ही नहीं 'हैं' और 'नहीं' मे जिसका वर्णन नहीं होता, वह भी वही हैं। इतना होनेपर भी अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये भगवान्‌का स्वरूपवर्णन लोग करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तम हैं। ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा सब इन्हींके विभिन्न लीलास्वरूप हैं। श्रीराधाजी इन्हींकी स्वरूपाशक्ति हैं। श्रीराधाजी और श्रीकृष्ण सर्वथा अभिन्न हैं। भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य चिन्मय आनन्दविग्रह हैं और श्रीराधाजी दिव्य चिन्मय प्रेमविग्रह हैं। वे रसराज है, ये महाभाव हैं। भगवान्‌की इन्हीं स्वरूपाशक्तिसे अनन्त-कोटि शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करती हैं। श्रीराधाजी ही श्रीलक्ष्मी, श्रीउमा, श्रीसीता, श्रीरुक्मिणी है। इनमें कोई भेद नहीं है। जैसे चन्द्र-चन्द्रिका, सूर्य और प्रभा एक दूसरेके सर्वथा अभिन्न हैं, इसी प्रकार युगलस्वरूप भी सर्वथा अभिन्न है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—जो नराधम इन दोनोंमें भेदबुद्धि करता है, वह चन्द्र-सूर्यकी स्थितिपर्यन्त कालसूत्र नामक नरकमें रहता है।

तो पहले दो मन्त्रोंमें मन्त्रोंके प्रथम वर्ण 'ग' पर अनुस्वार लगाकर 'गं' बीज और 'नमः' शक्ति मानकर शेष मन्त्राक्षरोंके द्वारा अङ्गन्यास करन्यास कर ले। तीसरे मन्त्रमें लीं बीज तथा नमः है ही। और श्रीराधाकृष्णकी मूर्तिकी यथाविधि गन्ध-पुष्पादिसे पूजा करे।

दीक्षा

प्रश्न—मन्त्रकी दीक्षा कैसे ग्रहण करनी चाहिये ?

उत्तर—सद्गुरुकी शरणमें जाकर उनके बताये हुए साधनोंमें लगे रहकर गुरुकी सेवा करे। फिर गुरु जब जो उचित समझें तब वही मन्त्र शिष्यको दे दें। सद्गुरु न प्राप्त हों तो किसी शुभ दिनमें जब चित्त भगवान्‌को पानेके लिये आतुर हो—मन-ही-मन भगवान्‌को परम गुरु मानकर उन्हींसे मानस-मन्त्र ग्रहण कर ले। गोपीभावके उपासकोंको ललितादि किसी महान् प्रेमिका गोपीको गुरु मानकर उनसे मानस-मन्त्र ग्रहण करना चाहिये। दीक्षाके अनेक भेद हैं, परंतु वे सब तान्त्रिक साधकोंके लिये जानने आवश्यक हैं। भक्तिके साधकोंको उनकी उतनी आवश्यकता नहीं है।

श्रीराधाकृष्णका तात्त्विक स्वरूप

प्रश्न—अब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीके तात्त्विक स्वरूपका कुछ वर्णन कीजिये।

उत्तर—भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपाशक्ति श्रीराधिकाजीके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान उन्हींको है। दूसरा कोई भी यह नहीं कह सकता कि इनका स्वरूप ऐसा ही है, जो कुछ भी वर्णन होता है, वह स्थूलरूपका और आंशिक ही होता है। भगवान् क्या हैं बातको भगवान् ही जानते हैं। अतएव उनका ...

महामिलन ही महारास है जो नित्य अखण्ड और अनन्त है। श्रीराधाकृष्ण सबसे परे, सबमें भरे और सर्वरूप हैं। भगवान् शि देवर्षि नारदसे कहते हैं—

> देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
> सर्वलक्ष्मीस्वरूपा सा कृष्णाह्लादस्वरूपिणी॥
> ततः सा प्रोच्यते विप्र ह्लादिनीति मनीषिभिः।
> तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः॥
> सा तु साक्षान्महालक्ष्मीः कृष्णो नारायणः प्रभुः।
> नैतयोर्विद्यते भेदः स्वल्पोऽपि मुनिसत्तम॥
> इयं दुर्गा हरी रुद्रः कृष्णः शक्र इयं शची।
> सावित्रीयं हरिर्ब्रह्मा धूमोर्णासौ यमो हरिः॥
> बहूनां किं मुनिश्रेष्ठ विना ताभ्यां न किंचन।
> चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत्॥
> (पद्मपुराण पातालखण्ड ५० । ५३ से ५७)

ये कृष्णमयी होनेके कारण परम देवता हैं। ये सर्वलक्ष्मीस्वरूपा और श्रीकृष्णकी आह्लादस्वरूपा हैं। विप्र! इसीसे मनीषिगण इन्हें ह्लादिनी कहते हैं। त्रिगुणात्मिका दुर्गा आदि शक्तियाँ इन्हींकी कोटि-कोटि कला और अंश हैं। ये साक्षात् महालक्ष्मी हैं और श्रीकृष्ण भगवान् नारायण प्रभु हैं। मुनिसत्तम! इनमें परस्पर जरा भी भेद नहीं है। ये दुर्गा हैं, श्रीकृष्ण रुद्र हैं। ये शची हैं, श्रीकृष्ण इन्द्र हैं। ये सावित्री हैं, श्रीकृष्ण ब्रह्मा हैं। ये धूमोर्णा हैं, श्रीकृष्ण यमराज हैं। मुनिवर! अधिक क्या, इनको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। यह जड-चेतन जगत् सब बस, राधाकृष्णमय ही है। संक्षेपमें श्रीराधाकृष्णका यही स्वरूप है।

प्रश्न—यह तो सगुण स्वरूप है। मुनियोंका कहना है कि भगवान् तो निराकार, निर्गुण, निष्क्रिय, परात्पर ब्रह्म हैं। इस सगुण स्वरूपमें ये लक्षण कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—भगवान्‌में सभी लक्षण हो सकते हैं। निराकार-साकार, निर्गुण-सगुण, ब्रह्म-माया, परमात्मा-जीवात्मा सब कुछ एक ही कालमें एक ही भगवान् बने हैं। वे सर्वभवनसमर्थ हैं। भगवान्‌का एक निर्गुण निराकार निष्क्रिय रूप भी है ही। परंतु भगवान् जिस मङ्गलमय दिव्य विग्रहरूपसे परधाममें विराजमान हैं, मायासे अतीत दिव्य सच्चिदानन्दमय होनेके कारण उस स्वरूपमें भी ये सब लक्षण भलीभाँति सिद्ध हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात् तथेश्वरम्।
> असिद्धत्वान्मद्गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
> अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
> अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर॥
> व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः।
> अकर्तृत्वात् प्रपञ्चस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि॥
> (पद्मपुराण पातालखण्ड ५१। ६८ से ७०)

महेश! मुझमें प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले कोई गुण नहीं हैं, और मेरे गुणोंको कोई सिद्ध नहीं कर सकता, इसीलिये मुझे सब निर्गुण' कहते हैं। मेरा यह दिव्य स्वरूप चर्मचक्षुओंसे कोई देख नहीं सकता, इसीसे वेद मुझको अरूप या निराकार कहते हैं। चैतन्यांशके द्वारा मैं जगत्‌भरमें व्याप्त हूँ, इसीसे पण्डित मुझे ब्रह्म

कहते हैं। और विश्वप्रपञ्चका कर्ता न होनेके कारण बुद्धिमान् पुरुष उनको निष्क्रिय कहते हैं।

इस प्रकार भगवान् साकार सगुण होकर ही निर्गुण और निराकार हैं। कर्ता होकर भी अकर्ता हैं।

श्रीराधा-कृष्णका ध्यान

प्रश्न—अच्छा, अब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधाजीके महान् सुन्दर ध्यानस्वरूपोंका कुछ वर्णन कीजिये।

उत्तर—सौन्दर्यमाधुर्यनिधि श्रीराधाकृष्णके ध्यानस्वरूपोंका वर्णन कौन कर सकता है? यहाँ 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' वाली कहावत सिद्ध होती है। तथापि पद्मपुराणमें एक स्थानपर लीलाविहारी श्रीराधाकृष्णके स्वरूपका बहुत ही सुन्दर निरूपण है, वही यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है। भगवान् शिव देवर्षि नारदजीसे कहते हैं—

भगवान् श्रीकृष्ण पीताम्बर पहने हैं, सुन्दर द्विभुज हैं, वनमालासे विभूषित हैं, उनका वर्ण नवजलधरके समान श्याम है, मस्तकपर मयूरपिच्छ शोभा पा रहा है, मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंके समान मनोहर है। वे नेत्रोंको घुमा रहे हैं, कानोंमें कनेरके फूल खोंसे हुए हैं, भालमें गोल-गोल चन्दनका तिलक लगाये हैं जिसके बीचमें केसरका बिन्दु सुशोभित है। दोनों कानोंमें बालसूर्यके समान कान्तिवाले कुण्डल विराजमान हैं। दर्पणके समान आभायुक्त कपोलोंपर स्वेदकण अत्यन्त शोभा पा रहे हैं। भगवान्‌की दृष्टि श्रीप्रियाजीके वदनकमलकी ओर लगी हुई है, भौंहें लीलासे ऊपरकी ओर उठी हुई हैं और उनकी ऊँची नासिकाके अग्रभागमें मोती लटक रहा है।

उनके पके हुए बिम्बफलके समान लाल-लाल होंठ दाँतोंकी कान्तिमें प्रकाशित हो रहे हैं। भगवान् अपनी भुजाओंमें केयूर और अंगद आदि आभूषण धारण किये हुए हैं और उनके करकमल मुद्रिकाओंसे अलंकृत हैं। वे दाहिने हाथमें मुरली और बायें हाथमें लीलाकमल धारण किये हुए हैं। उनकी कमरमें करधनी सुशोभित है और चरणोंमें नूपुर विराजमान हैं। वे प्रेमके आवेशसे चञ्चल हो रहे हैं और उनके नेत्रयुगल भी चलायमान हैं। वे श्रीप्रियाजीके साथ हँस रहे हैं और उन्हें भी बारम्बार हँसा रहे हैं। इस प्रकार वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे रत्नसिंहासनके ऊपर श्रीप्रियाजीके साथ विराजमान भगवान् नन्दनन्दनका ध्यान करे। इसके अनन्तर उनके वामभागमें स्थित श्रीराधिकाजीका इस प्रकार ध्यान करे। श्रीप्रियाजी नीला अंग धारण किये हुए हैं, उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति तपाये हुए सोनेके समान है। उनके मन्दहास्ययुक्त मुखारविन्दका आधा भाग उनकी रेशमी साड़ीके अञ्चलसे ढका हुआ है। वे चञ्चल नेत्रोंसे चकोरीकी भाँति अपने प्रियतमके मुखचन्द्रकी ओर निहार रही हैं और अपने अंगूठे और तर्जनीसे उनके मुखमें कुटे हुए पानके सहित सुपारीका चूर्ण अर्पण कर रही हैं। उनके सुन्दर पीन और उन्नत वक्षःस्थलपर मोतियोंका हार लटक रहा है, उनका कटिप्रदेश अत्यन्त कृश है और स्थूल नितम्बपर करधनी विराजमान है। वे रत्नजटित ताटङ्क (कर्णफूल), केयूर (बाजूबन्द), अंगूठी और कङ्कण धारण किये हुए हैं। उनके चरणोंमें कड़े, नूपुर और रत्नजटित छल्ले सुशोभित हैं। उनके समस्त [illegible] सुन्दर हैं मानो वे लावण्यके सार ही हैं। वे आनन्दरसमें

डूबी हुई हैं, अत्यन्त प्रसन्न हैं और उनके अङ्गोंमें नवयौवन झलक रहा है। ब्राह्मणदेव ! उनकी सखियाँ उन्हींके समान गुण और अवस्थावाली हैं और उनपर चँवर डुला रही हैं तथा पंखा झल रही हैं। (पद्मपुराण पाताल खण्ड ५०। ३५ से ५०)

यह श्रीराधाकृष्णके स्वरूपका ध्यान है। यहाँ एक बार फिर चेतावनी दे देना उचित है कि परम वैराग्यवान् पुरुषको ही इस साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। नहीं तो, अनिष्टकी आशङ्का है।

स्वरूप-साक्षात्कार

प्रश्न–क्या इस स्वरूपका साक्षात्कार भी हो सकता है ? हो सकता है तो किस उपायसे ?

उत्तर–अवश्य ही हो सकता है। जब युगलसरकार कृपा करके अपने दुर्लभ दर्शन देना चाहें तभी दर्शन हो सकते हैं। उनकी कृपा ही साक्षात्कारका उपाय है।

प्रश्न–क्या साक्षात्कारमें भगवान्‌की मुरलीध्वनि, नूपुरध्वनि सुनायी दे सकती है, क्या उनके श्रीअङ्गकी मधुर दिव्य गन्ध और उनके दिव्य चिन्मय चरणोंका स्पर्श प्राप्त हो सकता है ?

उत्तर–दर्शन होनेपर उनकी कृपासे सभी कुछ हो सकता है। परंतु एक बात याद रखनी चाहिये कि ये सब बातें ध्यानमें भी हो सकती हैं। जैसे स्वप्नमें देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना सब कुछ होता है परंतु वस्तुतः वहाँ अपनेसे कोई भिन्न वस्तु नहीं होती, सब मनकी ही कल्पना होती है। इसी प्रकार ध्यानकालमें भी मनोनिर्मित विग्रहका स्पर्श, मुरलीध्वनि या नूपुरध्वनिका श्रवण,

मधुर रूपका ग्रहण हो सकता है। उसमें और साक्षात्कारमें बड़ा अन्तर है, परंतु इस अन्तरका पता साक्षात्कार होनेपर ही लगता है, पहले नहीं। ध्यान होना भी बड़े ही सौभाग्यका विषय है।

मङ्गल साधन

१-भगवन्नामजप

प्रश्न—भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेका कोई सरल उपाय भी है?

उत्तर—है क्यों नहीं। भगवन्नामका जप-कीर्तन और कातरभावसे रो-रोकर भगवान्‌से प्रार्थना करना उनकी कृपा-प्राप्तिके सरल उपाय हैं।

भगवान् शंकर देवी पार्वतीसे कहते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्णेति मङ्गलम्॥
एवं वदन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः।
अत आन्तरकर्माणि कृत्वा नामानि च स्मरेत्॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कृष्णेत्याह पुनः पुनः।
मन्नाम चैव त्वन्नाम यो जपित्वाव्यतिक्रमात्॥
सोऽपि पापाद् विमुच्येत तूलराशेरिवानलः।
जयाद्येतरवया वाप्यथवा श्रीशब्दपूर्वकम्॥
तच्च मे मङ्गलं नाम जपात् पापात्प्रमुच्यते।
दिवा निशि च संध्यायां सर्वकालेषु संस्मरेत्॥
अहर्निशं स्मरन्नाम कृष्णं पश्यति चक्षुषा।
(पद्मपुराण पाताल खण्ड ५१। ३ से ७)

केवल एक हरिनाम ही उद्धारका उपाय है। जो व्यक्ति नित्य (अखण्डरूपसे) हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण आदि नामोंका उच्चारण करता है, कलियुगका उसपर असर नहीं हो सकता। अतएव प्रतिदिन आन्तर कर्मोंको करके बार-बार कृष्ण कृष्ण कृष्ण इन नामोंको स्मरण करना चाहिये। ऐसा मुनिगण भी कहते हैं। जो व्यक्ति मेरा (शिव) नाम और तुम्हारा (पार्वती) नाम (अथवा गौरी शंकर नाम) जप करता है, रूईका ढेर जैसे आगसे जल जाता है, वैसे ही वह भी पापोंसे मुक्त हो जाता है। अर्थात् नाम-जप पापोंको भस्म कर डालता है। जो पुरुष जय श्रीकृष्ण, जय श्रीशंकर, जय श्रीपार्वती, इस प्रकार आगे या पीछे 'जय' और 'श्री' जोड़कर मङ्गलमय नामका जप करता है वह पापोंसे छूट जाता है। क्या दिन, क्या रात, क्या संध्या—सभी समय भगवान्‌के नामोंका स्मरण करना चाहिये। रात-दिन अखण्ड नामजप करनेसे भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

इस प्रकार अखण्ड नामजप और स्मरणसे सहज ही पापोंका नाश होता है और भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

२—प्रार्थना

दूसरा उपाय प्रार्थना है। एकान्तमें आर्तभावसे और सच्चे हृदयसे इस तरह भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

संसारसागराघोरात् पुत्रमित्रगृहाकुलात्।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ॥
योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिह लोके परत्र च।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम्॥

> अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः ।
> अगतिश्च ततो नाथ भवानेव मे गतिः ॥
> तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा ।
> कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम ॥
> शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ ।
> प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि ॥
> (पद्मपुराण पाताल खण्ड ५१ । ४२ से ४६)

हे नाथ ! पुत्र, मित्र, गृह आदिसे घिरे हुए संसार-सागरसे आप ही मेरी रक्षा करते हैं, आप ही शरणागत जनोंका भय भञ्जन करते हैं। यह मैं, मेरा यह देह और इस लोक तथा परलोकमें जो कुछ भी मेरा है, आज वह सब मैं आपके चरणोंमें अर्पण करता हूँ। मैं अपराधोंका घर हूँ, मेरे अन्य कोई भी साधन नहीं है। मेरी कोई गति नहीं है। हे नाथ ! आप ही मेरी गति हैं। हे श्रीराधाकृष्ण ! मैं तन, मन, वचनसे आपका ही हूँ, आप ही मेरी अनन्य गति हैं। मैं आपके शरण हूँ, आपके चरणोंमें पड़ा हूँ, आप दयाकी खान हैं। मुझ दुष्ट अपराधीपर दया करके मुझे अपना दास बना लीजिये मेरे युगल सरकार !

इस प्रकार नाम-जप और आर्त तथा दीन प्रार्थनासे भगवत्कृपा प्राप्त होती है और भगवत्कृपासे दुर्लभ भी परम सुलभ हो जाता है। आपने प्रश्नोंका उत्तर बहुत विस्तारसे चाहा था, मैंने संक्षेपमें लिखना चाहा था तो भी उत्तर कुछ बड़ा हो गया है, इससे आपको कुछ संतोष हो और पाठकोंको लाभ हो तो बड़े आनन्दकी बात है। भूल-चूक और प्रमादके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रीभगवन्नाम

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

भगवान्‌का नाम कितना पवित्र है, कैसा पावन है, उसमे
नी शान्ति है, कैसी शक्ति है और उससे क्या हो सकता है !
कोई नहीं बतला सकता । अथाहकी थाह कौन ले ! जिसके
न्यका आरम्भ बुद्धिसे परे पहुँचनेपर होना है, उसका वाणीमे

का उद्गारमात्र है । वास्तविक माहात्म्य तो कोई कह ही नहीं सकता। जो जिस भावसे भगवान्‌के नामको जपता है उसे अपने उस भावके अनुसार ही लाभ होता है । आज भी भगवन्नामसे लाभ उठानेवाले बहुत लोग हैं । इस विषयमें केवल धार्मिक क्षेत्रके ही नहीं, राजनीतिक क्षेत्रके भी कितने ही महानुभावोंसे मेरी बातें हुई हैं, उन्होंने कहा ही नहीं लिखकर भी दिया है कि 'हमें भगवन्नामसे परम लाभ हुआ ।'

आजकल एक ऐसी शङ्का होती है कि 'जहाँ भगवन्नामके माहात्म्यके विषयमें इतना कहा जाता है वहाँ देखनेमें उसके विपरीत क्यों आता है ? यदि भगवन्नाममें कोई वास्तविक शक्ति होती तो निरन्तर और अधिक संख्यामें नामजप करनेवाले लोगोंमें विशेष परिवर्तन क्यों नहीं देखा जाता ? शङ्का कई अंशोंमें ठीक है, परंतु बहुत-से कर्म ऐसे होते हैं जिनका परोक्षमें भारी फल होनेपर भी प्रत्यक्षमें नहीं देखा जाता अथवा तत्काल न दीखकर देरसे दीखता है । कई बार पूर्ण फल न होनेके कारण आंशिक रूपमें होनेवाले फलका पता नहीं लगता । एक आदमी बीमार है और उसके कई रोग हैं, दवासे पेटका दर्द दूर हो गया पर अभी ज्वर नहीं छूटा । इसमें क्या यह समझना चाहिये कि उसे दवासे कोई लाभ ही नहीं हो रहा है ? लाभ होनेमें जो विलम्ब होता है उसमें कुपथ्य ही प्रधान कारण है । हम नामजप करनेके साथ ही नामापराध भी बहुत करते हैं, इसके अतिरिक्त श्रद्धा और विश्वासपूर्वक नाम-जप नहीं करते । कहीं बहुत थोड़े मूल्यमें उसे बेच देते हैं । मामूली सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति अथवा मान-बड़ाईके बदलेमें उसे खो देते हैं । हम कीर्तन करते हैं

और फिर पूछते हैं कि 'क्यों जी ! आज मैंने कैसा कीर्तन किया ?' इस प्रकार अश्रद्धा, अविश्वास, सकाम भाव अथवा लोगोंमें बड़ाई पानेके लिये किये जानेवाले नाम-जप-कीर्तनसे वास्तविक फल देरमें हो तो क्या आश्चर्य ! नाम-कीर्तनका एक सुन्दर क्रम और स्वरूप श्रीमद्भागवत-में बतलाया गया है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(११ । २ । ३९-४०)

'चक्रपाणि भगवान्‌के प्रसिद्ध जन्म, कर्म और गुणोंको सुनकर और उनकी ही लीलाओंके अनुरूप नामोंको लज्जा छोड़कर गान करता हुआ, अनासक्त भावसे संसारमें विचरे। इस प्रकारके निश्चयसे प्रियतम प्रभुके नामकीर्तनमें प्रेम उत्पन्न होता है, तब वह भाग्यवान् पुरुष प्रेमावेशमें कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी सुबकियाँ भरता है, कभी जोर-जोरसे रोने लगता है, कभी ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी उन्मत्तकी भाँति नाच उठता है।'

अपने प्रियतम भगवान्‌के नामकीर्तनमें प्रेमावेशके कारण इस प्रकार निर्लज्ज होकर नाच उठना चाहिये; परंतु उसमें कहीं भी

विषयराग या विषयासक्ति नहीं होनी चाहिये । भगवान्‌का नाम हमें आनन्द नहीं देता, इसका कारण यही है कि वह हमें प्रिय नहीं है और नाम प्रिय इसलिये नहीं है कि हमारा भगवान्‌में प्रेम नहीं है । भगवान्‌में प्रेम होता तो नामजप प्यारा लगता । प्यारेकी प्रत्येक चीज प्यारी होती है । कहीं-कहीं तो उससे बढ़कर प्यारी होती है । लौकिक सम्बन्धमें भी हम देखते हैं कि जब किसी लड़के-लड़कीका सम्बन्ध हो जाता है, तब घरमें किसीसे एक दूसरेका नाम सुनकर या उनके विषयमें कोई बात सुनकर वे अपने हृदयमें एक प्रकारकी गुदगुदी-सी अनुभव करने लगते हैं । प्यारेका वस्त्र, प्यारेका भोजन यहाँतक कि प्यारेकी फटी जूती भी प्यारी होती है । जब लौकिक प्रेमकी ऐसी बात है, तब भगवत्प्रेमके विषयमें तो कहना ही क्या है । शृंगवेरपुरमें भरतजी भगवान्‌के शयनके स्थानमें उनके अङ्गसे स्पर्शित 'कुश-साथरी' को देखकर प्रेमानन्दमें मग्न हो गये थे । अक्रूरजी भगवान्‌के चरण-चिह्नोंको देखकर तन-मनकी सुधि भूल गये थे । आज भी जब हम व्रजभूमिको देखते हैं, तब स्वतः ही हमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति हो आती है और उसमें एक अनोखा आनन्द मिलता है । प्रेम और आनन्दका अविनाभावी सम्बन्ध है, जहाँ प्रेम है वहाँ आनन्द है ही । इसीसे गोपियोंके प्रेमका महत्त्व है । भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीमती राधारानी इसी प्रेम और आनन्दके मूर्तिमान् रूप हैं । भगवान्‌का जो आनन्दस्वरूप है वही श्रीमती राधा हैं । राधारानीके प्रेमास्पद भगवान् हैं और भगवान्‌की प्रेमास्पदा श्रीराधा हैं । प्रेमका स्वभाव है 'तत्सुखे सुखित्वम्' प्रेमास्पदके सुखमें सुखी होना, यही काम और प्रेमका अन्तर है । काममें अपने

इच्छा है और प्रेममें प्रियतमके सुखकी ! राधाजी श्रीकृष्णको सुख
देनेके लिये ही अवतीर्ण हुई हैं और अपनी सेवामें श्रीकृष्णको आनन्द
देखकर परम सुखी होती हैं। इधर राधाजीको सुखी देखकर श्रीकृष्णके
सुखकी वृद्धि होती है और श्रीकृष्णके सुखकी वृद्धिसे राधाजीका सुख
भी बढ़ जाता है। इस प्रकार एक दूसरेके आनन्दसे दोनोंका
आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। यह उत्तरोत्तर बढ़नेवाला आनन्द
भगवान्‌का नित्यरास है। प्रेममें यही तो विलक्षणता है। इसमें
विश्राम् नहीं होता। प्रेमका स्वरूप ही है 'प्रतिक्षणवर्धमानम्'।
प्रियतमका सुख ही अपना सुख है। चाहे उसका वह सुख प्रेमीके
लिये लौकिक-दृष्टिसे कितना ही कष्टकर क्यों न हो। प्रेमी चातककी
उक्ति है—

> जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
> तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥
> रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
> तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग॥
> बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
> तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक॥
> चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
> तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥

हम जो संसारके दुःखोंमें घबरा उठते हैं इसका कारण क्या
है? यही कि हम उनमें प्रेमास्पद भगवान्‌की रुचिको, उनके विधानको,
नहीं देखते। कठोर आघातमें उनके सुकोमल करकमलका स्पर्श
नहीं पाते। परंतु भगवान्‌का प्रेमी भक्त किसी कारणसे नहीं घबराता,

क्योंकि वह प्रत्येक वस्तुमें भगवान्‌का स्पर्श पाता है। वास्तवमें भगवान्‌का प्रेमी भक्त सब कष्टोंसे परे पहुँचा हुआ होता है, उसका जीवन भगवत्सेवामय होता है। वह सेवाको छोड़कर मुक्ति भी नहीं चाहता। मुक्ति तो वह चाहता है जो किसी बन्धनका अनुभव करता हो। भगवत्प्रेमका बन्धन तो सारे बन्धनोंके छूट जानेपर होता है और इस प्रेमबन्धनसे भक्त कभी मुक्त होना चाहता नहीं। जो इस प्रेमबन्धनसे मुक्ति चाहता है वह भक्त कैसा? इसीसे कहा गया है—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

अर्थात् 'भक्तजन देनेपर भी मेरी सेवाको छोड़कर मुक्ति आदिको स्वीकार नहीं करते।' इस प्रेमसाधनाके सम्बन्धमें गीताके दो श्लोक बड़े महत्त्वके हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०। ९-१०)

'जिनका चित्त मुझमें लगा है, जिनके प्राण मुझमें फँसे हैं, जो नित्य आपसमें मेरी ही महत्ताको समझने-समझाते प्रेम करते हैं, जो मेरी ही बात कहते हैं, मुझमें संतुष्ट हैं और निरन्तर मुझमें ही रमण करते हैं, उन निरन्तर मुझमें लगे हुए प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं अपना वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इन श्लोकोंमें जिस साधनाकी ओर सङ्केत है, प्रेमियोंके जीवनका वह स्वभाव होता है। इसीसे भगवान्ने भागवतमें इस बातको स्वीकार किया है कि गोपियोंने अपना मन मुझे अर्पण कर दिया, गोपियोंके प्राण मद्गतप्राण हैं, गोपियाँ मेरी ही चर्चा करती हैं, मैं ही एकमात्र उनका इष्ट हूँ, मुझमें ही उनकी एकान्त प्रीति है।

गोपियोंने भगवान्का नाम रक्खा था—चित्तचोर। क्या मधुर नाम है! अहा! हम सबकी भी यही इच्छा रहनी चाहिये कि भगवान् हमारा चित्त चुरा लें। कुछ सज्जनोंको भगवान्के लिये इस 'चोर' शब्दपर बड़ी आपत्ति है। उनके विचारसे श्रीमद्भागवतमें जो माखन-चोरी आदिकी बात है वह भगवान्के चरित्रमें कलङ्करूप ही है। पर असलमें बात ऐसी नहीं प्रतीत होती। पहली बात तो यह है, उस समय भगवान् बालकस्वरूप थे इसलिये उनकी चोरी आदिकी प्रवृत्ति किसी दूषित बुद्धिके कारण नहीं मानी जाती; वह केवल उनकी बालसुलभ लीला ही थी; परंतु वास्तवमें सच पूछा जाय तो क्या कोई यह कह सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने कभी किसी ऐसी गोपीका माखन चुराया था जो ऐसा नहीं चाहती थी। गोपियाँ तो इसीलिये अच्छे-से-अच्छा माखन रखती थीं और ऐसी जगह रखती थीं जहाँ भगवान्का हाथ पहुँच सके और वह हृदयकी अत्यन्त उत्कट इच्छाके साथ यह प्रतीक्षा करती रहती थी कि कब श्याम-सुन्दर आवें और हमारी इस समर्पणबुद्धिसे रक्षित रक्खे हुए निवेदित माखनका भोग लगावें और कब हम उस मधुर झाँकीको देखकर कृतार्थ हों। यही तो उनकी प्रेमसाधना थी। इन गोपियोंके महात्म्यको

कौन कह सकता है, जो निरन्तर चितचोरकी श्यामसुन्दर मूर्तिकी झाँकीके लिये उत्सुक रहती थीं और पलकोंका अदर्शन असह्य होनेके कारण पलक बनानेवाले ब्रह्माजीको कोसा करती थीं। गोपियोंकी इस प्रेमनिष्ठाके विषयमें श्रीमद्भागवत(१०।४४।१५)में कहा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

'जो व्रजयुवतियाँ गौओंको दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालना झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू देते समय प्रेमपूर्ण मनसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्‌गद वाणीसे श्रीकृष्णका नाम-गुणगान किया करती हैं उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियों-को धन्य है।'

इस प्रकार गोपियोंका चित्त हर समय श्रीश्यामसुन्दरमें ही लगा रहता था। घरके सारे धंधोंको करते हुए भी उन्हें अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी एक क्षणको भी विस्मृति नहीं होती थी। उद्धवने जब गोपियोंको योगकी शिक्षा दी, तब उस समय उन्होंने उद्धवसे यही कहा कि आप उन्हें योग सिखाइये जिन्हें वियोग हो, हमारा तो श्रीश्याम-सुन्दरके साथ नित्यसंयोग है। वे बोलीं—

स्याम तन, स्याम मन, स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधो हमें स्याम ही सों काम है!
स्याम हिये, स्याम जिये, स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥

स्याम गति, स्याम मति, स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाई सो भलाई सोभाधाम है।
ऊधो तुम भये बौरे, पाती लैके आये दौरे,
जोग कहाँ राखें, यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

गोपियाँ हर समय सब कुछ स्याममय ही देखती थीं।
सम्बन्धमें एक प्रसङ्ग है। एक बार कई गोपियाँ मिलकर बैठीं। उ
समय यह प्रश्न हुआ कि 'श्रीकृष्ण श्याम क्यों हैं? माता यशोदा अ
पिता नन्द दोनों ही गौरवर्ण हैं। बलदेवजी भी गौरवर्ण हैं, फिर
साँवले क्यों हुए?' इसपर किसीने कुछ कहा और किसीने कुछ
अन्तमें एक व्रजनागरी बोली—

कजरारी अँखियानमें, बसो रहत दिन-रात।
प्रीतम प्यारो है सखी, ताते साँवर गात॥

'अहो! आठों पहर काजलभरी आँखोंमें रहनेके कारण ही
काला हो गया है।' कितना ऊँचा सिद्धान्त है! ऐसे महात्माको
भी परम दुर्लभ बतलाती है—'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः
किंतु यहाँ तो वह सिद्धान्त ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रकट स्वरूप थ
गोपियोंकी आँखोंमें श्यामके सिवा और किसीका प्रतिबिम्ब ही न
पड़ता था। उनकी आँखोंके सामने आते ही सब कुछ साकार श्य
स्वरूप हो जाता था।

बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।

गोपियोंका भगवान्‌के प्रति प्रियतमभाव था। उनसे बढ़
'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः' और कौन हो सकता है! चित्त भगवन्मय

जाय, उसपर भगवान्का स्वत्व हो जाय। यह नहीं कि हम उसके द्वारा भगवान्का भजन करें। उसपर भगवान्का ही पूरा अधिकार हो जाना चाहिये। ऐसी स्थिति उन व्रजसुन्दरियोंको ही प्राप्त हुई थी। इसीसे उद्धवको गोपिकाओंके पास भेजते समय भगवान् उनसे कहते हैं—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४)

वे करती क्या थीं? वे जहाँ बैठतीं अपने प्रियतम भगवान्की ही चर्चा किया करती थीं। उसीका गान करती थीं, उसीमें संतुष्ट रहती थीं और एकमात्र उसीमें रमती थीं। यह भगवत्प्रेमियोंका सङ्ग बहुत दुर्लभ है। एक सत्सङ्ग वह है जिससे चित्त शुद्ध होता है, फिर शुद्ध चित्तमें ज्ञानोदय होता है और उसके पश्चात् भगवत्प्राप्ति होती है; किंतु यह वह सत्सङ्ग है जिसके लवमात्रके साथ मोक्षकी भी तुलना नहीं होती। श्रीमद्भागवत (१। १८। १३) में कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

अर्थात् 'भगवत्प्रेमियोंका जो लवमात्रका सङ्ग है उसके साथ स्वर्ग और मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते, फिर साधारण मानवभोगं विषयमें तो कहना ही क्या है?' इसीसे भक्तजन कभी मोक्ष न चाहते। उनकी तो यही इच्छा रहती है कि भगवत्प्रेमी मिलकर स प्रियतम भगवान्की मधुर चर्चा किया करें। यही गोपियोंका : सत्सङ्ग था।

एक वैष्णव-ग्रन्थमें श्रीमती राधाजी कहती हैं कि 'ऐसा मन होता है, मेरे लाखों आँखें हों तो श्यामसुन्दरके दर्शनका कुछ आनन्द आवे। लाखों कान हों तो श्यामनामके श्रवणका सुख मिले।' यह कोई कल्पना नहीं है। प्रेम चीज ही ऐसी है। जिस दिन हमें भगवान्‌में प्रेम हो जायगा, उस दिन उनका नाम हमें इतना प्राणप्यारा होगा कि वह हमारे जीवनकी सबसे बढ़कर आवश्यक चीज बन जायगा। जबतक हमारा भगवान्‌में प्रेम नहीं होता तभीतक हमें माला आदिकी आवश्यकता है। प्रेम होनेपर तो प्रियतमके नामोच्चारणमात्रसे हमारी नस-नस नाच उठेगी। हम अपने प्रियतमके प्रेममें इतना उन्मत्त हो जायँगे कि हमारे रोम-रोमसे भगवन्नामकी ध्वनि होने लगेगी। फिर यह जाननेकी इच्छा कभी नहीं होगी कि मैंने कैसा कीर्तन किया। यथार्थ कीर्तनका यही स्वरूप है। मेरा यह कथन नहीं है कि वर्तमान कीर्तन करनेवाले सभीको ऐसी लोकैषणा रहती है। मेरा अभिप्राय केवल यही है कि कीर्तन करते समय हमारा यह लक्ष्य नहीं होना चाहिये कि सुननेवाले लोग हमारे कीर्तनको अच्छा कहें, बल्कि यही लक्ष्य हो कि हम उसमें तन्मय हो जायँ। द्रौपदीके एक नामपर ही भगवान् प्रकट हो गये थे; परंतु हुए उसी समय थे जब उसने सबका आश्रय छोड़कर परम निर्भरतासे भगवान्‌को पुकारा था।

एक कसौटी और है, भगवन्नामका आश्रय लेनेवालेको यह देखते रहना चाहिये कि हमारे अंदर दैवीसम्पत्ति बढ़ रही है या नहीं? यदि दैवीसम्पत्तिकी वृद्धि दिखायी न दे तो समझना चाहिये कि हमारा भगवन्नाम-कीर्तन नामापराधसहित है। भगवद्भजनसे दैवीसम्पत्ति-की वृद्धि होनी ही चाहिये। जिस प्रकार भगवत्प्रेममें दैवीसम्पत्ति होना

अनिवार्य है उसी प्रकार दैवीसम्पत्ति भी बिना भगवत्प्रेमके टिक नहीं सकती। देवर्षि नारदने कहा है कि भगवन्नाममें एक विलक्षण शक्ति है। उससे भगवत्प्रेमकी स्वाभाविक ही वृद्धि होती है और भगवत्प्रेममें दैवीसम्पदाका पूरा प्राकट्य होना ही चाहिये। आजकल ऐसा नहीं होता इससे जान पड़ता है कि हमारे भजनमें कोई दोष है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुमें यह विलक्षण शक्ति बहुत अधिक देखी जाती थी। बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् इसलिये उनके कीर्तनके समीप होकर निकलनेमें डरते थे कि वे कहीं उसी रंगमें न रँग जायँ। और यदि कोई उनके कीर्तनको देख लेता, उनका स्पर्श पा लेता तो वह उन्मत्त हुए बिना रहता नहीं। परंतु महाप्रभुको भी बड़ी सावधानीसे यह शक्ति अर्जन करनी पड़ी थी। एक बार श्रीवासके घर कीर्तन होता था। उस दिन उसमें आनन्दकी स्फूर्ति नहीं हुई। तब श्रीमहाप्रभुजीने कहा, 'देखो यहाँ कोई बाहरका आदमी तो नहीं है।' इधर-उधर देखनेपर एक ब्राह्मणदेवता मिले, जो कीर्तनके प्रेमी नहीं थे। तब सब लोगोंने प्रार्थना करके उन्हें विदा किया। उसके पश्चात् कीर्तन किया गया। तब रस आया। कीर्तनके श्रवणसे वे ब्राह्मणदेवता भी पवित्र हो गये। अतः भक्तको सब प्रकारके कुसङ्गसे बचना चाहिये।

हमलोगोंको भी इस बातका संकल्प करना चाहिये कि हम तन्मय होकर श्रद्धा-विश्वाससहित निष्काम भावसे प्रेमपूर्वक भगवन्नामका जप, स्मरण और कीर्तन करें। निष्कामभाव यहाँतक हो कि हमें तो बस भगवन्नामका जप और कीर्तन ही करना है, यह नहीं देखना कि इससे भगवान् भी रीझते हैं या नहीं!

पञ्चमहायज्ञ

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर
(गीता

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन ! यज्ञके निमि
जानेवाले कर्मको छोड़कर अन्य कर्ममें लगनेवाला यह मनुष्
बँधता है, अतएव तुम आसक्तिरहित होकर यज्ञके लि
भलीभाँति आचरण करो ।

यज्ञार्थ कर्म क्या है ?

'यज्ञो वै विष्णुः' इस श्रुतिके अनुसार यज्ञका अ
विष्णु होता है; विष्णु समस्त चराचरमें व्याप्त हैं, इन
भगवान्की पूजाके लिये किया जानेवाला प्रत्येक कर्म यज्ञार्थ
यज्ञार्थ-कर्मसे बन्धन नहीं होता, बन्धन होता है स्वार्थक
स्वार्थको छोड़कर, कर्म और उसके फलमें आसक्तिका त्याग
भगवत्-प्रीत्यर्थ अपने वर्णाश्रमानुकूल कर्तव्य-कर्म करता
यथार्थमें यज्ञार्थ-कर्म करनेवाला है और उसीको भगवत्कृपासे
मुक्ति प्राप्त होती है । इस बातको ध्यानमें रखकर मनु
प्रत्येक वैध चेष्टाको मुक्तिका साधन बना सकता है ।

पञ्चमहायज्ञ

इसमें भी पञ्चमहायज्ञ तो प्रत्येक गृहस्थके लिये
नित्यकर्म है । इनका नाम महायज्ञ इसीलिये है कि इनक

समस्त विश्वसे है। अन्यान्य यज्ञ प्रधानतया व्यक्तिगत लाभके लिये होते हैं, परंतु इन महायज्ञोंके तो सिद्धान्तमें ही विश्वकल्याण भरा है। विश्वरूप बने हुए भगवान्‌के पाँच स्वरूप हैं—ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्यान्य भूत-प्राणी (पशु, पक्षी, वृक्ष, औषध, लता, गुल्म आदि)। इन पाँचोंका सम्बन्ध प्रत्येक प्राणीसे है। मनुष्य-प्राणी जगत्‌में विवेकसम्पन्न है, वह इस बातको भलीभाँति हृदयङ्गम कर सकता है कि इन पाँचोंकी सहायतासे ही हमारा जीवन-निर्वाह होता है। वस्तुतः भगवान्‌की सृष्टिमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो व्यर्थ हो और जिससे किसीको लाभ न पहुँचता हो एवं जिसकी सृष्टि, स्थिति या संहारके कार्यमें कहीं-न-कहीं आवश्यकता न हो। सभी प्राणियोंका परस्पर सम्बन्ध है। प्राणियोंके हितमें ही विश्वका हित है। अतएव भगवान्‌की सृष्टिका कोई भी पदार्थ, विश्वरूप भगवान्‌का कोई भी क्षुद्रतम स्वरूप,—अथवा विश्व-शरीररूप कार्य-ब्रह्मका कोई भी अङ्ग उपेक्षणीय नहीं है। इसलिये मनुष्यको विश्वके समस्त अङ्गोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले इन पाँच अङ्गोंकी सेवा सदा करनी चाहिये। इनकी सेवासे सारे विश्वकी सेवा होती है जहाँ विश्वका कल्याण है, वहाँ आत्मकल्याण तो है ही।

पञ्चमहायज्ञके सिद्धान्तको समझनेमें ही मनुष्यकी व्यष्टिगत क्षुद्रता नष्ट हो जाती है। वह देखता है कि भगवान् स्वयं विश्वके अनेक रूप धारण करके स्थित हैं, वे ही ऋषि बनकर जगत्‌को ज्ञाननेत्र प्रदान करते हैं, वे ही देवता बनकर सबका पालन-पोषण करते हैं, वे ही पितर बनकर सबका कल्याण करते हैं, वे ही मनुष्य बनकर सबकी सहायता करते हैं और वे ही भूत-प्राणी बनकर सबका

उपकार करते हैं। इस प्रकार भगवान्को सर्वत्र देखकर वह विनम्र-भावसे उन्हें भोग लगाकर बचा हुआ प्रसाद स्वयं पाना चाहता है। यह प्रसाद ही अमृत है। अपनी कमाईसे पहले इन पाँचोंको तृप्त करे, इसके बाद जो कुछ बच रहे, उसे भगवत्प्रसाद समझकर स्वयं ग्रहण करे; ऐसा करनेवाला मनुष्य समस्त पापोंसे छूट जाता है। भगवान् कहते हैं—

> यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
> भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
> (गीता ३। १३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं, परंतु जो पापी मनुष्य केवल अपने लिये ही पकाते (कमाते) हैं वे पाप खाते हैं।'

अभिप्राय यह कि संसारमें मनुष्य जो कुछ भी उपार्जन करे उसको पहले ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्य भूत-प्राणियोंकी सेवामें लगावे। फिर जो कुछ बच रहे उसीसे अपना निर्वाह करे। ऐसा करनेवाला ही पापोंसे छूटता है। जो ऐसा नहीं करता, केवल अपने मौज-शौक या अपने शरीर-पालनके लिये ही कमाता-खाता है, वह तो पाप कमाता है और पाप ही खाता है। पञ्चमहायज्ञका यही व्यापक अर्थ है और इसीके अनुसार सबको यथासाध्य करना चाहिये। यह विश्वरूप भगवान्की पूजा है और निष्कामभावसे इस प्रकार पूजा करनेवाले मनुष्यको भगवत्प्राप्ति होती है।

इसके सिवा दो बातें और विचारणीय हैं, एक तो यह कि इन पाँचोंसे हमारा बड़ा उपकार होता है। यदि हम उपकारका

बदला कुछ भी न दें तो हम कृतघ्न होते हैं और कृतघ्नकी बहुत बुरी गति होती है। दूसरे, मनुष्यके जीवन-निर्वाहके लिये अनेकों जीवोंकी नित्य अनिवार्य हिंसा होती है, उसके पापसे बचनेके लिये भी शास्त्रविधिके अनुसार पञ्चमहायज्ञकी आवश्यकता है। इन दोनों बातोंको कुछ समझ लेना है—पहले तो यह समझ लेना है कि ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणियोंसे हमारा क्या उपकार होता है; और दूसरे यह समझना है कि मनुष्यके लिये प्रतिदिन अनिवार्य हिंसा कौन-सी होती है, और उसके पाप-नाशके लिये शास्त्रमें क्या विधान है।

ऋषि

वेदके मन्त्रोंको अथवा सृष्टिके गुह्यतम रहस्योंको दिव्य दृष्टिसे देखनेवाले तत्त्वज्ञानी, ईश्वरभक्त, तपस्वी, सदाचारी, त्यागी, निःस्वार्थी, अरण्यवासी, पुण्यजीवन, प्रातःस्मरणीय ऋषियोंकी कृपासे ही शास्त्रोंकी रचना हुई, जिनके द्वारा मनुष्योंके ज्ञाननेत्र खुले और उन्हें विविध भाँतिकी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विद्याओं और कलाओंकी प्राप्ति हुई। उन परम पूजनीय महापुरुषोंने अपना सारा तपःपूत जीवन अकेले जंगलोंमें रहकर ज्ञानके अर्जनमें लगाया और बड़े ही उदारभावसे अपने उपार्जित ज्ञानको बिना किसी बदलेकी भावनासे केवल लोकोपकारार्थ—भगवान्के सृष्टियज्ञमें पवित्र आहुति देनेके भावसे—ग्रन्थित करके वे हमलोगोंको दे गये, और आज भी ग्रन्थोंके अतिरिक्त स्वयं, वे हमारे बिना ही माँगे और बिना ही पहचाने परोक्षरूपसे हमारी सहायता कर रहे हैं। यदि भगवद्रूप ऋषिगण शास्त्रोंद्वारा हमें ज्ञान प्रदान न करते तो हमारी न मालूम

दशा होती और हमारा वह पशुजीवन प्राकृतिक पशुओंसे भी
इम कितना नीचे गिरा हुआ होता । ये ऋषिगण भगवान्की
मक शक्तिके अधिष्ठाता हैं और जगत्में सदा-सर्वदा आनन्दमय
ज्ञानकी ज्योतिका विस्तार करते रहते हैं । इनके उपकारका
दला नहीं चुकाया जा सकता ।

देवता

वताओंके द्वारा ही सृष्टिका समस्त कार्य चल रहा है । देवता
न्की अधिदैवशक्तिके अधिष्ठाता हैं और प्रत्येक क्रियामें इन
का हाथ रहता है । देवताओंके द्वारा ही विश्वकी समस्त
सुसम्पन्न और सुरक्षित होती हैं । हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ,
दि सब, इन देवताओंकी सहायतासे ही बराबर कार्य करते
ताओंकी शक्तिसे ही कर्म जड होनेपर फल उत्पन्न करता है ।
ग्नि, वायु, अन्न आदिरूपमें देवता ही हमारा पोषण करते
स्यपर वर्षा बरसना, चन्द्र-सूर्यका नियमितरूपसे उदय और
ना, ऋतुओंका बदलना आदि कार्य देवताओंके ही हैं ।
ास्थ्य, आवश्यक पदार्थ और सुख-शान्तिकी प्राप्ति देवताओं-
ही होती है । देवताओंका हमपर बड़ा भारी उपकार है ।
य और नैमित्तिक-भेदसे दो प्रकारके हैं । रुद्र, आदित्य,
, प्रजापति, महाशक्ति आदि देव-देवियाँ नित्य हैं, और
देवयोनिको प्राप्त होनेवाले जीव एवं ग्रामदेवता, वनदेवता,
आदि नैमित्तिक हैं । दोनों ही प्रकारके देवताओंसे हमें
मिलती है ।

पितर

देवताओंकी भाँति पितर भी दो प्रकारके हैं—नित्य और नैमित्तिक। अर्यमा, अग्निष्वात्ता, सोमपा आदि पितर नित्य हैं, जो सृष्टिके आदिकालसे ही हमारी सहायतामें लगे हैं; तथा कर्मवश पितृलोकमें गये हुए हमारे पूर्वज नैमित्तिक पितर हैं। पितर भगवान्की आधिभौतिक शक्तिके अधिष्ठाता हैं। व्यक्तिगत और देशगत स्वास्थ्य, संतान, धन, विद्या आदिकी उन्नतिमें पितरोंका बहुत हाथ है। पितरोंकी कृपासे जगत् सुखी होता है। हमारे माता-पिता हमारे लिये कितना कष्ट सहते हैं, किस प्रकारसे स्वयं कष्ट सहकर हमारा पालन करते हैं, हमारे लिये उनके हृदयमें स्नेहका कितना अटूट भंडार भरा रहता है, इस बातका प्रायः सबको अनुभव है। माता-पिताके महान् उपकारका बदला संतान कब चुका सकती है! इसी प्रकार मरनेके बाद पितरलोकमें गये हुए पितर भी अपनी संतानकी हितकामना और उनका हित-साधन करते रहते हैं। नित्य पितर तो माता-पिताकी भाँति नित्य ही स्नेहपूरित हृदयसे सबका उपकार करते रहते हैं।

मनुष्य

मनुष्योंसे मनुष्योंके उपकारका तो सबको अनुभव है। यहाँ तो परस्परकी सहायता बिना एक मिनट भी काम नहीं चल सकता। संसारमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो यह कह सके कि मेरी जीवनयात्रा किसी भी दूसरे मनुष्यकी सहायताके बिना केवल अपने ही बलपर चल रही है। देश, जाति और समाजका संगठन ही पारस्परिक सहायतासे जीवनको सहज और सुखमय बनानेके लिये है।

राजा, बादशाह, विद्वान् आदि सभी दूसरे मनुष्योंसे सहायता प्राप्त करते हैं।

भूतप्राणी

भूतप्राणियोंका तो कहना ही क्या है? पशु-पक्षियोंसे, और ओषधि, लता, गुल्म और वृक्षादिसे मनुष्यका कितना भारी उपकार हो रहा है, इसका कोई सीमा-निर्देश नहीं कर सकता। गाय, बैल, भैंस, घोड़े, ऊँट, हाथी, खचर, गदहे, कुत्ते आदिसे तो प्रत्यक्ष ही हमारा उपकार होता है; परंतु विचारकर देखा जाय और प्राणिजगत्‌के रहस्यको समझनेकी चेष्टा की जाय तो पता लगेगा कि जिन प्राणियोंको मनुष्य हिंसक और भयानक समझकर सदा मारनेके लिये तैयार रहता है, वे प्राणी भी न मालूम हमारा कितना उपकार करते हैं। एक विद्वान् पुरुषने बतलाया था कि यदि साँप न होते तो जहरीली हवा फैल जाती जिससे मनुष्य रह नहीं सकते। जहरीली हवाको साँप भक्षण कर जाते हैं।

इस प्रकार ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्यान्य भूतप्राणी सभी हमारे उपकारी सिद्ध होते हैं। इनका ऋण किसी अंशमें चुकाकर कृतज्ञता प्रकट की जाय, तथा इनको पुष्ट एवं प्रसन्न करके विश्वको लाभ पहुँचाया जाय, इसके लिये पञ्चमहायज्ञ अवश्य करने चाहिये।

दूसरी बात है नित्य होनेवाली अनिवार्य हिंसाकी। गृहस्थमें विशेषरूपसे हिंसा पाँच प्रकारसे होती है। मनु महाराज लिखते हैं—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
(मनु० ३। ६८)

'गृहस्थके घरमें पाँच हिंसाके स्थान हैं—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखल और जलघट; इन वस्तुओंका उपयोग करनेवाला गृहस्थ पापके बन्धनमें पड़ता है।' इस पापसे छूटनेका उपाय वे बतलाते हैं—

> तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
> पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥
> (मनु० ३।६९)

'इन सब हिंसाओंके प्रायश्चित्तके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये क्रमसे नित्य पञ्चमहायज्ञ निर्माण किये।'—

> पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
> स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥
> (मनु० ३।७१)

'जो पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार इन पाँच महायज्ञोंको करता है, वह गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी नित्य हिंसाके पापसे लिप्त नहीं होता।'

यद्यपि आजकल पाश्चात्य सभ्यताके प्रसारसे हमारे घरोंमें प्रायः चक्की-ऊखलका बहिष्कार-सा होने लगा है, परंतु इनके बदलेमें बड़े-बड़े हिंसाके कार्य इतने बढ़ गये हैं, जिनका कोई ठिकाना नहीं। चक्की-ऊखलका काम भी मशीनोंद्वारा होता ही है, जहाँ और भी अधिक हिंसा होती है। सच पूछा जाय तो आजकल मनुष्य विषय-भोग और शारीरिक आरामके पीछे पागल होकर जिस लापरवाहीसे जीवहिंसा कर रहा है, उतनी शायद पहले कभी नहीं होती थी। इसमें प्रत्यक्षमें पशु-पक्षियोंकी हिंसासे बननेवाली दवाइयाँ और शौक-शौकके सामान, बड़ी-बड़ी इमारतें, मीलें, रेल, कारखाने, मशीनें,

कपड़े, जूते और न मालूम कितनी ऐसी मनुष्यकी बढ़ी हुई राक्षसी आवश्यकताओंको पूरी करनेवाली चीजें हैं, जिनके निर्माणमें असंख्य जीवोंकी हिंसा होती है। परंतु मनुष्यको इसका आज कोई खयाल नहीं है। प्राचीन कालके यज्ञोंमें होनेवाली हिंसा आजकी इस हिंसाके सामने समुद्रमें कणके समान है। आज मनुष्यके सुखके लिये एक-एक आविष्कारके प्रयोगमें न मालूम कितने निर्दोष प्राणियोंके प्राण हरण किये जाते हैं। आज एक मनुष्यके लिये दिनभरमें जितनी हिंसा होती है, उतनी शायद हिंसक जन्तु अपनी उदरपूर्तिके लिये नहीं कर सकता होगा। इस हिंसामय जीवनका उद्धार तो भगवान्‌के भजनसे ही होगा। परंतु कम-से-कम पञ्चमहायज्ञ तो जरूर ही करने चाहिये।

पञ्चमहायज्ञ किस प्रकार करें ?

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
(मनु० ३। ७०)

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥
(मनु० ४। २१)

'अध्यापन (स्वाध्याय) ब्रह्मयज्ञ या ऋषियज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलि भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है। इस ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञको सदा-सर्वदा यथाशक्ति करना चाहिये; इसका त्याग कभी नहीं करना चाहिये।'

अब इनमेंसे प्रत्येकपर कुछ-कुछ विचार करना है।

ऋषियज्ञ या ब्रह्मयज्ञ

महान् तपस्वी महर्षियोंके ऋणसे मुक्त होना तो हमारे लि सम्भव ही नहीं है और न ऋषियोंको ही किसीसे कुछ चाहना है परंतु अपनी कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये हमें ऋषियज्ञ या ब्रह्म अवश्य करना चाहिये। ब्रह्मयज्ञसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है और ऋषिग प्रसन्न होकर आध्यात्मिक प्रकाश फैलाते हैं, जिससे अपने पर कल्याणके साथ ही विश्वका कल्याण होता है। ऋषियज्ञ करनेके प्रकार हैं—

१—अपने-अपने अधिकार और योग्यताके अनुसार वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, गीता, स्मृति आदि सद्ग्रन्थोंको पढ़ना, सुनना और उनमें वर्णित ज्ञानको ग्रहण करना।

२—ऋषियोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार शुद्ध आचरण करना।

३—ऋषियोंके बनाये हुए आश्रम-धर्मके विधानपर चलना। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासका यथाविधि आचरण करना।

४—ऋषियोंके दिव्य उपदेशका जगत्में प्रचार हो, इसके लिये स्वयं उनके उपदेशानुसार आचरण करते हुए विश्वमें उसका प्रचार करना।

५—तर्पण-दानादिसे ऋषियोंको तृप्त करना।

देवयज्ञ

भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥
(३ । १०–१२)

'प्रजापतिने कल्पके आदिमें यज्ञके साथ ही प्रजाको रचकर कहा कि इस यज्ञद्वारा (देवताओंको प्रसन्न करके तुम) अपनी उन्नति करो । यह यज्ञ तुम्हें इच्छित फल देनेवाला हो । इस यज्ञके द्वारा तुम देवताओंकी उन्नति करो और देवता (अपनी शक्तिसे) तुम्हारी उन्नति करें । यों परस्पर उन्नति करते हुए तुम परम श्रेय (मोक्ष) को प्राप्त होओगे । यज्ञके द्वारा उन्नत (और शक्तिसंवर्धित) देवता तुम्हें (बिना ही माँगे) इच्छित प्रिय पदार्थोंको देंगे, उनके द्वारा दिये हुए पदार्थोंको जो मनुष्य उन्हें बिना ही दिये स्वयं भोगता है, वह निश्चय ही चोर है ।'

इससे देवयज्ञकी सार्थकता और आवश्यकता सिद्ध हो गयी । देवयज्ञसे इस लोकमें समस्त सुख और भगवदाज्ञानुसार निष्काम बुद्धिसे करनेपर परम कल्याण—मोक्षकी प्राप्ति होती है । देवताओंकी प्रसन्नता-से लोककल्याण तो आप ही होता है ।

देवताओंके दो स्वरूप हैं—एक देवलोकमें रहनेवाले शरीरधारी देव; दूसरा चन्द्र, सूर्य, जल, अग्नि, वायु, पृथिवी, विद्युत् आदिके रूपमें रहे हुए, तथा पशु, पक्षी आदि जीवोंके अधिष्ठातृ देवता । इन देवताओंकी जितनी उन्नति होगी, इनका कार्य जितना व्यवस्थित और सुचारुरूपसे होगा, उतना ही विश्वको सुख होगा । अन्न भी सच

पूछा जाय तो देवताओंने अपने कर्तव्यको प्रायः नहीं छोड़ा है, अपनी प्रतिज्ञापर दृढ़ हैं; परंतु हमलोगोंने देवयज्ञको छोड़कर अपन शर्त तोड़ दी, इसीलिये दैविक दुर्घटनाएँ आजकल जगत्‌में विशे हो रही हैं। इसका कारण यही है कि देवताओंकी क्रियाओंमें हमा दोषसे कहीं-कहीं गड़बड़ी आ जानेसे अधिदैव जगत्‌में अस्तव्यस्तता अ गयी है, उसीके फलस्वरूप अनावृष्टि, अतिवृष्टि, बाढ़, अकाल, भूकम्प, संक्रामक रोग आदि होते हैं। इसीका दूसरा नाम 'दैवीकोप' है।

सृष्टिकार्यके संचालनमें सबका भाग है। जगन्नाटकके सूत्रधारने प्रत्येक प्राणीको अलग-अलग पार्ट दे रक्खा है, एक भी पार्टके खराब होने या न होनेसे मालिकके खेलमें गड़बड़ी आ जाती है। इसीलिये सब ओर व्यवस्था रखनेका विधान है और शास्त्रोंकी रचना हुई है। मनुष्योंने अपना कर्तव्य छोड़ दिया, इसीलिये जगत्‌का खेल कुछ खराब-सा दीखने लगा और मनुष्योंपर विपत्तियाँ आने लगीं। खेल बिगाड़नेवाले अभिनेतापर नाटक-मण्डलीके स्वामीका कोप होना और उसे दण्ड प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। यह ऐसी संगठित व्यवस्था है कि ईश्वर-आज्ञानुसार अच्छेका फल अच्छा और बुरेका बुरा अपने आप ही हो जाता है।

भगवान् कहते हैं—

> अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
> यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
> कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
> तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥
(गीता ३ । १४-१६)

'अन्नसे प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है। कर्म ब्रह्म (वेद) से उत्पन्न होता है, ब्रह्म (वेद) अक्षर अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न है। इसलिये सर्वव्यापक परमात्मा सदा-सर्वदा यज्ञमें स्थित रहता है। हे पार्थ! जो इस लोकमें इस प्रकार चलते हुए सृष्टि-चक्रके अनुसार नहीं चलता (यज्ञ नहीं करता), वह इन्द्रियोंके सुख-भोगमें लगा रहनेवाला (कर्तव्यहीन) पापात्मा मनुष्य व्यर्थ ही जीता है।'

चक्रमें कहीं जरा-सी अस्तव्यस्तता हुई कि सारे रथकी गतिमें गड़बड़ी हो जाती है, इसीलिये देवयज्ञ अत्यन्त आवश्यक है। देवयज्ञ यह है—

(१) देवताओंके लिये शास्त्रविधिके अनुसार होम करना। हवनसे केवल वायुशुद्धि ही नहीं होती, बल्कि दैवजगत्‌से जो हमारा नित्य-सम्बन्ध है वह और भी दृढ़ होता है और देवताओंकी प्रसन्नतासे हमारे विघ्नबाधाओंके नाश और इच्छित सुख-भोगकी प्राप्तिमें विशेष सुगमता हो जाती है। होम यज्ञका एक प्रधान रूप है।

(२) शास्त्र-निर्णीत समयोंपर विभिन्न देवताओंकी निष्काम उपासना करना।

(३) देव-मन्दिरोंकी स्थापना और यथाविधि देव-पूजा करना।

(४) तर्पण-दानादिसे देवताओंको संतुष्ट करना।

(५) समस्त भूतप्राणियोंके साथ यथायोग्य सद्व्यवहार करके, एवं जल, वायु, अग्नि, विद्युत् आदिको पवित्र, क्रियाशील रख उनका यथायोग्य सदुपयोग करके सबके अधिष्ठातृ देवताओंको प्रसन्न और समुन्नत करना ।

पितृयज्ञ

मनु महाराजने 'तर्पण' को पितृयज्ञ बतलाया है। तर्पणमें तृप्तिका भाव है । इसका प्रधान उद्देश्य है पितरोंको तृप्त करना । उनके तृप्त होनेसे उनके आशीर्वादद्वारा हमारी सुख-समृद्धिकी अपने आप ही वृद्धि होती है । पितृयज्ञ यह है—

(१) जीवित माता-पिता और गुरुजनादिके चरणोंमें नित्य श्रद्धा-भक्तिसे प्रणाम करना, उनकी सेवा करना; अन्न, धन एवं आवश्यक पदार्थोंद्वारा उनके इच्छानुसार उन्हें तृप्त करना । उनका सच्चे हृदयसे हित चाहना और करना एवं उनकी शास्त्रसे अविरुद्ध सभी आज्ञाओंको स्वार्थ छोड़कर आदरपूर्वक पालन करना ।

(२) परलोकगत पितरोंके लिये नित्य श्राद्ध और तर्पण करना, एवं उनको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका उनके अर्थ योग्य पात्रको दान करना ।

(३) सदाचारपरायण रहकर परलोकगत पितरोंको सुख पहुँचाना; उनके आत्माकी शान्तिके लिये ब्राह्मणभोजन, व्रत, जप, तप, हवन आदि करना-कराना, भगवान्‌की भक्ति करके उन्हें और भी ऊँची गति अथवा मोक्षकी प्राप्ति करानेके लिये प्रयत्न करना । परलोकगत

पितर सदाचारी, हरिभक्त संतानसे बहुत आशा रखते हैं और ऐसे संतानको देखकर वे अत्यन्त ही प्रसन्न होते हैं। यहाँतक कि हर्षके मारे वे नाच उठते हैं। शास्त्रमें कहा है—

आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति॥

कथा प्रसिद्ध है कि प्रह्लादकी भक्तिसे उसके पितृकुलका उद्धार हो गया था।

(४) हरिनाम-संकीर्तनके द्वारा परलोकगत पितरोंके कष्टोंका हरण करना। यह अनुभवसिद्ध प्रयोग है।

(५) सदाचार, सेवा, सद्व्यवहार और दानादिके द्वारा जगत्में अपने पितरोंकी कीर्ति फैलाना।

एक बात याद रखनेकी है कि हम जो आज मनुष्यशरीरको प्राप्त हैं सो पहले भी सदासे मनुष्य ही थे ऐसी बात नहीं है; जितनी प्रकारकी योनियाँ भगवान्ने रची हैं, प्रायः सभी योनियोंमें हम उत्पन्न हो चुके हैं, और उन सभी योनियोंके हमारे माता-पिता आदि अब भी (जो मुक्त न हो गये हैं) विश्वमें कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी योनि और स्थितिमें वर्तमान हैं। अतः इस न्यायसे भी हमारा सबके साथ आत्मीय सम्बन्ध है। इसीलिये सबकी तृप्तिके निमित्त श्राद्ध और तर्पणका विधान है। विष्णुपुराणमें कहा है कि तर्पणके समय पितरोंका तर्पण करके इस प्रकार कहता हुआ मनुष्य सब भूतोंकी तृप्तिके लिये सबको जल दे—

'देव, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर और वायुभक्षक सर्प

आदि सभी प्रकारके जीव मेरे दिये हुए जलसे तृप्त हों। जो प्राणी सम्पूर्ण नरकोंमें नाना प्रकारकी यातनाएँ भोग रहे हैं, उनकी तृप्तिके लिये मैं जल-दान करता हूँ। जो मेरे बन्धु हैं या अबन्धु हैं अथवा जो दूसरे जन्मोंमें मेरे बन्धु थे एवं और भी जो-जो मुझसे जलकी इच्छा रखते हैं वे सब मेरे दिये जलसे तृप्त हों। भूख-प्याससे व्याकुल जीव कहीं भी क्यों न हों; मेरा दिया हुआ यह तिलोदक उनकी सदा तृप्ति करता रहे।' (विष्णुपुराण ३ । ११ । ३२—३७)

देखनेमें यह बहुत ही उदार भावना है; और उदार भावना है भी! परंतु वास्तवमें यह कर्तव्य ही है। सृष्टिचक्रके संचालनार्थ भगवान्‌के आज्ञानुसार सबकी उन्नति करनेमें ही अपनी उन्नति है। विश्वमात्रके समस्त प्राणियोंको तृप्त करना ही तर्पणका उद्देश है।

मनुष्ययज्ञ

मनुष्यका कार्य मनुष्यसे ही चलता है, अतएव प्रत्येक मनुष्यको अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार मनुष्यमात्रकी सेवा करनी चाहिये। वह इस प्रकार हो सकती है—

(१) अपने आश्रित जनोंका आदरपूर्वक पालन-पोषण करना।

(२) रोगियोंकी आदर-सत्कार और सावधानीसे सेवा करना।

(३) किसी भी मनुष्यको दुःख न पहुँचाकर यथासाध्य अन्न, वस्त्र, सत्परामर्श, सद्विद्या और सद्व्यवहार आदिसे सबको सुख पहुँचाना। यथासाध्य सेवा करानेकी इच्छा न रखकर सेवा करनेकी इच्छा रखना और यत्न करना। इतनेपर भी दूसरोंसे सेवा तो करानी ही पड़ेगी, क्योंकि जीवन-निर्वाहमें इससे बचनेकी गुंजाइश ही नहीं है।

(४) अपने सदाचरण, उत्तम बर्ताव और भगवद्भक्ति
दूसरे मनुष्योंके लिये उत्तम आदर्श उपस्थित करना ।

(५) सदा निष्कामभावसे सबके हितमें संलग्न रहना ।

इसमें जिससे जितना अधिक कार्य हो सके, उतना ही करन
और अधिकाधिक करनेकी चेष्टा करते रहना । अपनेको मनुष्य-जाति
सेवक मानकर कहीं गर्वमें नहीं फूल उठना चाहिये । वास्तवमें ए
मनुष्य असंख्य मनुष्योंसे जितनी सेवा ग्रहण करता है, अकेला उ
सबका बदला कभी चुका ही नहीं सकता । अतएव जितनी से
हो सके उतनीको ही थोड़ी समझे, और सेवा करनेका अवस
भगवान्ने दिया इसके लिये भगवान्की कृपा समझे, एवं सेवा करानेवाले
ने हमारी तुच्छ सेवा स्वीकार की इसके लिये उनका उपकार मानक
कृतज्ञ हृदयसे सदा विनम्र रहता हुआ सेवामें लगा ही रहे । शा
कारोंने सबके सुभीतेके लिये केवल अतिथि-सेवनको ही मनुष्ययज्ञ
बतलाया है, अतएव अतिथि-पूजन तो अवश्य ही करे । धन अं
अन्न पैदा करना, रसोई बनाना आदि सभी कार्य यज्ञरूप है
रसोईमें जो कुछ बने, उससे पहले बलिवैश्वदेवके द्वारा सबके लि
भाग निकालकर फिर अतिथिको सादर भोजन कराना चाहिये
'अतिथिदेवो भव' यह श्रुतिवाक्य प्रसिद्ध है । पाराशर-स्मृति
कहा है—

> वैश्वदेवविहीना ये आतिथ्येन बहिष्कृताः ।
> सर्वे ते नरकं यान्ति काकयोनिं व्रजन्ति च ॥
> पापो वा यदि चाण्डालो विप्रघ्नः पितृघातकः ।
> वैश्वदेवे तु सम्प्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥
> (१ । ५३-५८

'जो वैश्वदेव नहीं करते तथा अतिथिका सत्कार नहीं करते, वे सब नरकोंमें पड़ते हैं और फिर कौएकी योनिको प्राप्त होते हैं। वैश्वदेवके समय आनेवाला चाहे पापी हो, चाण्डाल हो, ब्रह्महत्यारा हो या अपने पिताको मारनेवाला ही क्यों न हो वह अतिथि है और उसका सत्कार करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।' मतलब यह कि रसोई बननेके बाद बलिवैश्वदेव होनेपर कोई भी आ जाय, अन्न देकर उसका सत्कार अवश्य करना चाहिये ।

विष्णुपुराणमें लिखा है कि 'वैश्वदेव करनेके बाद गौ दुहनेमें जितना समय लगता है उतने समयतक अथवा इससे भी अधिक देरतक अतिथिकी बाट देखता हुआ आँगनमें खड़ा रहे । अतिथि आ जाय तो उसका स्वागत करे, आसन दे और चरण धोकर सत्कार करे। फिर श्रद्धापूर्वक उसे भोजन करवाकर मीठी वाणीसे कुशल-प्रश्न पूछता हुआ उसके जानेके समय कुछ दूरतक पीछे-पीछे जाकर उसको प्रसन्न करे । जिसके कुल और नामका कोई पता न हो तथा जो दूर देशसे आया हो, उसीको अतिथि माने, गाँवमें रहनेवाले परिचितको नहीं। ('परिचित और सम्बन्धीका तो सत्कार करना ही चाहिये) परंतु जिसके पास कोई सामग्री न हो, जिससे कोई सम्बन्ध न हो, जिसके कुल-शीलका कोई पता न हो और जो भोजन करना चाहता हो ऐसे अतिथिका सत्कार किये बिना भोजन करनेवाला मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होता है। गृहस्थको चाहिये कि अतिथिके अध्ययन, गोत्र, आचरण और कुल आदिके विषयमें कुछ भी पूछ-ताछ न कर हिरण्यगर्भ भगवान्की बुद्धिसे उसकी पूजा करे । जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौट

जाता है उसे वह अपना पाप देकर उसके शुभ कर्मोंका हरण करके ले जाता है। धाता, प्रजापति, इन्द्र, अग्नि, वसु और अर्यमा ये समस्त देव और पितर अतिथिमें प्रविष्ट होकर अन्न-भोजन करते हैं। अतएव मनुष्यको अतिथिपूजनके लिये सदा चेष्टा करनी चाहिये। जो पुरुष अतिथिको भोजन न देकर स्वयं भोजन करता है वह केवल पाप ही खाता है—

स केवलमघं भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते ह्यतिथिं विना।

तदनन्तर नैहरमें आयी हुई विवाहिता कन्या, दुखिया, गर्भिणी स्त्री, वृद्ध और बालकोंको संस्कृत अन्नसे भोजन कराकर अन्तमें गृहस्थ स्वयं भोजन करे। इन सबको भोजन कराये बिना ही जो स्वयं भोजन कर लेता है, वह पापमय भोजन करता है और अन्तमें मरकर नरकमें श्लेष्मभोजी कीड़ा होता है। (विष्णुपुराण ३। ११। ८ से ६३, ६८ से ७२)

इसी प्रकार मनु महाराजके भी वचन हैं—

सायंकाल सूर्यास्त हो जानेपर या बलिवैश्वदेवके समय यदि अतिथि घरपर आ जाय तो उसे वापस न करे। घरमें ठिकाकर भोजन कराये। घी, दूध, दही आदि जो पदार्थ अतिथिको नहीं खिलाया गया हो उसे स्वयं भी न खाय। अतिथिकी सेवा करनेसे धन, कीर्ति, आयु और स्वर्गकी प्राप्ति होती है। अन्यान्य मित्र, सम्बन्धी आदि घरपर आ जायँ तो यथाशक्ति उनको भी, स्वयं अपनी स्त्रीसहित सेवामें उपस्थित रहकर उत्तम भोजन करावे। सुवासिनी स्त्री, कुमारी कन्या, रोगी और गर्भिणी स्त्रीको अतिथियोंके पहले भोजन करानेमें कोई विचार न करे। जो मूर्ख इन सबको खिलाये बिना ही

स्वयं पहले खा लेता है वह इस बातको नहीं जानता कि मरनेके बाद मेरे शरीरको कुत्ते और गीध नोच-नोचकर खायँगे। ब्राह्मण, अतिथि, सम्बन्धी और माता-पितासे लेकर नौकरतक पोष्यवर्ग आदिको भोजन करानेके बाद बची हुई रसोईको पति-पत्नी भोजन करें। देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर और घरके देवताओंका (अन्नके द्वारा) पूजन करके पीछे गृहस्थ उनसे बचा हुआ अन्न खाय। जो मनुष्य पञ्च-महायज्ञ न करके केवल अपना पेट भरनेके लिये भोजन तैयार करता है वह केवल पाप ही खाता है; क्योंकि यज्ञसे बचा हुआ अन्न ही सत्पुरुषोंको भोजन करना चाहिये, यही शास्त्रविधि है। (मनुस्मृति ३ । १०५-१०६, ११३-११८)

इस प्रकार नित्य स्वयं अतिथिसेवन करे। परंतु जहाँतक हो सके किसीका अतिथि बने नहीं। नहीं तो, मुफ्तखोरीकी आदत पड़ जायगी और लोगोंकी श्रद्धा अतिथि-सेवासे हट जायगी। आजकल प्रायः ऐसा ही हो रहा है। मनु महाराज तो कहते हैं—

> उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
> तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥
> (३ । १०४)

पराये भोजनका दोष न जाननेवाले जो गृहस्थ दूसरेके घर अतिथि बनकर भोजन करते हैं, वे मरकर भोजन करानेवालोंके घर पशु होते हैं।

भूतयज्ञ

जगत्में जितने प्राणी हैं, सभी श्रीपरमात्माके अंश हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(११।२।४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्रादि, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र आदि समस्त भूत भगवान् श्रीहरिके शरीर ही हैं; अतः सबको अनन्यभावसे प्रणाम करे।' एकान्त-भक्तोंके लिये तो भगवान् अपने भक्त उद्धवसे कहते हैं—

प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥
(११।२९।१६)

'कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गदहेको भी (मेरा स्वरूप समझकर) पृथ्वीपर गिरकर साष्टाङ्ग प्रणाम करे।'

इस प्रकार भगवत्-स्वरूप होनेसे सभी प्राणी पूज्य और सेवाके पात्र हैं। जहाँतक हो सके यथायोग्य व्यवहार करते हुए सबके साथ उत्तम-से-उत्तम बर्ताव करना चाहिये। मनुष्यके लिये प्राणियोंकी बहुत बड़ी हिंसा होती है। मनुष्यके श्वाससे नित्य न मालूम कितने जीव मारे जाते हैं। खेती आदिमें तो हिंसा होती ही है। इसके सिवा बड़े दुःखकी बात तो यह है कि मनुष्य अपने पापी पेटको भरने और जीभके स्वादके लिये मूक पशु-पक्षियोंको मारकर उनका मांस खाते हैं। यह बहुत बुरी बात है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥
(११।५।१४)

'यथार्थ तात्पर्यको न जाननेवाले जो लोग अति गर्व और पाण्डित्याभिमानके कारण पशुओंसे द्रोह करते हैं, उनके द्वारा वध किये हुए वे पशु मरकर उन्हींको खाते हैं।' किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचाना सबके आत्मारूप परमात्मासे ही द्रोह करना है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
> मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥
> (११।५।१५)

'इस अवश्य नष्ट होनेवाले शरीर और एक दिन अवश्य ही छूट जानेवाले धनमें स्नेह करके जो मनुष्य दूसरे शरीरोंमें स्थित अपने ही आत्मा श्रीहरिसे द्वेष करते हैं, वे अवश्य ही अधोगतिको प्राप्त होते हैं।'

अतएव मांसाहार बिल्कुल छोड़ देना चाहिये और यथासाध्य समस्त जीवोंको सुख पहुँचाने और उनका हित करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

अन्न और रसोईमेंसे प्रतिदिन गौ, बैल, कुत्ते, बिल्ली, बंदर, कबूतर, कौए आदि पशु-पक्षियोंको पहले देना चाहिये। घरमें इनका रहना परोक्षरूपसे बड़ा लाभदायक है। इस लाभको हमलोग समझ नहीं सकते, इसीसे उनकी कद्र नहीं करते। अतएव इनका स्वत्व इन्हें देना ही चाहिये। इसके सिवा, हम न मालूम कितनी बार पशु-पक्षी हो चुके हैं, और यदि मुक्त नहीं होंगे तो कितनी बार फिर भी होना पड़ेगा। इस अवस्थामें यदि हम इन्हें अन्न-जलादि

देकर सुखी रक्खेंगे तो वैसी योनि प्राप्त होनेपर हम भी वैसी ही आशा रख सकते हैं। यदि यह प्रथा चल जायगी कि पशु-पक्षियोंको कुछ भी न दिया जाय तो घरमेंसे धर्म तो उठ ही जायगा, साथ ही जब हम उस योनिमें जायँगे तो हमे भी अभावका दुःख उठाना पड़ेगा। यदि इसके बदलेमें पशु-पक्षियोंको उदारतासे अन्नादि दिये जानेकी प्रथा सुचारुरूपसे चल जाय तो उक्त योनियोंमें जानेवाले आजके सभी मनुष्योंके लिये सुखकी आशा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सर्वभूतस्थित ईश्वरकी सेवा तो होती ही है। और यदि ईश्वरकी सेवाके भावसे किसी प्रकारकी भी कामना न रखकर सब जीवोंकी सेवा की जाय तो उसको फलस्वरूप भगवत्-प्राप्ति हो सकती है। अतएव यथासाध्य समस्त भूत-प्राणियोंकी सेवा करनी चाहिये। गौ, कुत्ते, बिल्ली, कबूतर, कौए, चींटी आदि सबको यथासाध्य अन्न-जल देना चाहिये। एवं रसोई बननेपर बलिवैश्वदेवमें सबके लिये बलि देनी चाहिये। विष्णुपुराणमें कहा है—

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओंमें क्रमशः इन्द्र, यम, वरुण और चन्द्रमाके लिये हुतशिष्ट सामग्रीसे बलि दे। पूर्व और उत्तर दिशाओंमें धन्वन्तरिके लिये बलि दे तथा इसके अनन्तर बलिवैश्वदेव-कर्म करे। बलिवैश्वदेवके समय वायव्यकोणमें वायुको तथा अन्य सम्पूर्ण दिशाओंमें वायु एवं उन दिशाओंको बलि दे। इसी प्रकार ब्रह्मा, अन्तरिक्ष और सूर्यको भी उनकी दिशाओंके अनुसार बलि दे। फिर विश्वदेवों, विश्वभूतों, विश्वपतियों, पितरों और यक्षोंके लिये यथास्थान बलि-प्रदान करे।'

साध्य और साधन

—सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्वयं ही अपने स्वरूपके ज्ञाता हैं,
चिनीय हैं, अनुभवगम्य हैं ।

—भगवान् ही सब कुछ हैं, भगवान् ही सब रूपोंमें भासते हैं ।
ही अपनी मायाशक्तिके द्वारा सब रूपोंमें परिणत हैं, भगवान्-
सबकी उत्पत्ति है, उन्हींमें सबका निवास है, उन्हींमें सब
हैं । सृष्टि-स्थिति-प्रलयके आधार, निवास और कर्ता वही
त् हैं, सत्-असत् हैं, सत्-असत् दोनोंसे परे हैं । सब कुछ
। सब कुछमें हैं, 'सब कुछ' कुछ नहीं है, केवल वे ही हैं ।
में अपनी-अपनी सीमामें सत्य हैं । इतनेपर भी भगवान् इन
क्षण हैं । जितना भी परमात्माके स्वरूपका वर्णन होता है,
चन्द्रन्यायसे उनका लक्ष्य करानेके लिये ही है ।

भगवान् सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर, सर्वशिरोमणि, सर्व-
र्वज्ञ, सर्वरूप, सर्वगुणनिधि, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, शिव,
तीत और कालातीत हैं । वे निर्गुण हैं, सगुण हैं, निराकार
हैं, दोनोंसे परे हैं, उनमें सब कुछ सम्भव है । असम्भवको
र असम्भवको असम्भव कर देना उनकी लीलामात्र
निकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ' हैं ।

एकदेशीय, एकदेशीय न होते हुए ही अवतार लेते हैं,
, भक्तोंके उसके इच्छानुसार दिव्य स्वरूप दिव्य लीलासे
कृतार्थ करते हैं । यह सर्वथा सत्य है । वे परम दयालु,
परम न्यायकारी, परम पिता, स्नेहमयी माता, स्वामी,
। वे पतितपावन, दीनबन्धु, अशरणशरण, भक्तवत्सल

हैं, इसीलिये अपना दिव्य साकाररूप प्रकट करते हैं। वे सम, उदासीन, पक्षपातहीन, सबके आश्रय, शुभ-प्रेरक, अशुभबाधक, रक्षक, योग-क्षेमवाहक, शरणागतवत्सल, प्रेममय और पावनकर्ता हैं।

५—उनको प्राप्त करनेके अनेक मार्ग हैं, अपने-अपने अधिकारके अनुसार मार्गोंका अनुसरण होता है। अनेकों नाम-रूपोंसे आख्यात भगवान् वास्तवमें एक ही हैं, उनको पानेके मार्ग भिन्न हैं। जैसे भगवान्की एकतामें कभी द्वैत नहीं हो सकता, ऐसे ही सभी मार्गोंकी कभी एकता नहीं हो सकती। लक्ष्य-स्थान एक है, परंतु वहाँ पहुँचनेके पथ सदा ही अलग-अलग रहेंगे।

६—अपनी अपनी दिशासे अपने पथपर चलकर सबको भगवान्की ओर बढ़ना चाहिये। मनुष्य-जीवनका यही परम और चरम उद्देश्य है।

७—जो इस उद्देश्य-सिद्धिमें लगे हैं वही बुद्धिमान् हैं, शेष सब लोग भूलमें हैं। इस भूलका परिणाम महान् दुःखदायी होगा।

८—ईश्वरके न होनेकी बात करना और सुनना वस्तुतः महापाप है। इस महापापसे सबको सदा बड़ी सावधानीसे बचना चाहिये।

९—'ईश्वर है' यह विश्वास दृढ़ और पूर्ण होनेपर सारे दोष आप ही मिट जायँगे और सदाके लिये परम शान्ति प्राप्त हो जायगी। ईश्वर-कृपापर भरोसा करनेसे ही ईश्वरमें विश्वास होगा।

१०—इसके लिये संत-महात्माओं और शास्त्रोंकी वाणीका विश्वासपूर्वक श्रवण, मनन करना चाहिये तथा शरणागत होकर भगवान्से आर्त प्रार्थना करनी चाहिये।

११—भगवान्के नामका जप प्रेमसहित सदा करते रहना चाहिये। जीवन बीता जा रहा है। यह व्यर्थ चला जायगा तो फिर पछतावेका पार नहीं रहेगा।

धर्मरक्षाके लिये भगवदाश्रयकी आवश्यकता

धर्म नित्य है। ईश्वरकी सृष्टिमें धर्मका कभी विनाश नहीं हो सकता। धर्मका नाश नहीं, परंतु धर्मपर चलनेवाले लोगोंकी ही न्यूनाधिकता हुआ करती है। जब धर्मपर आरूढ़ मनुष्योंकी संख्या बढ़ती है, तब धर्मकी उन्नति कहलाती है और जब उनकी संख्या कम हो जाती है या बहुत घट जाती है, तब उसे धर्मका ह्रास या नाश कहते हैं। इसलिये धर्मरक्षाका अर्थ धार्मिक मनुष्योंकी रक्षा और वृद्धि ही है। जब युगप्रभाव, कुसङ्गति, कुसंस्कार, राज्यदोष आदि एक या अनेक कारणोंसे जगत्में अनाचार बढ़ जाता है, तब धर्म और धार्मिकोंका विरोध ही उन्नतिका स्वरूप समझा जाने लगता है। ईश्वर और धर्मके विनाशकी व्यर्थ चेष्टा ही उस समयके विषय-विलास-विमोहित, काम-भोगपरायण मनुष्योंकी जीवनचर्या बन जाती है। वे बुद्धिमें विपर्यय हो जानेके कारण अपनी समझसे बड़ी अच्छी नीयतसे ही ऐसा किया करते हैं। ऐसी अवस्थामें उनका विरोध करने, उनके लिये मानवी दण्डकी व्यवस्था करने अथवा श्रद्धा और साधनासे उपलब्ध होनेवाले तत्त्वको उन्हें समझानेकी चेष्टासे काम नहीं चलता। जबतक उनकी समझमें परिवर्तन नहीं होगा, तबतक वे अपनी चाल कदापि नहीं छोड़ेंगे और त्याग, तप आदि उत्तम एवं छल-बल-कौशलादि मध्यम एवं अधम उपायोंसे अपने कार्यको जारी रखना ही कर्तव्य समझेंगे। इस स्थितिमें उनकी बुद्धिके पलटनेका एकमात्र उपाय है तो वह श्रद्धायुक्त धार्मिक पुरुषोंद्वारा किया जानेवाला भगवदाराधन ही है। प्राचीन कालमें ऋषिगण प्रायः यही किया करते थे और सफल होते थे।

आज जगत्में अनाचारकी वृद्धि हो रही है और धर्मविरोधी लोगोंकी संख्या क्रमशः बढ़ी चली जा रही है। आजके अधिकांश शिक्षालय, उपदेशक और पथप्रदर्शक लोग मनुष्योंको यही शिक्षा देना और इसी मार्गपर चलाना अपना कर्तव्य समझते हैं। इसीसे आज धर्मका नाश या ह्रास हो चला है, परंतु इसका वास्तविक प्रतीकार जिस भगवदाराधनसे ही हो सकता है, उससे लोग उदासीन-से होते चले जाते हैं और उन्हीं छल, बल, कौशलादि उपायोंका आश्रय लेते हैं कि जिनमें स्वाभाविक ही वे अपने प्रतिद्वन्द्वियोंकी बराबरी नहीं कर सकते। इसीसे सफलता भी प्रायः नहीं मिलती। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि धर्मरक्षाके लिये यत्न नहीं किया जाय, जो लोग धर्म-रक्षाके लिये शास्त्रविहित निर्दोष उपायोंका अवलम्बन करते हैं और स्वार्थत्यागपूर्वक यथाशक्ति प्रयत्न कर रहे हैं वे सर्वथा आदरणीय और स्तुत्य हैं। इस धर्म-विरोधी वातावरणमें उनका यह सत्साहस और धर्मका आग्रह सर्वथा आदर्श है और प्रत्येक धार्मिक नर-नारीको तन, मन, धनसे यथाशक्ति इस धर्मरक्षाके कार्यमें जी खोलकर सहायता करनी चाहिये। अधर्म चाहे एक बार युगप्रभाव आदि कारणोंसे बढ़ता हुआ नजर आये, परंतु अन्तमें धर्मकी जय निश्चित है। इतना होनेपर भी मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार बिना भगवदाश्रय और भगवदाराधनके वास्तविक सफलता शीघ्र नहीं मिल सकती। भगवदाश्रयरहित धर्म, यथार्थमें धर्म ही नहीं है। अतएव धर्मरक्षाके लिये प्रत्येक धर्मप्रेमी व्यक्तिको भगवान्‌का ही प्रधान सहारा लेकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवदाराधन करते हुए ही धर्मरक्षाके लिये अन्यान्य उपायोंमें प्रयत्न करना चाहिये, तभी शीघ्र और पूर्ण सफलता होगी।

पाँच दिशाएँ

भगवान् बुद्धका सृगाल नामक एक शिष्य प्रतिदिन स
करके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे—इन छहों दिश
को प्रणाम किया करता था। एक दिन भगवान्ने कृपा करके
इन दिशाओंकी पूजाका रहस्य इस प्रकार समझाया—

माता-पिताको पूर्व दिशा समझना, गुरुको दक्षिण दिशा,
को पश्चिम, मित्र-बान्धवोंको उत्तर, सेवकोंको नीचेकी और
ब्राह्मणोंको ऊपरकी दिशा समझना।

पूर्व दिशा अर्थात् माता-पिताकी पूजाके पाँच अङ्ग हैं—

१—उनके काम करना, २—भरण-पोषण करना, ३—
प्रचलित सत्कर्मोंको चालू रखना, ४—उनकी सम्पत्तिका हिफ
करना और ५—मरनेपर उनके नामसे दान-धर्म करना। इन
अङ्गोंके द्वारा पूजित माता-पिता संतानपर पाँच प्रकारसे अ
करते हैं—१—उनको पापसे बचाते हैं, २—कल्याणकारी
पर ले जाते हैं, ३—कला-कौशल सिखलाते हैं, ४—योग्य
साथ उसका विवाह कर देते हैं और ५—उपयुक्त समयपर
सम्पत्ति सौंप देते हैं।

दक्षिण दिशा अर्थात् गुरुकी पूजाके पाँच प्रकार हैं—१—
सामने आनेपर उठकर खड़े हो जाना, २—बीमार पड़नेपर
सेवा करना, ३—उनकी दी हुई शिक्षाको श्रद्धापूर्वक ग्रहण
४—उनके काम करना और ५—वे जो विद्या-दान करें उसे

रीतिसे ग्रहण करना । इन पाँच प्रकारोंसे पूजित गुरु अपने उस शिष्यपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं । १—सदाचार सिखाते हैं, २—उत्तम रूपसे विद्या-दान करते हैं, ३—अपनी सीखी हुई सम्पूर्ण विद्या सिखा देते हैं, ४—अपने आत्मीयस्वजनोंमें उसका गुण वर्णन करते हैं और ५—शिष्यको कहीं भी खान-पानकी अड़चन न भोगनी पड़े, इसकी व्यवस्था करते हैं ।

पश्चिम दिशा अर्थात् पत्नीकी पूजाके पाँच अङ्ग हैं— १—उसका सम्मान करना, २—अपमान न होने देना, ३—एकपत्नीव्रतका पालन करना, ४—घरका कारोबार उसे सौंप देना और ५—वस्त्रालङ्कारकी कमी न होने देना । इन पाँच अङ्गोंसे पूजित पत्नी पतिपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करती है । १—घरमें सुव्यवस्था रखती है, २—नौकर-चाकरोंकी प्रेमसे सँभाल करती है, ३—पतिव्रता होती है, ४—पतिसे प्राप्त की हुई सम्पत्तिकी रक्षा करती है और ५—समस्त गृहकार्योंमें तत्पर रहती है ।

उत्तर दिशा अर्थात् मित्रमण्डलकी पूजाके पाँच अङ्ग हैं— १—उन्हें प्रदान करने योग्य वस्तु देना, २—उनके साथ मीठा बोलना, ३—उनके उपयोगी बनना, ४—उनके साथ समताका बर्ताव करना और ५—निष्कपट व्यवहार करना । इन पाँच अङ्गोंसे पूजित मित्र-मण्डल पाँच प्रकारसे अनुग्रह करता है । १—अचानक संकट आ पड़नेपर उसकी रक्षा करते हैं, २—ऐसे अवसरपर उसकी सम्पत्ति-की भी रक्षा करते हैं, ३—संकटमें घबरा जानेपर उसे धीरज देते हैं, ४—विपत्तिकालमें छोड़कर नहीं जाते और ५—उसके बाद उसकी संततिका भी उपकार करते हैं ।

नीचेकी दिशा अर्थात् सेवकोंकी पूजाके पाँच अङ्ग हैं—१–उनकी शक्ति देखकर तदनुसार काम देना, २–पर्याप्त वेतन देना, ३–बीमार पड़नेपर देख-भाल करना, ४–उत्तम भोजन देना और ५–समय-समयपर उत्तम कामके बदलेमें उन्हें पुरस्कार देना। इन पाँच अङ्गोंसे पूजित सेवक अपने स्वामीपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१–स्वामीके उठनेसे पहले उठते हैं, २–स्वामीके सोनेके बाद सोते हैं, ३–स्वामीके सामानकी चोरी नहीं करते, ४–उत्तम प्रकारसे काम करते हैं और ५–स्वामीका यशोगान करते हैं।

ऊपरकी दिशा अर्थात् साधु-ब्राह्मणोंकी पूजाके भी पाँच अङ्ग हैं—१–शरीरसे उनका आदर करना, २–वाणीसे आदर करना, ३–मनसे आदर करना, ४–भिक्षा लेने आवें तब उनका किसी प्रकार भी अपमान न करना और ५–उन्हें उपयोगी वस्तु देना। इन पाँच प्रकारसे पूजित साधु-ब्राह्मण गृहस्थपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१–उसको पापसे बचाते हैं, २–उसे कल्याणकारी मार्ग-पर ले जाते हैं, ३–प्रेमपूर्वक उसपर दया करते हैं, ४–उसे उत्तम धर्म सिखाते हैं और ५–शङ्का-निवारण करके उसके मनका समाधान करते हैं एवं उसे स्वर्गका मार्ग दिखाते हैं।

दान, प्रियवचन, अर्थचर्या (उपयोगी बनना) और समा-नात्मता—सबको अपने समान समझना—ये चार लोकसंग्रहके साधन हैं। माता-पिता यदि इन साधनोंका उपयोग न करते तो केवल जन्म देने मात्रसे पुत्र उनका गौरव नहीं मानता। विज्ञ पुरुष इन चार साधनोंका उपयोग करके जगत्में ऊँचा पद प्राप्त करते हैं।

दुर्व्यवहारसे दुर्गति

जो पुरुष अपनी साध्वी स्त्री तथा अन्यान्य आश्रितोंके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, थोड़ी-सी भूलके लिये बात-बातमें क्रोधातुर होकर उन्हें डाँटते-फटकारते, उनका तिरस्कार करते और उन्हें जली-कटी सुनाया करते हैं, उनके पाप निरन्तर बढ़ते रहते हैं और वे लोक-परलोकमें भयानक दुःखोंके भागी होते हैं। ऐसे लोगोंपर भगवान्‌की कृपा नहीं होती और उनके पूजा-पाठ, धर्म-कर्म, तीर्थ-व्रत आदि भी सफल नहीं होते। पद्मपुराणमें कहा गया है—

पतिव्रतरतां भार्यां सुगुणां पुण्यवत्सलाम् ॥
तामेवापि परित्यज्य धर्मकार्यं प्रयाति यः ।
वृथा तस्य कृतः सर्वो धर्मो भवति नान्यथा ॥
भार्यां विना हि यो लोके धर्मं साधितुमिच्छति ।
विफलो जायते लोके नान्नमश्नन्ति देवताः ॥

(भूमिखण्ड अ० ५९)

'जो पुरुष अपनी सद्गुणवती, पुण्यानुरागिणी पतिव्रता पत्नीका परित्याग कर धर्मके लिये बाहर जाता है, उसका किया हुआ सारा धर्म व्यर्थ होता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।'

'जो पुरुष अपनी पत्नीको छोड़कर धर्मसाधनकी इच्छा करता है, वह संसारमें असफल होता है और उसका अन्न देवता ग्रहण नहीं करते।'

खास करके जो पुरुष अपनी पुत्रादिरहित पत्नीको निराश्रय छोड़कर संसार-त्याग करनेकी इच्छा करता है, वह तो बहुत बड़ा प्रमाद करता है; क्योंकि ऐसी परित्यक्ता स्त्री यदि विपरीत परिस्थितिमें पड़कर किसी प्रकार भी पथभ्रष्ट हो दुश्चरित्रा हो जाती है तो उस पुरुषकी कई पीढ़ीतक पितरोंको नरकोंमें जाना पड़ता है। और इसका सारा दायित्व उस पुरुषपर होता है। पतिके दुर्व्यवहारसे अत्यन्त पीड़ित होकर जिसकी स्त्री आत्मघात आदि दुष्कर्म कर बैठती है, उस पापकी पुरुषको इस लोक और परलोकमें भयानक दुःखोंकी प्राप्ति होती है।

जो पुरुष अपनी पत्नीका परित्याग करके परस्त्रीमें आसक्त होता है या दूसरी स्त्रीको पत्नी बनाता है, वह जन्मान्तरमें स्त्रीयोनिको प्राप्त होकर विधवा होता है—

> यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसम्भवाम्।
> परदाररतो हि स्यादन्यां या कुरुते स्त्रियम्॥
> सोऽन्यजन्मनि देवेशि स्त्री भूत्वा विधवा भवेत्॥
>
> (स्कन्दपुराण)

इसी प्रकार जो स्त्री स्वेच्छासे या किसीके प्रस्तावसे सम्मत होकर परपुरुषसे आसक्त हो कुकृत्य करती है, पतिको कष्ट पहुँचाने तथा पवित्र सतीत्व-धर्मसे डिगनेके कारण उसकी संतान और धनका नाश हो जाता है, परलोकमें उसे भयानक नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है, जवानीमें विधवा होना पड़ता है और उसके बाद विविध दुःख-संतापमयी घृणित कुयोनियोंमें जन्म लेकर घोर क्लेशयुक्त जीवन बिताना पड़ता है।

उपनिषद्में युगल-स्वरूप

भारतके आर्य-सनातनधर्ममें जितने भी उपासक-सम्प्रदाय हैं, सभी विभिन्न नाम-रूपों तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियोंके द्वारा वस्तुतः एक ही शक्तिसमन्वित भगवान्‌की उपासना करते हैं। अवश्य ही कोई तो शक्तिको स्वीकार करते हैं और कोई नहीं करते। भगवान्‌के इस शक्तिसमन्वित रूपको ही युगल-स्वरूप कहा जाता है। निराकारवादी उपासक भगवान्‌को सर्वशक्तिमान् बताते हैं और साकारवादी भक्त उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि मङ्गलमय स्वरूपोंमें उनका भजन करते हैं। महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, दुर्गा, तारा, उमा, अन्नपूर्णा, सीता, राधा आदि स्वरूप एक ही भगवत्स्वरूपा शक्तिके हैं, जो लीलावैचित्र्यकी सिद्धिके लिये

विभिन्न रूपोंमें अपने-अपने धामविशेषमें नित्य विराजित हैं। यह शक्ति नित्य शक्तिमान्‌के साथ है और शक्ति है इसीसे वह शक्तिमान् है और इसलिये वह नित्य युगलस्वरूप है। पर यह युगल-स्वरूप वैसा नहीं है, जैसे दो परस्पर-निरपेक्ष सम्पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति या पदार्थ किसी एक स्थानपर स्थित हों। ये वस्तुतः एक होकर ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इनमेंसे एकका त्याग कर देनेपर दूसरेके अस्तित्वका परिचय नहीं मिलता। वस्तु और उसकी शक्ति, तत्त्व और उसका प्रकाश, विशेष्य और उसके विशेषणसमूह, पद और उसका अर्थ, सूर्य और उसका तेज, अग्नि और उसका दाहकत्व—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्ममें भी युगलभाव है। जो नित्य दो होकर भी नित्य एक हैं और नित्य एक होकर भी नित्य दो हैं; जो नित्य भिन्न होकर भी नित्य अभिन्न हैं और नित्य अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं। जो एकमें ही सदा दो हैं और दोमें ही सदा एक हैं। जो स्वरूपतः एक होकर भी द्वैधभावके पारस्परिक सम्बन्धके द्वारा ही अपना परिचय देते और अपनेको प्रकट करते हैं। यह एक ऐसा रहस्यमय परम विलक्षण तत्त्व है कि दो अयुतसिद्ध रूपोंमें ही जिसके स्वरूपका प्रकाश होता है, जिसका परिचय प्राप्त होता है और जिसकी उपलब्धि होती है।

वेदमूलक उपनिषद्‌में ही इस युगल-स्वरूपका प्रथम और स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। उपनिषद् जिस परम तत्त्वका वर्णन करते हैं, उसके मुख्यतया दो स्वरूप हैं—एक 'सर्वातीत' और दूसरा 'सर्वकारणात्मक'। सर्वकारणात्मक स्वरूपके द्वारा ही सर्वातीतका

संधान प्राप्त होता है और सर्वातीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूपका आश्रय है । सर्वातीत स्वरूपको छोड़ दिया जाय तो जगत्‌की कार्य-कारण-शृंखला ही टूट जाय; उसमें अप्रतिष्ठा और अनवस्थाका दोष आ जाय । फिर जगत्‌के किसी मूलका ही पता न लगे । और सर्वकारणात्मक स्वरूपको न माना जाय तो सर्वातीतकी सत्ता कहीं न मिले । वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है । उपनिषद्‌के दिव्य-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने जहाँ विश्वके चरम और परम तत्त्व एक, अद्वितीय, देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा-अनवच्छिन्न सच्चिदानन्द-स्वरूपको देखा, वहीं उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्मको ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्तिके द्वारा अपनेको अनन्त विचित्र रूपोंमें प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि वही समस्त देशों, समस्त कालों, समस्त अवस्थाओं और समस्त परिणामोंके अंदर छिपा हुआ अपने स्वतन्त्र सच्चिदानन्दमय स्वरूपकी, अपनी नित्य-सत्ता, चेतना और आनन्दकी मनोहर झाँकी करा रहा है । ऋषियोंने जहाँ देश-काल-अवस्था-परिणामसे परिच्छिन्न अपूर्ण पदार्थोंको 'यह यह नहीं है, यह यह नहीं है' (नेति-नेति) कहकर और उनसे विरागी होकर यह अनुभव किया कि—'वह परमतत्त्व ऐसा है जो न कभी देखा जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई गोत्र है, न उसका कोई वर्ण है, न उसके चक्षु-कर्ण और हाथ-पैर आदि हैं ।' 'वह न भीतर प्रज्ञावाला है, न बाहर प्रज्ञावाला है, न दोनों प्रकारकी प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञान-घन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है; वह न देखनेमें आता है, न उससे कोई व्यवहार किया जा सकता है, न

ड़में आता है, न उसका कोई लक्षण (चिह्न) है; जिसके
में न चित्तसे कुछ सोचा जा सकता है और न वाणीसे कुछ
जा सकता है । जो आत्मप्रत्ययका सार है, प्रपञ्चसे रहित
त, शिव और अद्वैत है'—

उदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि
(मुण्डक० १ । १ । ६)

तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघ
नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य
श्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिव
...... ।

(माण्डूक्य० ७

सी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करनेयोग्य, चिन्तन करनेयो
णामें लानेयोग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध
हीं है । इसीके साथ यहीं, उसी क्षण उन्होंने उसी दे
, अवस्था-परिणाम-शून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर शा
न्त एकमात्र सत्तास्वरूप अक्षर परमात्माको ही सर्वकार
स्त देशोंमें नित्य विराजित देखा और कहा कि—'
स उस नित्य, पूर्ण, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म, अविना
भूतोंके कारण परमात्माको देखते हैं'—

त्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥
(मुण्डक० १ । १ । ६)

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि 'जब वह द्रष्टा उस सबके ईश्वर, ब्रह्माके भी आदिकारण सम्पूर्ण विश्वके स्रष्टा, दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुषको देख लेता है, तब वह निर्मल-हृदय महात्मा पाप-पुण्यसे छूटकर परम साम्यको प्राप्त हो जाता है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥
(मुण्डक० ३ । १ । ३)

यहाँतक कि उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमदेव परमात्माकी उस दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूता शक्तिका भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जो अपने ही गुणोंसे छिपी हुई है। तब उन्होंने यह निर्णय किया कि कालसे लेकर आत्मातक (काल, स्वभाव, नियति, अकस्मात्, पञ्चमहाभूत, योनि और जीवात्मा) सम्पूर्ण कारणोंका स्वामी प्रेरक सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥
(श्वेताश्वतर० १ । ३)

ऋषियोंने यह अनुभव किया कि यह सर्वातीत परमात्मा ही सर्वकारण-कारण, सर्वगत, सबमें अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी

है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, भेदरहित, परिणामशून्य, अद्वय परमतत्त्व ही चराचर भूतमात्रकी योनि है, एवं अनन्त विचित्र पदार्थोंका वही एकमात्र अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण है। उन्होंने अपनी निर्भ्रान्त निर्मल दृष्टिसे यह देखा कि जो विश्वातीत-तत्त्व है—वही विश्वकृत् है, वही विश्ववित् है और वही विश्व है। विश्वमें उसीकी अनन्त सत्ताका, अनन्त ऐश्वर्यका, अनन्त ज्ञानका और अनन्त शक्तिका प्रकाश है। विश्वसृजनकी लीला करके विश्वके समस्त वैचित्र्यको, विश्वमें विकसित अखिल ऐश्वर्य, ज्ञान और शक्तिको आलिंगन किये हुए ही वह नित्य विश्वके ऊर्ध्वमें विराजित है। उपनिषद्के मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने अपनी सर्वकालव्यापिनी दिव्य दृष्टिसे देखकर कहा—'सोम्य! इस नाम-रूपात्मक विश्वकी सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था'—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'
(छान्दोग्य० ६। २। १)

परंतु इसीके साथ तुरंत ही मुक्तकण्ठसे यह भी कह दिया कि 'उस सत् परमात्माने ईक्षण किया—इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति' (छान्दोग्य० ६। २। ३)

यहाँ बहुतोंको यह बात समझमें नहीं आती कि जो सबसे 'अतीत' है, वही 'सर्वरूप' कैसे हो सकता है, परंतु औपनिषद-दृष्टिसे इसमें कोई भी विरोध या असामञ्जस्य नहीं है। भगवान्‌का नित्य एक रहना, नित्य बहुत-से रूपोंमें अपने आस्वादनकी कामना करना और नित्य बहुत-से रूपोंमें अपनेको आप ही प्रकट करना

एवं सम्भोग करना—यह सब उनके एक नित्यस्वरूपके ही अन्तर्गत हैं। कामना, ईक्षण और आस्वादन—ये सभी उनकी निरवच्छिन्न पूर्ण चेतनाके क्षेत्रमें समान अर्थ ही रखते हैं। भगवान् वस्तुतः न तो एक अवस्थासे किसी दूसरी विशेषमें जानेकी कामना ही करते हैं और न उनकी सहज नित्य स्वरूप-स्थितिमें कभी कोई परिवर्तन ही होता है। उनके बहुत रूपोंमें प्रकट होनेका यह अर्थ नहीं है कि वे एकत्वकी अवस्थासे बहुत्वकी अवस्थामें, अथवा अद्वैत-स्थितिसे द्वैतस्थितिमें चलकर जाते हैं। उनकी सत्ता तथा स्वरूपपर कालका कोई भी प्रभाव नहीं है और इसीलिये विश्वके प्रकट होनेसे पूर्वकी या पीछेकी अवस्थामें जो भेद दिखायी देता है, वह उनकी सत्ता और स्वरूपका स्पर्श भी नहीं कर पाता। अवस्था-भेदकी कल्पना तो जड-जगत्में है। स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निवृत्ति और प्रवृत्ति, विरति और भोग, साधन और सिद्धि, कामना और परिणाम, भूत और भविष्य, दूर और समीप एवं एक और बहुत—ये सभी भेद वस्तुतः जड-जगत्के संकीर्ण धरातलमें ही हैं। विशुद्ध पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता तो सर्वथा भेदशून्य है। यह विशुद्ध अभेद-भूमि है। वहाँ स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निष्क्रियता और सक्रियतामें अभेद है। इसी प्रकार एक और बहुत, साधना और सिद्धि, कामना और भोग, भूत-भविष्य-वर्तमान तथा दूर और निकट भी अभेदरूप ही हैं। इस अभेदभूमिमें चैतन्यघन पूर्ण परमात्मा परस्परविरोधी धर्मोंको आलिंगन किये नित्य विराजित हैं। वे चलते हैं और नहीं चलते;

वे दूर भी हैं, समीप भी हैं; वे सबके भीतर भी हैं और सबके बाहर भी हैं—

> तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
> तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
> (ईशावास्योपनिषद् ५)

वे अपने विश्वातीत रूपमें स्थित रहते हुए ही अपनी वैचित्र्यप्रसविनी कर्मशीला अचिन्त्य शक्तिके द्वारा विश्वका सृजन करके अनादि अनन्तकाल उसीके द्वारा अपने विश्वातीत स्वरूपकी उपलब्धि और उसका सम्भोग करते रहते हैं। उपनिषद्में जो यह आया है कि वह ब्रह्म पहले अकेला था, वह रमण नहीं करता था इसी कारण आज भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरेकी इच्छाकी····उसने अपनेको ही एकसे दो कर दिया····वे पति-पत्नी हो गये।········

> 'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् ···स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।······'
> (बृहदारण्यक० १। ४। ३)

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इससे पूर्व वे अकेले थे और अकेलेपनमें रमणका अभाव प्रतीत होनेके कारण वे मिथुन (युगल) हो गये। क्योंकि कालपरम्पराके क्रममें अवस्थाभेदको प्राप्त हो जाना ब्रह्मके लिये सम्भव नहीं है। वे नित्य मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य युगलत्वमें ही उनका पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही नित्य अपने ही साथ नित्य रमण—

अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त माधुर्यका अनवरत आस्वादन चल रहा है। उनके इस स्वरूपगत आत्ममैथुन, आत्मरमण और आत्मास्वादनसे ही अनादि-अनन्त काल, अनादि-अनन्त देशोंमें अनन्त विचित्रतामण्डित, अनन्त रससमन्वित विश्वके सृजन, पालन और संहारका लीला-प्रवाह चल रहा है। इस युगल-रूपमें ही ब्रह्मके अद्वैतस्वरूपका परमोत्कृष्ट परिचय प्राप्त होता है। अतएव श्रीउमा-महेश्वर, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीता-राम, श्रीराधा-कृष्ण, श्रीकाली-रुद्र आदि सभी युगल-स्वरूप नित्य सत्य और प्रकारान्तरसे उपनिषद्-प्रतिपादित हैं। उपनिषद्ने एक ही साथ सर्वातीत और सर्वकारणरूपमें, स्थितिशील और गतिशीलरूपमें, निष्क्रिय और सक्रिय-रूपमें, अव्यक्त और व्यक्तरूपमें एवं सच्चिदानन्दघन पुरुष और विश्वजननी नारी-रूपमें इसी युगल-स्वरूपका विवरण किया है। परंतु यह विषय है बहुत ही गहन। यह वस्तुतः अनुभवगम्य रहस्य है। प्रगाढ़ अनुभूति जब तार्किकी बुद्धिकी द्वन्द्वमयी सीमाका सर्वथा अतिक्रमण कर जाती है—तभी सक्रियत्व और निष्क्रियत्व, साकारत्व और निराकारत्व, परिणामत्व और अपरिणामत्व एवं बहुरूपत्व और एकरूपत्वके एक ही समय एक ही साथ सर्वाङ्गीण मिलनका रहस्य खुलता है—तभी इसका यथार्थ अनुभव प्राप्त होता है।

यद्यपि विशुद्ध तत्त्वमय चैतन्य-राज्यमें प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश देहेन्द्रियादिगत भेद एवं तदनुकूल किसी लौकिक या जडीय सम्बन्धकी सम्भावना नहीं है, तथापि—जब अप्राकृत तत्त्वकी [illegible] बुद्धि एवं इन्द्रियोंद्वारा उपासना करनी पड़ती है, तब [illegible] और प्राकृत संज्ञा देनी ही पड़ती है। प्राकृत पुरुष और

प्राकृत नारी एवं उनके प्रगाढ़ सम्बन्धका सहारा लेकर ही परम चित्तत्त्वके स्वरूपगत युगल-भावको समझनेका प्रयत्न करना पड़ता है। वस्तुतः पुरुषरूपमें ब्रह्मका सर्वातीत निर्विकार निष्क्रिय भाव है, और नारीरूपमें उन्हींकी सर्वकारणात्मिका अनन्त लीलावैचित्र्यमयी स्वरूपाशक्तिका सक्रिय भाव है। पुरुषमूर्तिमें भगवान् विश्वातीत हैं, एक हैं, और सर्वथा निष्क्रिय हैं, एवं नारीमूर्तिमें वे ही विश्वजननी, बहुप्रसविनी, लीलाविलासिनी रूपमें प्रकाशित हैं। पुरुष-विग्रहमें वे सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारी-विग्रहमें उन्हींकी सत्ताका विचित्र प्रकाश, उन्हींके चैतन्यकी विचित्र उपलब्धि तथा उन्हींके आनन्दका विचित्र आस्वादन है। अपने इस नारी-भावके संयोगसे ही वे परम पुरुष ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता हैं—सृजनकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हैं। नारीभावके सहयोगसे ही उनके स्वरूपगत, स्वभावगत अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है; इसीमें उनकी भगवत्ताका परिचय है। पुरुषरूपसे वे नित्य-निरन्तर अपने अभिन्न नारीरूपका आस्वादन करते हैं और नारी (शक्ति) रूपसे अपनेको ही आप अनन्त आकार-प्रकारोंमें लीलारूपमें प्रकट करके नित्य चिद्रूपमें उसकी उपलब्धि और सम्भोग करते हैं—इसीलिये ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। सच्चिदानन्दमयी अनन्तवैचित्र्यप्रसविनी लीला-विलासिनी महाशक्ति ब्रह्मकी स्वरूपभूता हैं; ब्रह्मके विश्वातीत, देशकालातीत अपरिणामी सच्चिदानन्द स्वरूपके साथ नित्य मिथुनीभूता हैं। ब्रह्मकी सर्वपरिच्छेदरहित सत्ता, चेतनता और

आनन्दको अगणित स्तरोंके सत्-पदार्थरूपमें, असंख्य प्रकारकी चेतना तथा ज्ञानके रूपमें एवं असंख्य प्रकारके रस—आनन्दके रूपमें विलसित करके उनको आस्वादनके योग्य बना देना इस महाशक्तिका कार्य है। स्वरूपगत महाशक्ति इस प्रकार अनादि-अनन्तकाल ब्रह्मके स्वरूपगत चित्की सेवा करती रहती हैं। उनका यह शक्तिरूप तथा शक्तिके समस्त परिणाम (लीला) और कार्य स्वरूपतः उस चित्तत्त्वसे अभिन्न हैं। यह नारीभाव उस पुरुषभावसे अभिन्न है, यह परिणामशील दिखायी देनेवाला अनन्त विचित्र लीलाविलास उनके कूटस्थ नित्यभावसे अभिन्न है। इस प्रकार उभयभाव-अभिन्न होकर ही भिन्न रूपमें परस्पर आलिङ्गन किये हुए एक दूसरेका प्रकाश, सेवा और आस्वादन करते हुए, एक दूसरेको आनन्द-रसमें आप्लावित करते हुए नित्य-निरन्तर ब्रह्मके पूर्ण स्वरूपका परिचय दे रहे हैं। परम पुरुष और उनकी महाशक्ति— भगवान् और उनकी प्रियतमा भगवती भिन्नाभिन्नरूपसे एक ही ब्रह्मस्वरूपमें स्वरूपतः प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द हैं और साथ ही नित्य आस्वादनमय हैं। यही विचित्र महारास है जो अनादि, अनन्तकाल बिना विराम चल रहा है। उपनिषदोंने ब्रह्मके इसी स्वरूपका और उनकी इसी नित्य लीलाका विविध दार्शनिक शब्दोंमें परिचय दिया है और इसी स्वरूपको जानने, समझने, उपलब्ध करने और सम्भोग करनेकी विविध प्रक्रियाएँ, विद्याएँ और साधनाएँ अनुभवी ऋषियोंकी दिव्य वाणीके द्वारा उनमें प्रकट हुई हैं।

श्रीभगवान्के पूजन और ध्यानकी विधि

(अम्बरीष-नारद-संवाद)

राजा अम्बरीष—मुनिवर ! श्रीहरिकी आराधनासे
ऐसा कोई भी प्रायश्चित्त मुझे नहीं दिखायी देता, जिससे
प्रकार पापोंका नाश हो जाय। सुना गया है कि श्रीहरिके
दृष्टिसे ही सारी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। सब क्लेशोंका
करनेवाले उन केशवकी आराधना किस प्रकार की जाती है?
स्त्री-पुरुष उन नारायणकी उपासना कैसे करें—मुनिवर !
हितके लिये आप मुझको यही बतलाइये। सुना है, भगवान्
प्रिय हैं। अतः वे जिस भक्तिसे प्रसन्न होते हैं, वह भक्ति
होती है और कैसे सब लोग उनकी आराधना कर सकते हैं
सब बतलाइये। ब्रह्मन् ! हे ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ ! आप
प्यारे हैं, परम वैष्णव हैं और परमार्थतत्त्वके जाननेवाले हैं;
मैं आपसे पूछ रहा हूँ। सुना है, श्रीहरिका चरणोदक (गङ्गा
जिस प्रकार पवित्र करनेवाला है, वैसे ही श्रीहरिविषयक
प्रश्नकर्ता, श्रोता और वक्ता-सबको पवित्र कर देता है।

> दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः
> तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

संसारेऽस्मिन् क्षणार्द्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम् ।
यस्मादवाप्यते सर्वं पुरुषार्थचतुष्टयम् ॥

'जीव-देहोंमें मनुष्यदेह दुर्लभ है, परंतु है वह क्षणभङ्गुर; इस दुर्लभ और क्षणभङ्गुर मनुष्यदेहमें वैकुण्ठप्रिय—हरिके प्यारे संतके दर्शन और भी दुर्लभ हैं। इस संसारमें आधे क्षणका भी सत्सङ्ग मनुष्योंके लिये एक अमूल्य निधि है; क्योंकि इस सत्सङ्गसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है।'

हे भगवन्! जैसे बच्चोंके लिये माता-पिताका मिलना महान् आनन्द और कल्याणका देनेवाला है, वैसे ही आपके दर्शन भी सब जीवोंके लिये कल्याणकारी हैं।.........अतएव भगवन्! आप मुझे भागवत-धर्मका उपदेश कीजिये।

नारद—राजन्! आप स्वयं भगवान्के भक्त हैं। 'भगवान्की सेवा ही परम धर्म है' आप इस बातको भलीभाँति जानते हैं। जिन भगवान्की आराधना करनेसे सारे विश्वकी सेवा हो जाती है, जिन सर्वदेवमय हरिके संतुष्ट होनेपर सभी संतुष्ट हो जाते हैं और जिनके स्मरणमात्रसे महान् पातकोंका समूह डरकर उसी क्षण भाग जाता है, उन श्रीहरिकी ही सब प्रकारसे सेवा करनी चाहिये। जो समस्त कार्य-कारणोंके कारणके कारण हैं, जिनका कोई कारण नहीं है; जो जगन्मय होकर जगत्के जीवोंके रूपमें वर्तमान हैं, जो अणु होते हुए ही बृहत्, कृश होते हुए ही स्थूल, निर्गुण होते हुए ही महान् गुणवान् हैं—उन जन्मत्रयातीत अज भगवान् श्रीहरिका ध्यान करना चाहिये। पुरुषश्रेष्ठ! आप भागवत-धर्मके विषयमें सब कुछ

जानते हुए भी जगत्‌के कल्याणके लिये ही मुझसे पूछ रहे हैं। भगवान्‌की कथा ऐसी ही है, उनका कीर्तन साधुओंके आत्मा, मन और कानोंको तृप्त करनेवाला है। इसीलिये आप मुझसे पूछ रहे हैं।

ज्ञानी पुरुष जिनको परम ब्रह्म और परात्पर प्रधान कहते हैं, जिनकी मायासे इस समस्त विश्वका अस्तित्व है, वे ही अच्युत भगवान् हैं। भक्तिपूर्वक पूजा करनेपर वे पुत्र, कलत्र, दीर्घ आयु, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष आदि सभी अभीष्ट प्रदान करते हैं। उनकी पूजाके कायिक, वाचिक और मानसिक—तीन प्रकारके व्रत होते हैं—

दिनमें एक बार अयाचित पवित्र भोजन करना और रातको कुछ न खाना कायिक व्रत है।

वेदाध्ययन, श्रीभगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन, सत्य बोलना और किसीकी निन्दा-चुगली न करना वाचिक व्रत है। और—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निष्कपटता आदि मानसिक व्रत हैं। इनसे श्रीहरि संतुष्ट होते हैं।

श्रीहरिके नामोंका कीर्तन सदा सर्वत्र किया जा सकता है, इसमें कोई अशौच बाधक नहीं होता। श्रीहरिका कीर्तन ही मनुष्यको भलीभाँति शुद्ध करता है। वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले पुरुषोंको एकमात्र श्रीभगवान्‌को ही परम पुरुष और उद्धारके एकमात्र साधन मानकर सदा उन्हींका आराधन करना चाहिये। स्त्रियोंको चाहिये कि वे दयामय श्रीभगवान्‌को परमपति मानकर सदाचारका पालन करती हुई मन, वचन और शरीरका संयम करके उन्हींकी आराधना करें।

श्रीभगवान् भक्तिप्रिय हैं, वे केवल भक्तिसे जितने संतुष्ट होते हैं उतने पूजन, यज्ञ और व्रतसे नहीं होते। भगवान्‌की पूजाके लिये ये आठ पुष्प सर्वोत्तम हैं—अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, प्राणियोंपर दया, क्षमा, मनका निग्रह, ध्यान, सत्य और श्रद्धा। इन आठ प्रकारके पुष्पोंसे पूजा करनेपर भगवान् बहुत ही प्रसन्न होते हैं।

सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, भक्त, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सभी भगवान्‌की पूजाके स्थान हैं। अर्थात् इनको भगवान्‌से पूर्ण—भगवान् समझकर इनकी सेवा करनी चाहिये। इनमें गौ और ब्राह्मण प्रधान हैं। जिसके पितृकुल और मातृकुलके पूर्व-पुरुष नरकोंमें पड़े हों, वह भी जब श्रीहरिकी सेवा-पूजा करता है तो उन सबका नरकसे उसी क्षण उद्धार हो जाता है और वे स्वर्गमें चले जाते हैं। जिनका चित्त विश्वमय वासुदेवमें आसक्त नहीं है, उनके जीवनसे और पशुकी तरह चेष्टा करनेसे क्या लाभ है?

किं तेषां जीवितेनेह पशुवच्चेष्टितेन किम्।
येषां न प्रवणं चित्तं वासुदेवे जगन्मये॥

अब श्रीभगवान्‌के ध्यानकी महिमा सुनिये—राजन्! अग्नि-रूपधारी दीपक जैसे वायुरहित स्थानमें निश्चल भावसे जलता हुआ सारे अन्धकारका नाश करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाले पुरुष सब दोषोंसे रहित और निरामय हो जाते हैं। वे निश्चल और ... होकर वैर और प्रीतिके बन्धनोंको काट डालते हैं और शोक, ... द्वेष, लोभ, मोह एवं भ्रम आदि इन्द्रिय-विषयोंसे सर्वथा

छूट जाते हैं। दीपक जैसे जलती हुई शिखाके द्वारा तेलका शोषण करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाला पुरुष ध्यानरूपी अग्निसे कर्मोंको जलाता रहता है। अपनी-अपनी स्थिति और रुचिके अनुसार भगवान्‌के निराकार और साकार दोनों ही रूपोंका ध्यान किया जा सकता है। निराकार ध्यान करनेवाले विचारके द्वारा ज्ञानदृष्टिसे इस प्रकार देखें—

'वे परमात्मा हाथ-पैरवाले न होकर भी सब वस्तुओंको ग्रहण करते हैं और सर्वत्र जाते-आते हैं। मुख-नासिका न होनेपर भी वे आहार करते और गन्ध सूँघते हैं। कान न होनेपर भी वे जगत्पति सर्वसाक्षी भगवान् सब कुछ सुनते हैं। निराकार होकर भी वे पञ्चेन्द्रियोंके वश होकर रूपवान्-से प्रतीत होते हैं। सब लोकोंके प्राण होनेके कारण वे ही चराचरके द्वारा पूजित होते हैं। वे जीभ न होनेपर भी वेद-शास्त्रानुकूल सब वचन बोलते हैं। त्वक् न होनेपर भी समस्त शीतोष्णादिका स्पर्श करते हैं। वे सर्वदा आनन्दमय, एकरस, निराश्रय, निर्गुण, निर्मम, सर्वव्यापी, सर्वदिव्यगुणसम्पन्न, निर्मल ओजरूप, किसीके वश न होनेवाले, सर्वदा अपने वशमें रखनेवाले, सबको यथायोग्य सब कुछ देनेवाले और सर्वज्ञ हैं। उनको कोई माँ नहीं उत्पन्न करती, वे ही सर्वमय विभु हैं।'

जो पुरुष एकान्त चित्तसे इस प्रकार ध्यानके द्वारा सर्वमय भगवान्‌को देखता है, वह अमूर्त अमृतमय परम धामको प्राप्त होता है।

अब साकार ध्यानके विषयमें सुनिये—

'उनका सजल मेघोंके समान श्यामवर्ण और अत्यन्त चिकना शरीर है। सूर्यके समान शरीरका तेज है। उन जगत्पति भगवान्के चार बड़ी सुन्दर भुजाएँ हैं। दाहिनी भुजाओंमें महामणियोंसे जड़ा हुआ शङ्ख और भयानक असुरोंको मारनेवाली कौमोदकी गदा है। बायीं भुजाओंमें कमल और चक्र शोभा पा रहे हैं। भगवान् शार्ङ्ग धनुष धारण किये हैं। उनका गला शङ्खके समान गोल, मुखमण्डल और नेत्र कमल-पत्रके सदृश हैं। उन हृषीकेशके कुन्द-से अति सुन्दर दाँत हैं। उन पद्मनाभ भगवान्के अधर प्रवालके तुल्य लाल हैं, मस्तकपर अत्यन्त तेजपूर्ण उज्ज्वल किरीट शोभा पा रहा है। उन केशव भगवान्के हृदयपर श्रीवत्सका चिह्न है, वे कौस्तुभ मणि धारण किये हुए हैं। उन जनार्दनके दोनों कानोंमें सूर्यके समान चमकते हुए कुण्डल विराजमान हैं। वे हार, बाजूबंद, कड़े, करधनी और अँगूठियोंके द्वारा विभूषित हैं और स्वर्णके समान पीताम्बर धारण किये गरुड़जीपर विराजित हैं।'

राजन्! पापसमूहका नाश करनेवाले भगवान्के साकार स्वरूपका इस प्रकार ध्यान करनेसे मनुष्य शारीरिक, वाचिक और मानसिक—तीनों पापोंसे छूट जाता है और सारे मनोरथोंको पाकर तथा देवताओंके द्वारा पूजित होकर श्रीभगवान्के दिव्य परमधामको प्राप्त होता है।

यं यं चाभिलषेत् कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम्।
पूज्यते देववर्गैश्च विष्णुलोकं स गच्छति॥

(पद्मपुराणके आधारपर)

माखनचोरीका रहस्य

भगवान्की लीलापर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान्का लीलाधाम, भगवान्के लीलापात्र और भगवान्का लीलाशरीर प्राकृत नहीं होता। भगवान्में देह-देहीका भेद नहीं है। महाभारतमें आया है—

न भूतसंघसंस्थानो देवस्य परमात्मनः।
यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलः स्नानमाचरेत्॥

'परमात्माका शरीर भूतसमुदायसे बना हुआ नहीं होता। जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्माके शरीरको भौतिक जानता-मानता है, उसका समस्तश्रौत-स्मार्त कर्मोंसे बहिष्कार कर देना चाहिये अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय कर्ममें अधिकार नहीं है। यहाँतक कि उसका मुँह देखनेपर भी सचैल (वस्त्रसहित) स्नान करना चाहिये।'

श्रीमद्भागवत (१० । १४) में ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि॥

'आपने मुझपर कृपा करनेके लिये ही यह स्वेच्छामय सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकट किया है, यह पाञ्चभौतिक कदापि नहीं है।'

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्‌का सभी कुछ अप्राकृत होता है, उनकी जन्म-कर्मकी सभी लीलाएँ दिव्य होती हैं; परंतु यह व्रजकी लीला, व्रजमें निकुञ्जलीला और निकुञ्जमें भी केवल रसमयी गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर लीला तो दिव्यातिदिव्य और सर्वगुह्यतम है। यह लीला सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट नहीं है, अन्तरङ्ग लीला है और इसमें प्रवेशका अधिकार केवल श्रीगोपीजनोंको ही है।

यदि भगवान्‌के नित्य परमधाममें अभिन्नरूपसे नित्य निवास करनेवाली नित्यसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे न देखकर केवल साधनसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी उनकी तपस्या इतनी कठोर थी, उनकी लालसा इतनी अनन्य थी, उनका प्रेम इतना व्यापक था और उनकी लगन इतनी सच्ची थी कि भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रेमरसमय भगवान् उनके इच्छानुसार उन्हें सुख पहुँचानेके लिये माखनचोरीकी लीला करके उनकी इच्छित पूजा ग्रहण करें, चीरहरण करके उनका रहा-सहा व्यवधानका परदा उठा दें और रासलीला करके उनको दिव्य सुख पहुँचायें तो कोई बड़ी बात नहीं है।

भगवान्‌की नित्यसिद्धा चिदानन्दमयी गोपियोंके अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी गोपियाँ और थीं, जो अपनी महान् साधनाके फलस्वरूप भगवान्‌की मुक्तजन-वाञ्छित सेवा करनेके लिये गोपियोंके रूपमें अवतीर्ण हुई थीं। उनमेंसे कुछ पूर्वजन्मकी देवकन्याएँ थीं, कुछ श्रुतियाँ थीं, कुछ तपस्वी ऋषि थे और कुछ अन्य भक्तजन। इनकी

एँ विभिन्न पुराणोंमें मिलती हैं। श्रुतिरूप गोपियाँ, जो 'नेति
'के द्वारा निरन्तर परमात्माका वर्णन करते रहनेपर भी उन्हें
तरूपसे प्राप्त नहीं कर सकतीं, गोपियोंके साथ भगवान्‌के दिव
य विहारकी बात जानकर गोपियोंकी उपासना करती हैं और
में स्वयं गोपीरूपमें परिणत होकर भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् अपने
मरूपसे प्राप्त करती हैं। इनमें मुख्य श्रुतियोंके नाम हैं—उद्गीता
ा, कलगीता, कलकण्ठिका और विपञ्ची आदि।

भगवान्‌के श्रीरामावतारमें उन्हें देखकर मुग्ध होनेवाले—अपने
ो उनके स्वरूप सौन्दर्यपर न्यौछावर कर देनेवाले ऋषिगण
ी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें गोपी होकर प्रा
ा वर दिया था, व्रजमें गोपीरूपसे अवतीर्ण हुए थे। इसके
के मिथिलाकी गोपी, कोसलकी गोपी, अयोध्याकी गोपी–
रगोपी, रमावैकुण्ठ श्वेतद्वीप आदिकी गोपियाँ और जालन्धरी
आदि गोपियोंके अनेकों यूथ थे, जिनको बड़ी तपस्या करके
से वरदान पाकर गोपीरूपमें अवतीर्ण होनेका सौभाग्य प्राप्त
था। पद्मपुराणके पातालखण्डमें बहुत-से ऐसे ऋषियोंका वर्णन
न्होंने बड़ी कठिन तपस्या आदि करके अनेकों कल्पोंके बाद
रूपको प्राप्त किया था। उनमेंसे कुछके नाम निम्नलिखित हैं—

१—एक उग्रतपा नामके ऋषि थे। वे अग्निहोत्री और बड़े
थे। उनकी तपस्या अद्भुत थी। उन्होंने पञ्चदशाक्षरमन्त्रका
ौर रासोन्मत्त नवकिशोर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका ध्यान किया
ौ कल्पोंके बाद वे सुनन्दनामक गोपकी कन्या 'सुनन्दा' हुए।

२—एक सत्यतपा नामके मुनि थे। वे सूखे पत्तोंपर रहकर दशाक्षरमन्त्रका जाप और श्रीराधाजीके दोनों हाथ पकड़कर नाचते हुए श्रीकृष्णका ध्यान करते थे। दस कल्पके बाद वे सुभद्रनामक गोपकी कन्या 'सुभद्रा' हुए।

३—हरिधामा नामके एक ऋषि थे। वे निराहार रहकर 'क्लीं' कामबीजसे युक्त विंशाक्षरी मन्त्रका जाप करते थे और माधवीमण्डपमें कोमल-कोमल पत्तोंकी शय्यापर लेटे हुए युगल-सरकारका ध्यान करते थे। तीन कल्पके पश्चात् वे सारङ्ग-नामक गोपके घर 'रङ्गवेणी' नामसे अवतीर्ण हुए।

४—जाबालि नामके ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे, उन्होंने एक बार विशाल वनमें विचरते-विचरते एक जगह बहुत बड़ी बावली देखी। उस बावलीके पश्चिम तटपर बड़के नीचे एक युवती स्त्री कठोर तपस्या कर रही थी। वह बड़ी सुन्दर थी। चन्द्रमाकी शुभ्र किरणोंके समान उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसका बायाँ हाथ अपनी कमरपर था और दाहिने हाथसे वह ज्ञानमुद्रा धारण किये हुए थी। जाबालिके बड़ी नम्रताके साथ पूछनेपर उस तापसीने बताया—

> ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते।
> साहं हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिरं तपः॥
> चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम्।
> ब्रह्मानन्देन पूर्णाहं तेनानन्देन तृप्तधीः॥
> तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना।
>
> (पद्मपुराण पाताल० ४१। १०-१२)

'मैं वह ब्रह्मविद्या हूँ, जिसे बड़े-बड़े योगी सदा ढूँढ़ा करते हैं। मैं श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये इस घोर वनमें उन पुरुषोत्तमका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे तपस्या कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण हूँ और मेरी बुद्धि भी उसी आनन्दसे परितृप्त है। परंतु श्रीकृष्णका प्रेम मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये मैं अपनेको शून्य देखती हूँ। ब्रह्मज्ञानी जाबालिने उसके चरणोंपर गिरकर दीक्षा ली और फिर व्रजवीथियोंमें विहरनेवाले भगवान्‌का ध्यान करते हुए वे एक पैरसे खड़े होकर कठोर तपस्या करते रहे। नौ कल्पोंके बाद प्रचण्ड नामक गोपके घर वे 'चित्रगन्धा'के रूपमें प्रकट हुए।

५-कुशध्वज नामक ब्रह्मर्षिके पुत्र शुचिश्रवा और सुवर्ण वेदतत्त्वज्ञ थे। उन्होंने शीर्षासन करके 'ह्रीं' हंस-मन्त्रका जाप करते हुए और सुन्दर कन्दर्प-तुल्य गोकुलवासी दस वर्षकी उम्रके भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए घोर तपस्या की। कल्पके बाद वे व्रजमें सुधीर नामक गोपके घर उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी गोपियोंके पूर्वजन्मकी कथाएँ प्राप्त होती हैं, विस्तारभयसे उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। भगवान्‌के लिये इतनी तपस्या करके इतनी लगनके साथ कल्पोंतक साधना करके जिन त्यागी भगवत्प्रेमियोंने गोपियोंका तन-मन प्राप्त किया था, उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये, उन्हें आनन्द दान देनेके लिये यदि भगवान् उनकी मनचाही लीला करते हैं तो इसमें आश्चर्य और अनाचारकी कौन-सी बात है? रासलीलाके प्रसङ्गमें स्वयं भगवान्‌ने श्रीगोपियोंसे कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥
(१०।३२।२२)

'गोपियो ! तुमने लोक और परलोकके सारे बन्धनोंको काटकर मुझसे निष्कपट प्रेम किया है; यदि मैं तुममेंसे प्रत्येकके लिये अलग-अलग अनन्त कालतक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेमका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी ही रहूँगा। तुम मुझे अपने साधुस्वभावसे ऋणरहित मानकर और भी ऋणी बना दो। यही उत्तम है।' सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिन महाभागा गोपियोंके ऋणी रहना चाहते हैं उनकी इच्छा, इच्छा होनेसे पूर्व ही भगवान् पूर्ण कर दें—यह तो स्वाभाविक ही है।

भला विचारिये तो सही श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णरसभावितमति गोपियोंके मनकी क्या स्थिति थी। गोपियोंका तन, मन, धन—सभी कुछ प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था। वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्र-दुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर—श्रीकृष्णको देखकर वे सुखी होती थीं। प्रातःकाल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं, सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं। वहाँ

तक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और शान्त लीला देखतीं और अनुभव करती थीं। रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छविका ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपी अभिलाषा करती थी कि मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छीकेपर रखूँ, जितनेपर श्रीकृष्णके हाथ आसानीसे पहुँच सकें, फिर मेरे प्राणधन बालकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीडा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें और अपने सखाओं और बंदरोंको लुटायें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ। और फिर अचानक ही पकड़कर हृदयसे लगा लूँ। सूरदासजीने गाया है—

मैया री, मोहि माखन भावै।
जो मेवा पकवान कहत तू, मोहि नहीं रुचि आवै॥
ब्रज-जुवती इक पाछें ठाढ़ी, सुनत स्याम की बात।
मन-मन कहति कबहुँ अपनें घर, देखौं माखन खात॥
बैठैं जाइ मथनियाँ कें ढिग, मैं तब रहौं छपानी।
सूरदास प्रभु अंतरजामी, ग्वालिनि-मन की जानी॥

एक दिन श्यामसुन्दर कह रहे थे, 'मैया! मुझे माखन भाता है; तू मेवा-पकवानके लिये कहती है, परंतु मुझे तो वे रुचते ही नहीं।' वहीं पीछे एक गोपी खड़ी श्यामसुन्दरकी बात सुन रही थी। उसने मन-ही-मन कामना की—'मैं कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी; ये मथानीके पास जाकर बैठेंगे, तब मैं छिप रहूँगी!'

प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, गोपीके मनकी जान गये और उसके घर पहुँचे तथा उसके घरका माखन खाकर उसे सुख दिया—'गये स्याम तिहिं ग्वालिनि कैं घर।'

उसे इतना आनन्द हुआ कि वह फूली न समायी। सूरदासजी गाते हैं—

> फूली फिरति ग्वालि मन मैं री।
> पूछति सखी परस्पर बातैं पायो परयो कछू कहुँ तैं री?
> पुलकित रोम रोम, गदगद मुख बानी कहत न आवै।
> ऐसो कहा आहि सो सखि री, हम कौं क्यौं न सुनावै॥
> तन न्यारा, जिय एक हमारो, हम तुम एकै रूप।
> सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं, देख्यौ रूप अनूप॥

वह खुशीसे छककर फूली-फूली फिरने लगी। आनन्द उसके हृदयमें समा नहीं रहा था। सहेलियोंने पूछा—'अरी! तुझे कहीं कुछ पड़ा धन मिल गया क्या?' वह तो यह सुनकर और भी प्रेमविह्वल हो गयी। उसका रोम-रोम खिल उठा, वह गद्गद हो गयी, मुँहसे बोली नहीं निकली। सखियोंने कहा—'सखि! ऐसी क्या बात है, हमें सुनाती क्यों नहीं? हमारे तो शरीर ही दो हैं, हमारा जी तो एक ही है—हम-तुम दोनों एक ही रूप हैं। भला, हमसे छिपानेकी कौन-सी बात है?' तब उसके मुँहसे इतना ही निकला—'मैंने आज अनूप रूप देखा है।' बस, फिर वाणी रुक गयी और प्रेमके आँसू बहने लगे। सभी गोपियोंकी यही दशा थी।

> ब्रज घर-घर प्रगटी यह बात।
> दधि माखन चोरी करि लै हरि, ग्वाल सखा सँग खात॥
> ब्रज-बनिता यह सुनि मन हरषित, सदन हमारैं आवैं।
> माखन खात अचानक पावैं, भुज भरि उरहिं छुपावैं॥

मनहीं मन अभिलाष करति सब हृदय धरति यह ध्यान।
सूरदास प्रभु कौं घर में लै, दैहौं माखन खान॥

× × × × ×

चली ब्रज घर-घरनि यह बात।
नंद-सुत, सँग सखा लीन्हें, चोरी माखन खात॥
कोउ कहति, मेरे भवन भीतर, अबहिं पैठे धाइ।
कोउ कहति मोहिं देखि द्वारें, उतहिं गए पराइ॥
कोउ कहति, किहिं भाँति हरि कौं, देखौं अपने धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति, मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवार।
कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवार॥
सूर प्रभु के मिलन कारन, करति बिबिध बिचार।
जोरि कर बिधिकौं मनावति पुरुष नंदकुमार॥

रातों गोपियाँ जाग-जागकर प्रातःकाल होनेकी बाट देखतीं उनका मन श्रीकृष्णमें लगा रहता। प्रातःकाल जल्दी-जल्दी दह मथकर, माखन निकालकर छींकेपर रखतीं। कहीं प्राणधन आक लौट न जायँ, इसलिये सब काम छोड़कर वे सबसे पहले यही का करतीं और श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षामें व्याकुल होती हुई मन-ही-मन सोचतीं—हा! आज प्राणप्रियतम क्यों नहीं आये! इतनी देर क्यों ह गयी! क्या आज इस दासीका घर पवित्र न करेंगे! क्या आज मैं समर्पण किये हुए इस तुच्छ माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होक मुझे सुख न देंगे! कहीं यशोदा मैयाने तो उन्हें नहीं रोक लिया उनके घर तो नौ लाख गौएँ हैं। माखनकी क्या कमी है! मेरे घ

तो वे कृपा करके ही आते हैं! इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजेपर जाती; लाज छोड़कर रास्तेकी ओर देखती। सखियोंसे पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान हो जाता! ऐसी भाग्यवती गोपियोंकी मन:कामना भगवान् उनके घर पधारकर पूर्ण करते।

सूरदासजीने गाया है—

प्रथम करी हरि माखन-चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रज खोरी॥
मन में यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सब कैं माखन खाउँ॥
बालरूप जसुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं ये मेरे ब्रज लोग॥

अपने निजजन व्रजवासियोंको सुखी करनेके लिये तो भगवान् गोकुलमें पधारे थे। माखन तो नन्दबाबाके घरपर कम न था, लाख-लाख गौएँ थीं। वे चाहे जितना खाते-लुटाते। परंतु वे तो केवल नन्दबाबाके ही नहीं, सभी व्रजवासियोंके अपने थे, सभीको सुख देना चाहते थे। गोपियोंकी लालसा पूरी करनेके लिये ही वे उनके घर जाते और चुरा-चुराकर माखन खाते। यह वास्तवमें चोरी नहीं, यह तो गोपियोंकी पूजा-पद्धतिका भगवान्के द्वारा स्वीकार था। भक्तवत्सल भगवान् भक्तकी पूजाका स्वीकार कैसे न करें!

भगवान्की इस दिव्यलीला—माखनचोरीका रहस्य न जाननेके कारण ही कुछ लोग इसे आदर्शके विपरीत बतलाते हैं। उन्हें पहले समझना चाहिये चोरी क्या वस्तु है, यह किसकी होती है और कौन

करता है। चोरी उसे कहते हैं जब किसी दूसरेकी कोई चीज उसकी इच्छाके बिना, उसके अनजानमें और आगे भी वह जान न पाये—ऐसी इच्छा रखकर ले ली जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों-के घरसे माखन लेते थे उनकी इच्छासे, गोपियोंके अनजानमें नहीं—उनकी जानमें, उनके देखते-देखते और आगे जनानेकी कोई बात ही नहीं—उनके सामने ही दौड़ते हुए निकल जाते थे। दूसरी बात महत्त्वकी यह है कि संसारमें या संसारके बाहर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो श्रीभगवान्की नहीं है और वे उसकी चोरी करते हैं। गोपियोंका तो सर्वस्व श्रीभगवान्का था ही, सारा जगत् ही उनका है। वे भला, किसकी चोरी कर सकते हैं? हाँ, चोर तो वास्तवमें वे लोग हैं जो भगवान्की वस्तुको अपनी मानकर ममता-आसक्तिमें फँसे रहते हैं और दण्डके पात्र बनते हैं। उपर्युक्त सभी दृष्टियोंसे यही सिद्ध होता है कि माखनचोरी चोरी न थी, भगवान्की दिव्य लीला थी। असलमें गोपियोंने प्रेमकी अधिकतासे ही भगवान्का प्रेमका नाम 'चोर' रख दिया था, क्योंकि वे उनके चित्तचोर तो थे ही। यही रहस्य है।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यद्यपि उन्हें श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्की लीलापर विचार करनेका कोई अधिकार नहीं है, परंतु उनकी दृष्टिसे भी इस प्रसङ्गमें कोई आपत्ति-जनक बात नहीं है। क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय लगभग दो-तीन वर्षके बच्चे थे और गोपियाँ अत्यधिक स्नेहके कारण उनके ऐसे-ऐसे मधुर खेल देखना चाहती थीं।

भी इस लीला-रसका समास्वादन नहीं कर पाते। भगवान्‌की इस परमोज्ज्वल दिव्य-रस-लीलाका यथार्थ प्रकाश तो भगवान्‌की स्वरूप-भूता ह्लादिनी शक्ति नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजी और तदङ्गभूता प्रेममयी गोपियोंके ही हृदयमें होता है और वे ही निरावरण होकर भगवान्‌की इस परम अन्तरङ्ग रसमयी लीलाका समास्वादन करती हैं।

यों तो भगवान्‌के जन्म-कर्मकी सभी लीलाएँ दिव्य होती हैं, परंतु व्रजकी लीला, व्रजमें निकुञ्जलीला और निकुञ्जमें भी केवल रसमयी गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर-लीला तो दिव्यातिदिव्य और सर्वगुह्यतम है। यह लीला सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट नहीं है, अन्तरङ्ग लीला है और इसमें प्रवेशका अधिकार केवल श्रीगोपीजनोंको ही है।

दशम स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायमें ऐसा वर्णन आया है कि भगवान्‌की रूपमाधुरी, वंशीध्वनि और प्रेममयी लीलाएँ देख-सुनकर गोपियाँ मुग्ध हो गयीं। बाईसवें अध्यायमें उसी प्रेमकी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये वे साधनमें लग गयी हैं। इसी अध्यायमें भगवान्‌ने आकर उनकी साधना पूर्ण की है। यही चीर-हरणका प्रसङ्ग है।

गोपियाँ क्या चाहती थीं, यह बात उनकी साधनासे स्पष्ट है। वे चाहती थीं—श्रीकृष्णके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण, श्रीकृष्णके साथ इस प्रकार घुल-मिल जाना कि उनका रोम-रोम, मन-प्राण, सम्पूर्ण आत्मा केवल श्रीकृष्णमय हो जाय। शरत्-कालमें उन्होंने श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिकी चर्चा आपसमें की थी, हेमन्तके पहले ही महीनेमें अर्थात् भगवान्‌के विभूतिस्वरूप मार्गशीर्षमें उनकी साधना प्रारम्भ हो

गयी । विलम्ब उनके लिये असह्य था । जाड़ेके दिनोंमें वे प्रातःकाल ही यमुना-स्नानके लिये जातीं, उन्हें शरीरकी परवा नहीं थी । बहुत-सी कुमारी ग्वालिनें एक साथ ही जातीं, उनमें ईर्ष्या-द्वेष नहीं था । वे ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन करती हुई जातीं, उन्हें गाँव और जातिवालोंका भय नहीं था । वे घरमें भी हविष्यान्नका ही भोजन करतीं, वे श्रीकृष्णके लिये इतनी व्याकुल हो गयी थीं कि उन्हें माता-पितातकका संकोच नहीं था । वे विधिपूर्वक देवीकी बालुकामयी मूर्ति बनाकर पूजा और मन्त्र-जप करती थीं । अपने इस कार्यको सर्वथा उचित और प्रशस्त मानती थीं । एक वाक्यमें— उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, संकोच और व्यक्तित्व भगवान्‌के चरणोंमें सर्वथा समर्पण कर दिया था । वे यही जपती रहती थीं कि एकमात्र नन्दनन्दन ही हमारे प्राणोंके स्वामी हों । श्रीकृष्ण तो वस्तुतः उनके स्वामी थे ही । परंतु लीलाकी दृष्टिसे उनके समर्पणमें थोड़ी कमी थी । वे निरावरणरूपसे श्रीकृष्णके सामने नहीं जा रही थीं, उनमें थोड़ी झिझक थी; उनकी यही झिझक दूर करनेके लिये— उनकी साधना, उनका समर्पण पूर्ण करनेके लिये उनका आवरण भङ्ग कर देनेकी आवश्यकता थी, उनका यह आवरणरूप चीर हर लेना जरूरी था और यही काम भगवान् श्रीकृष्णने किया । इसीके लिये वे योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् अपने मित्र ग्वालबालोंके साथ यमुनातटपर पधारे थे ।

साधक अपनी शक्तिसे, अपने बल और संकल्पसे केवल अपने निश्चयसे पूर्ण समर्पण नहीं कर सकता । समर्पण भी एक क्रिया है और उसका करनेवाला असमर्पित ही रह जाता है । ऐसी स्थितिमें

अन्तरात्माका पूर्ण समर्पण तब होता है, जब भगवान् स्वयं आकर यह संकल्प स्वीकार करते हैं और संकल्प करनेवालेको स्वीकार करते हैं। यहीं जाकर समर्पण पूर्ण होता है। साधकका कर्तव्य है, पूर्ण समर्पणकी तैयारी। उसे पूर्ण तो भगवान् ही करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण यों तो लीलापुरुषोत्तम हैं; फिर भी जब अपनी लीला प्रकट करते हैं तो मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करते हैं, स्थापना ही करते हैं। विधिका अतिक्रमण करके कोई साधनाके मार्गमें अग्रसर नहीं हो सकता। परंतु हृदयकी निष्कपटता, सचाई और सच्चा प्रेम विधिके अतिक्रमणको भी शिथिल कर देता है। गोपियाँ श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके लिये जो साधना कर रही थीं, उसमें एक त्रुटि थी। वे शास्त्र-मर्यादा और परम्परागत सनातन मर्यादाका उल्लङ्घन करके नग्न-स्नान करती थीं। यद्यपि उनकी यह क्रिया अज्ञानपूर्वक ही थी, तथापि भगवान्के द्वारा इसका मार्जन होना आवश्यक था। भगवान्ने गोपियोंसे इसका प्रायश्चित्त भी करवाया। जो लोग भगवान्के प्रेमके नामपर विधिका उल्लङ्घन करते हैं, उन्हें यह प्रसङ्ग ध्यानसे पढ़ना चाहिये और भगवान् शास्त्रविधिका कितना आदर करते हैं, यह देखना चाहिये।

वैधी भक्तिका पर्यवसान रागात्मिका भक्तिमें है और रागात्मिका भक्ति पूर्ण समर्पणके रूपमें परिणत हो जाती है। गोपियोंने वैधी भक्तिका अनुष्ठान किया, उनका हृदय तो रागात्मिका भक्तिसे भरा हुआ था ही। अब पूर्ण समर्पण होना चाहिये। चीरहरणके द्वारा यही कार्य सुसम्पन्न होता है।

गोपियोंने जिनके लिये लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, जाति कुल, पुरजन-परिजन और गुरुजनोंकी परवा नहीं की; जिनकी प्राप्तिके लिये ही उनका यह महान् अनुष्ठान है, जिनके चरणोंमें उन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर रक्खा है, जिनसे निरावरण मिलनकी ही एकमात्र अभिलाषा है, उन्हीं निरावरण रसमय भगवान् श्रीकृष्णके सामने वे निरावरण भावसे न जा सकें—क्या यह उनकी साधनाकी अपूर्णता नहीं है ? है, अवश्य है । और यह समझकर ही गोपियाँ निरावरण-रूपसे उनके सामने गयीं ।

श्रीकृष्ण चराचर प्रकृतिके एकमात्र अधीश्वर हैं; समस्त क्रियाओंके कर्ता, भोक्ता और साक्षी भी वही हैं । ऐसा एक भी व्यक्त या अव्यक्त पदार्थ नहीं है, जो बिना किसी परदेके उनके सामने न हो । वही सर्वव्यापक, अन्तर्यामी हैं । गोपियोंके, गोपोंके और निखिल विश्वके वही आत्मा हैं । उन्हें स्वामी, गुरु, पिता, माता, सखा, पति आदिके रूपमें मानकर लोग उन्हींकी उपासना करते हैं । गोपियाँ उन्हीं भगवान्‌को जान-बूझकर कि यही भगवान् हैं —यही योगेश्वरेश्वर, क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम हैं—पतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं । श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका श्रद्धाभावसे पाठ कर जानेपर यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है कि गोपियाँ श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानती थीं, पहचानती थीं । वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत और श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंके अन्वेषणमें यह बात कोई भी देख-सुन-समझ सकता है । जो लोग भगवान्‌को भगवान् मानते हैं, उनसे सम्बन्ध रखते हैं, स्वामी-सुहृद् आदिके रूपमें उन्हें मानते हैं,

उनके हृदयमें गोपियोंके इस लोकोत्तर माधुर्यसम्बन्ध और उसकी साधनाके प्रति शङ्का ही कैसे हो सकती है।

गोपियोंकी इस दिव्य लीलाका जीवन उच्च श्रेणीके साधकके लिये आदर्श जीवन है। श्रीकृष्ण जीवके एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् परमात्मा हैं। हमारी बुद्धि, हमारी दृष्टि देहतक ही सीमित है। इसलिये हम श्रीकृष्ण और गोपियोंके प्रेमको भी केवल दैहिक तथा कामनाकलुषित समझ बैठते हैं। उस अपार्थिव और अप्राकृत लीलाको इस प्रकृतिके राज्यमें घसीट लाना हमारी स्थूल वासनाओंका हानिकर परिणाम है। जीवका मन भोगाभिमुख वासनाओंसे और तमोगुणी प्रवृत्तियोंसे अभिभूत रहता है। वह विषयोंमें ही इधर-से-उधर भटकता रहता है और अनेकों प्रकारके रोग-शोकसे आक्रान्त रहता है। जब कभी पुण्यकर्मोंके फल उदय होनेपर भगवान्‌की अचिन्त्य अहैतुकी कृपासे विचारका उदय होता है, तब जीव दुःखज्वालासे त्राण पानेके लिये और अपने प्राणोंको शान्तिमय धाममें पहुँचानेके लिये उत्सुक हो उठता है। वह भगवान्‌के लीलाधामोंकी यात्रा करता है, सत्सङ्ग प्राप्त करता है और उसके हृदयकी छटपटी उस आकाङ्क्षाको लेकर, जो अबतक सुप्त थी, जगकर बड़े वेगसे परमात्माकी ओर चल पड़ती है। चिरकालसे विषयोंका ही अभ्यास होनेके कारण बीच-बीचमें विषयोंके संस्कार उसे सताते हैं और बार-बार विक्षेपोंका सामना करना पड़ता है। परंतु भगवान्‌की प्रार्थना, कीर्तन, स्मरण, चिन्तन करते-करते चित्त सरस होने लगता है और धीरे-धीरे उसे भगवान्‌की सन्निधिका अनुभव भी होने लगता है। थोड़ा-सा रसका अनुभव होते

ही चित्त बड़े वेगसे अन्तर्देशमें प्रवेश कर जाता है और भग मार्गदर्शकके रूपमें संसार-सागरसे पार ले जानेवाली नावपर केव रूपमें अथवा यों कहें कि साक्षात् चित्स्वरूप गुरुदेवके रूपमें प्र हो जाते हैं। ठीक उसी क्षण अभाव, अपूर्णता और सीमाका बन्ध नष्ट हो जाता है, विशुद्ध आनन्द—विशुद्ध ज्ञानकी अनुभूति हं लगती है।

गोपियाँ, जो अभी-अभी साधनसिद्ध होकर भगवान्की अन्तर लीलामें प्रविष्ट होनेवाली हैं, चिरकालसे श्रीकृष्णके प्राणोंमें अपने प्राण मिला देनेके लिये उत्कण्ठित हैं, सिद्धिलाभके समीप पहुँच चुकी हैं। अथवा जो नित्यसिद्धा होनेपर भी भगवान्की इच्छाके अनुसार उनकी दिव्य लीलामें सहयोग प्रदान कर रही हैं, उनके हृदयके समस्त भावोंके एकान्त ज्ञाता श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाकर उन्हें आकृष्ट करते हैं और जो कुछ उनके हृदयमें बचे-खुचे पुराने संस्कार हैं, मानो उन्हें धो डालनेके लिये साधनामें लगाते हैं। उनकी कितनी दया है, वे अपने प्रेमियोंसे कितना प्रेम करते हैं—यह सोचकर चित्त मुग्ध हो जाता है, गद्गद हो जाता है।

श्रीकृष्ण गोपियोंके वस्त्रोंके रूपमें उनके समस्त संस्कारोंके आवरण अपने हाथमें लेकर पास ही कदम्बके वृक्षपर चढ़कर बैठ गये। गोपियाँ जलमें थीं, वे जलमें सर्वव्यापक, सर्वदर्शी भगवान् श्रीकृष्णसे मानो अपनेको गुप्त समझ रही थीं—वे मानो इस तत्त्वको भूल गयी थीं कि श्रीकृष्ण जलमें ही नहीं हैं, स्वयं जलस्वरूप भी वही हैं। उनके पुराने संस्कार श्रीकृष्णके सम्मुख जानेमें बाधक हो

रहे थे; वे श्रीकृष्णके लिये सब कुछ भूल गयी थीं, परंतु अबतक अपनेको नहीं भूली थीं। वे चाहती थीं केवल श्रीकृष्णको, परंतु उनके संस्कार बीचमें एक परदा रखना चाहते थे। प्रेम प्रेमी और प्रियतमके बीचमें एक पुष्पका भी परदा नहीं रखना चाहता। प्रेमकी प्रकृति है सर्वथा व्यवधानरहित, अबाध और अनन्त मिलन। जहाँतक अपना सर्वस्व—इसका विस्तार चाहे जितना हो—प्रेमकी ज्वालामें भस्म नहीं कर दिया जाता, वहाँतक प्रेम और समर्पण दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। इसी अपूर्णताको दूर करते हुए, 'शुद्ध भावसे प्रसन्न हुए'—(शुद्धभावप्रसादितः) श्रीकृष्णने कहा कि 'मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियो! एक बार, केवल एक बार अपने सर्वस्वको और अपनेको भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही। तुम्हारे हृदयमें जो अव्यक्त त्याग है, उसे एक क्षणके लिये व्यक्त तो करो। क्या तुम मेरे लिये इतना भी नहीं कर सकती हो?' गोपियोंने मानो कहा—'श्रीकृष्ण! हम अपनेको कैसे भूलें? हमारी जन्म-जन्मकी धारणाएँ भूलने दें, तब न। हम संसारके अगाध जलमें आकण्ठ मग्न हैं। जाड़ेका कष्ट भी है। हम आना चाहनेपर भी नहीं आ पाती हैं। श्यामसुन्दर! प्राणोंके प्राण! हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी हैं। तुम्हारी आज्ञाओंका पालन करेंगी। परंतु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।' साधककी यह दशा—भगवान्‌को चाहना और साथ ही संसारको भी [illegible]ना, संस्कारोंमें ही उलझे रहना—मायाके परदेको बनाये [illegible] द्विविधाकी दशा है। भगवान् यही सिखाते हैं कि

'संस्कारशून्य होकर, निरावरण होकर, मायाका परदा हटाकर आओ; मेरे पास आओ। अरे, तुम्हारा यह मोहका परदा तो मैंने ही छीन लिया है; तुम अब इस परदेके मोहमें क्यों पड़ी हो ! यह परदा ही तो—परमात्मा और जीवके बीचमें बड़ा व्यवधान है; यह हट गया, बड़ा कल्याण हुआ। अब तुम मेरे पास आओ, तभी तुम्हारी चिर-संचित आकाङ्क्षाएँ पूरी हो सकेंगी।' परमात्मा श्रीकृष्णका यह आह्वान, आत्माके आत्मा परम प्रियतमके मिलनका यह मधुर आमन्त्रण भगवत्कृपासे जिसके अन्तर्देशमें प्रकट हो जाता है, वह प्रेममें निमग्न होकर सब कुछ छोड़कर, छोड़ना भी भूलकर प्रियतम श्रीकृष्णके चरणोंमें दौड़ आता है। फिर न उसे अपने वस्त्रोंकी सुधि रहती है और न लोगोंका ध्यान ! न वह जगत्को देखता है न अपनेको। यह भगवत्प्रेमका रहस्य है। विशुद्ध और अनन्य भगवत्प्रेममें ऐसा होता ही है।

गोपियाँ आयीं, श्रीकृष्णके चरणोंके पास मूकभावसे खड़ी हो गयीं। उनका मुख लज्जावनत था। यत्किञ्चित् संस्कारशेष श्रीकृष्णके पूर्ण आभिमुख्यमें प्रतिबन्ध हो रहा था। श्रीकृष्ण मुसकराये। उन्होंने इशारेसे कहा—'इतने बड़े त्यागमें यह संकोच कलङ्क है। तुम तो सदा निष्कलङ्का हो; तुम्हें इसका भी त्याग, त्यागके भावका भी त्याग—त्यागकी स्मृतिका भी त्याग करना होगा।' गोपियोंकी दृष्टि श्रीकृष्णके मुखकमलपर पड़ी। दोनों हाथ अपने-आप जुड़ गये और सूर्यमण्डलमें विराजमान अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे ही उन्होंने प्रेमकी भिक्षा माँगी। गोपियोंके इसी सर्वस्व-त्यागने, इसी पूर्ण समर्पणने, इसी

उच्चतम आत्मविस्मृतिने उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमसे भर दिया। वे दिव्य रसके अलौकिक अप्राकृत मधुके अनन्त समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं। वे सब कुछ भूल गयीं, भूलनेवालेको भी भूल गयीं। उनकी दृष्टिमें अब श्यामसुन्दर थे। बस, केवल श्यामसुन्दर थे।

जब प्रेमी भक्त आत्मविस्मृत हो जाता है, तब उसका दायित्व प्रियतम भगवान्पर होता है। अब मर्यादारक्षाके लिये गोपियोंको तो वस्त्रकी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि उन्हें जिस वस्तुकी आवश्यकता थी, वह मिल चुकी थी। परंतु श्रीकृष्ण अपने प्रेमीको मर्यादाच्युत नहीं होने देते। वे स्वयं वस्त्र देते हैं और अपनी अमृतमयी वाणीके द्वारा उन्हें विस्मृतसे जगाकर फिर जगत्में लाते हैं। श्रीकृष्णने कहा—'गोपियो! तुम सती-साध्वी हो। तुम्हारा प्रेम और तुम्हारी साधना मुझसे छिपी नहीं है। तुम्हारा संकल्प सत्य होगा। तुम्हारा यह संकल्प—तुम्हारी यह कामना तुम्हें उस पदपर स्थित करती है, जो निस्संकल्पता और निष्कामताका है। तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण, तुम्हारा समर्पण पूर्ण और अब आगे आनेवाली शारदीय रात्रियोंमें हमारा रमण पूर्ण होगा। भगवान्ने साधना सफल होनेकी अवधि निर्धारित कर दी। इससे भी स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्णमें किसी भी काम-विकारकी कल्पना नहीं थी। कामी पुरुषका चित्त वस्त्रहीन स्त्रियोंको देखकर एक क्षणके लिये भी वश वशमें रह सकता है।

एक बात बड़ी विलक्षण है। भगवान्के सम्मुख जानेके पहले जो वस्त्र समर्पणकी पूर्णतामें बाधक हो रहे थे—विक्षेपका काम कर रहे थे—वही भगवान्की कृपा, प्रेम, सान्निध्य और वरदान प्राप्त

होनेके पश्चात् 'प्रसाद'-स्वरूप हो गये । इसका कारण क्या है ! इसका कारण है, भगवान्का सम्बन्ध । भगवान्ने अपने हाथसे उन वस्त्रोंको उठाया था और फिर उन्हें अपने उत्तम अङ्ग कंधेपर रख लिया था । नीचेके शरीरमें पहननेकी साड़ियाँ भगवान्के कंधेपर चढ़कर—उनका संस्पर्श पाकर कितनी अप्राकृत रसात्मक हो गयीं, कितनी पवित्र—कृष्णमय हो गयीं, इसका अनुमान कौन लगा सकता है । असलमें यह संसार तभीतक बाधक और विक्षेपजनक है, जबतक यह भगवान्से सम्बद्ध और भगवान्का प्रसाद नहीं हो जाता । उनके द्वारा प्राप्त होनेपर तो यह बन्धन ही मुक्तिस्वरूप हो जाता है । उनके सम्पर्कमें जाकर माया विशुद्ध विद्या बन जाती है । संसार और उसके समस्त कर्म अमृतमय आनन्दरससे परिपूर्ण हो जाते हैं । तब बन्धनका भय नहीं रहता । कोई भी आवरण भगवान्के दर्शनसे वञ्चित नहीं रख सकता । नरक नरक नहीं रहता, भगवान्का दर्शन होते रहनेके कारण वह वैकुण्ठ बन जाता है । इसी स्थितिमें पहुँचकर बड़े-बड़े साधक प्राकृत पुरुषके समान आचरण करते हुए-से दीखते हैं । भगवान् श्रीकृष्णकी अपनी होकर गोपियाँ पुनः वे ही वस्त्र धारण करती हैं अथवा श्रीकृष्ण वे ही वस्त्र धारण कराते हैं; परंतु गोपियोंकी दृष्टिमें अब वे वस्त्र वे वस्त्र नहीं हैं, वस्तुतः वे हैं भी नहीं—अब तो वे दूसरी ही वस्तु हो गये हैं । अब तो वे भगवान्के पावन प्रसाद हैं, पद-पदपर भगवान्का स्मरण करानेवाले भगवान्के परम सुन्दर प्रतीक हैं । इसीसे उन्होंने स्वीकार भी किया । उनकी प्रेममयी स्थिति मर्यादाके ऊपर थी, फिर भी उन्होंने भगवान्की

ी मर्यादा स्वीकार की । इस दृष्टिसे विचार करनेपर ऐसा जान
है कि भगवान्‌की यह चीरहरण-लीला भी अन्य लीलाओंकी
उच्चतम मर्यादासे परिपूर्ण है ।

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके सम्बन्धमें केवल वे ही प्राचीन
थ प्रमाण हैं, जिनमें उनकी लीलाका वर्णन हुआ है ।
एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिसमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका
न हो । श्रीकृष्ण 'स्वयं भगवान्' हैं, यही बात सर्वत्र मिलती
ो श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यह स्पष्ट है कि वे उन
ो भी नहीं मानते । और जो उन ग्रन्थोंको ही प्रमाण नहीं
वे उनमें वर्णित लीलाओंके आधारपर श्रीकृष्ण-चरित्रकी समीक्षा
अधिकार भी नहीं रखते । भगवान्‌की लीलाओंको मानवीय
समकक्ष रखना शास्त्रदृष्टिसे एक महान् अपराध है और
अनुकरणका तो सर्वथा ही निषेध है । मानवबुद्धि—जो
ोंसे ही परिवेष्टित है—केवल जड़के सम्बन्धमें ही सोच
है, भगवान्‌की दिव्य चिन्मयी लीलाके सम्बन्धमें कोई कल्पना
कर सकती । वह बुद्धि स्वयं ही अपना उपहास करती है,
स बुद्धियोंके प्रेरक और बुद्धियोंसे अत्यन्त परे रहनेवाले
ी दिव्य लीलाको अपनी कसौटीपर कसती है !

य और बुद्धिके सर्वथा विपरीत होनेपर भी यदि थोड़ी देरके
। लें कि श्रीकृष्ण भगवान् नहीं थे या उनकी यह लीला
ो, तो भी तर्क और युक्तिके सामने ऐसी कोई बात नहीं
ो जो श्रीकृष्णके चरित्रमें लाञ्छन हो । श्रीमद्भागवतका

पारायण करनेवाले जानते हैं कि व्रजमें श्रीकृष्णने केवल ग्यारह वर्षकी अवस्थातक ही निवास किया था। यदि रासलीलाका समय दसवाँ वर्ष मानें, तो नवें वर्षमें ही चीरहरणलीला हुई थी। इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती कि आठ-नौ वर्षके बालकमें कामोत्तेजना हो सकती है। गाँवकी गँवारिन ग्वालिनें, जहाँ वर्तमानकालकी नागरिक मनोवृत्ति नहीं पहुँच पायी है, एक आठ-नौ वर्षके बालकसे *अवैध सम्बन्ध करना चाहें और उसके लिये साधना* करें—यह कदापि सम्भव नहीं दीखता। उन कुमारी गोपियोंके मनमें कलुषित वृत्ति थी, यह वर्तमान कलुषित मनोवृत्तिकी उद्भावना है। आजकल जैसे गाँवकी छोटी-छोटी लड़कियाँ 'राम'-सा वर और 'लक्ष्मण'-सा देवर पानेके लिये देवी-देवताओंकी पूजा करती हैं, वैसे ही उन कुमारियोंने भी परमसुन्दर परममधुर श्रीकृष्णको पानेके लिये देवी-पूजन और व्रत किये थे। इसमें दोषकी कौन-सी बात है!

आजकी बात निराली है। भोगप्रधान देशोंमें तो नग्नसम्प्रदाय और नग्नस्नानके क्लब भी बने हुए हैं। उनकी दृष्टि इन्द्रिय-तृप्तितक ही सीमित है। भारतीय मनोवृत्ति इस उत्तेजक एवं मलिन व्यापारके विरुद्ध है। नग्नस्नान एक दोष है, जो कि पशुत्वको बढ़ानेवाला है। शास्त्रोंमें इसका निषेध है, 'न नग्नः स्नायात्'—यह शास्त्रकी आज्ञा है। श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे कि गोपियाँ शास्त्रके विरुद्ध आचरण करें। केवल लौकिक अनर्थ ही नहीं—भारतीय ऋषियोंका यह सिद्धान्त, जो प्रत्येक वस्तुमें पृथक्-पृथक् *देवताओंका अस्तित्व मानता है* इस नग्नस्नानको देवताओंके विपरीत बतलाता है। श्रीकृष्ण जानते थे कि

रुण देवताका अपमान होता है। गोपियाँ अपनी अभीष्ट-सिद्धिके
ा तपस्या कर रही थीं, उसमें उनका नग्नस्नान अनिष्ट फल
था और इस प्रथाके प्रभातमें ही यदि इसका विरोध न कर
य तो आगे चलकर इसका विस्तार हो सकता है; इसलिये
ा अलौकिक ढंगसे इसका निषेध कर दिया।

वोंकी ग्वालिनोंको इस प्रथाकी बुराई किस प्रकार समझायी
उके लिये भी श्रीकृष्णने एक मौलिक उपाय सोचा। यदि
के पास जाकर उन्हें देवतावादकी फिलसफी समझाते, तो
से नहीं समझ सकती थीं। उन्हें तो इस प्रथाके कारण
विपत्तिका प्रत्यक्ष अनुभव करा देना था। और विपत्तिका
राने के पश्चात् उन्होंने देवताओंके अपमानकी बात भी
तथा अञ्जलि बाँधकर क्षमा-प्रार्थनारूप प्रायश्चित्त भी करवाया।
ें उनकी बाल्यावस्थामें भी ऐसी प्रतिभा देखी जाती है।

ृष्ण आठ-नौ वर्षके थे, उनमें कामोत्तेजना नहीं हो सकती
ानकी कुप्रथाको नष्ट करनेके लिये उन्होंने चीरहरण
उत्तर सम्भव होनेपर भी श्रीमद्भागवतमें आये हुए 'काम' और
ोंसे कई लोग भड़क उठते हैं। यह केवल शब्दकी
जिसपर महात्मालोग ध्यान नहीं देते। श्रुतियोंमें और
अनेकों बार 'काम', 'रमण' और 'रति' आदि शब्दोंका
है; परंतु वहाँ उनका अश्लील अर्थ नहीं होता। गीतामें
ुद्ध काम' को परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है।
आत्मरमण, आत्ममिथुन और आत्मरति प्रसिद्ध ही है।

ऐसी स्थितिमें केवल कुछ शब्दोंको देखकर भड़कना विचारशील पुरुषोंका काम नहीं है। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं उन्हें रमण और रति शब्दका अर्थ केवल क्रीड़ा अथवा खिलवाड़ समझना चाहिये,जैसा कि व्याकरणके अनुसार ठीक है–'रमु क्रीडायाम्।'

दृष्टिभेदसे श्रीकृष्णकी लीला भिन्न-भिन्न रूपमें दीख पड़ती है। अध्यात्मवादी श्रीकृष्णको आत्माके रूपमें देखते हैं और गोपियोंको वृत्तियोंके रूपमें। वृत्तियोंका आवरण नष्ट हो जाना ही 'चीरहरण-लीला' है और उनका आत्मामें रम जाना ही 'रास' है। इस दृष्टिसे भी समस्त लीलाओंकी संगति बैठ जाती है। भक्तोंकी दृष्टिसे गोलोकाधिपति पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका यह सब नित्यलीला-विलास है और अनादि कालसे अनन्त कालतक यह नित्य चलता रहता है। कभी-कभी भक्तोंपर कृपा करके वे अपने नित्य धाम और नित्य सखा-सहचरियोंके साथ लीला-धाममें प्रकट होकर लीला करते हैं और भक्तोंके स्मरण-चिन्तन तथा आनन्द-मङ्गलकी सामग्री प्रकट करके पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं। साधकोंके लिये किस प्रकार कृपा करके भगवान् अन्तर्मलको और अनादि कालसे संचित संस्कारपटको विशुद्ध कर देते हैं, यह बात भी इस चीरहरण-लीलासे प्रकट होती है। भगवान्‌की लीला रहस्यमयी है, उसका तत्त्व केवल भगवान् ही जानते हैं और उनकी कृपासे उनकी लीलामें प्रविष्ट भाग्यवान् भक्त कुछ-कुछ जानते हैं। यहाँ तो शास्त्रों और संतोंकी वाणीके आधारपर कुछ लिखनेकी धृष्टता की गयी है।

रासलीलाकी महिमा

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । १)

श्रीमद्भागवतमें रासलीलाके पाँच अध्याय उसके पाँच प्राण माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी परम अन्तरङ्गलीला, निजस्वरूपभूता गोपिकाओं और ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजीके साथ होनेवाली भगवान्की दिव्यातिदिव्य क्रीडा, इन अध्यायोंमें कही गयी है। 'रास' शब्दका मूल रस है और रस स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—'रसो वै सः' जिस दिव्य क्रीडामें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें होकर अनन्त-अनन्त रसका समास्वादन करे; एक रस ही रस-समूहके रूपमें

प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें क्रीडा करे—उसका नाम रास है। भगवान्‌की यह दिव्य लीला, भगवान्‌के दिव्य धाममें दिव्यरूपसे निरन्तर हुआ करती है। यह भगवान्‌की विशेष कृपासे प्रेमी साधकोंके हितार्थ कभी-कभी अपने दिव्य धामके साथ ही भूमण्डलपर भी अवतीर्ण हुआ करती है, जिसको देख-सुन एवं गाकर तथा स्मरण-चिन्तन करके अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान्‌की इस परम रसमयी लीलाका आनन्द ले सकें और स्वयं भी भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होकर अपनेको कृतकृत्य कर सकें। इस पञ्चाध्यायीमें वंशीध्वनि, गोपियोंके अभिसार, श्रीकृष्णके साथ उनकी बातचीत, रमण, श्रीराधाजी-के साथ अन्तर्धान, पुनः प्राकट्य, गोपियोंके द्वारा दिये हुए वसना-सनपर विराजना, गोपियोंके कूट प्रश्नका उत्तर, रासनृत्य, क्रीडा, जलकेलि और वनविहारका वर्णन है—जो मानवी भाषामें होनेपर भी वस्तुतः परम दिव्य है।

समयके साथ ही मानव-मस्तिष्क भी पलटता रहता है। कभी अन्तर्दृष्टिकी प्रधानता हो जाती है और कभी बहिर्दृष्टिकी। आजका युग ही ऐसा है जिसमें भगवान्‌की दिव्य-लीलाओंकी तो बात ही क्या, स्वयं भगवान्‌के अस्तित्वपर ही अविश्वास प्रकट किया जा रहा है। ऐसी स्थितिमें इस दिव्य लीलाका रहस्य न समझकर लोग तरह-तरहकी आशङ्का प्रकट करें, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। यह लीला अन्तर्दृष्टिसे और मुख्यतः भगवत्कृपासे ही समझमें आती है। जिन भाग्यवान् और भगवत्कृपाप्राप्त महात्माओंने इसका

अनुभव किया है वे धन्य है और उनकी चरण-धूलिके प्रतापसे ही त्रिलोकी धन्य है। उन्हींकी उक्तियोंका आश्रय लेकर यहाँ रासलीलाके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् लिखनेकी धृष्टता की जाती है।

यह बात पहले ही समझ लेनी चाहिये कि भगवान्का शरीर जीव-शरीरकी भाँति जड़ नहीं होता। जडकी सत्ता केवल जीवकी दृष्टिमें होती है, भगवान्की दृष्टिमें नहीं। यह देह है और यह देही है, इस प्रकारका भेदभाव केवल प्रकृतिके राज्यमें होता है। अप्राकृत लोकमें—जहाँकी प्रकृति भी चिन्मय है—सब कुछ चिन्मय ही होता है; वहाँ अचित्की प्रतीति तो केवल चिद्विलास अथवा भगवान्की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है। इसलिये स्थूलतामें—या यों कहिये कि जडराज्यमें रहनेवाला मस्तिष्क जब भगवान्की अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्धमें विचार करने लगता है तब वह अपनी पूर्व वासनाओंके अनुसार जडराज्यकी धारणाओं, कल्पनाओं और क्रियाओंका ही आरोप उस दिव्य राज्यके विषयमें भी करता है, इसलिये दिव्यलीलाके रहस्यको समझनेमें असमर्थ हो जाता है। यह रास वस्तुतः परम उज्ज्वल रसका एक दिव्य प्रकाश है। जड जगत्की बात तो दूर रही, ज्ञानरूप या विज्ञानरूप जगत्में भी यह प्रकट नहीं होता। अधिक क्या, साक्षात् चिन्मय तत्त्वमें भी इस परम दिव्य उज्ज्वल रसका लेशाभास नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा गोपीजनोंके मधुर हृदयमें ही होती है। इस रासलीलाके यथार्थस्वरूप और परम

माधुर्यका आस्वाद उन्हींको मिलता है, दूसरे लोग तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते ।

भगवान्‌के समान ही गोपियाँ भी परमरसमयी और सच्चिदानन्द-मयी ही हैं । साधनाकी दृष्टिसे भी उन्होंने न केवल जड शरीरका ही त्याग कर दिया है, बल्कि सूक्ष्म शरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होनेवाले मोक्ष—और तो क्या, जडताकी दृष्टिका ही त्याग कर दिया है । उनकी दृष्टिमें केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं, उनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला प्रेमामृत है । उनकी इस अलौकिक स्थितिमें स्थूलशरीर, उसकी स्मृति और उसके सम्बन्धसे होनेवाले अङ्ग-सङ्गकी कल्पना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती । ऐसी कल्पना तो केवल देहात्मबुद्धिसे जकड़े हुए जीवोंकी ही होती है । जिन्होंने गोपियोंको पहचाना है, उन्होंने गोपियोंकी चरणधूलिका स्पर्श प्राप्त करके अपनी कृतकृत्यता चाही है । ब्रह्मा, शङ्कर, उद्धव और अर्जुनने गोपियोंकी उपासना करके भगवान्‌के चरणोंमें वैसे प्रेमका वरदान प्राप्त किया है या प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है । उन गोपियोंके दिव्य भावको साधारण स्त्री-पुरुषके भाव-जैसा मानना गोपियोंके प्रति, भगवान्‌के प्रति और वास्तवमें सत्यके प्रति महान् अन्याय एवं अपराध है । इस अपराधसे बचनेके लिये भगवान्‌की दिव्य लीलाओंपर विचार करते समय उनकी अप्राकृत दिव्यताका स्मरण रखना परमावश्यक है ।

भगवान्‌का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है । वह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादानरहित है । वह नित्य सनातन शुद्ध

भगवत्स्वरूप ही है । इसी प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत्की भगवान्की स्वरूपभूता अन्तरङ्ग-शक्तियाँ हैं । इन दोनोंका सम्बन्ध भी दिव्य ही है । यह उच्चतम भावराज्यकी लीला स्थूल शरीर और स्थूल मनसे परे है । आवरण-भङ्गके अनन्तर अर्थात् चीर-हरण करके जब भगवान् स्वीकृति देते हैं, तब इसमें प्रवेश होता है ।

प्राकृत देहका निर्माण होता है स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन देहोंके संयोगसे । जबतक 'कारण शरीर' रहता है, तबतक इस प्राकृत देहसे जीवको छुटकारा नहीं मिलता । 'कारण शरीर' कहते हैं पूर्वकृत कर्मोंके उन संस्कारोंको, जो देह-निर्माणमें कारण होते हैं । इस 'कारण शरीर' के आधारपर जीवको बार-बार जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ना होता है और यह चक्र जीवकी मुक्ति न होनेतक अथवा 'कारण' का सर्वथा अभाव न होनेतक चलता ही रहता है । इसी कर्मबन्धनके कारण पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर मिलता है—जो रक्त, मांस, अस्थि आदिसे भरा और चमड़ेसे ढका होता है । प्रकृतिके राज्यमें जितने शरीर होते हैं, सभी वस्तुतः योनि और बिन्दुके संयोगसे ही बनते हैं; फिर चाहे कोई कामजनित निकृष्ट मैथुनसे उत्पन्न हो या ऊर्ध्वरेता महापुरुषके संकल्पसे । बिन्दुके अधोगामी होनेपर कर्तव्यरूप श्रेष्ठ मैथुनसे हो, अथवा बिना ही मैथुनके नाभि, हृदय, कण्ठ, कर्ण, नेत्र, सिर, मस्तक आदिके स्पर्शसे, बिना ही स्पर्शके केवल दृष्टिमात्रसे अथवा बिना देखे केवल संकल्पसे ही उत्पन्न हो । ये मैथुनी-अमैथुनी (अथवा कभी-कभी स्त्री या

पुरुष-शरीरके बिना भी उत्पन्न होनेवाले) सभी शरीर हैं योनि और बिन्दुके संयोगजनित ही । ये सभी प्राकृत शरीर हैं । इसी प्रकार योगियोंके द्वारा निर्मित 'निर्माणकाय' यद्यपि अपेक्षाकृत शुद्ध हैं, परंतु वे भी हैं प्राकृत ही । पितर या देवोंके दिव्य कहलानेवाले शरीर भी प्राकृत ही हैं । अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होते । और भगवद्देह तो साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है । देव-शरीर प्रायः रक्त-मांस-मेद-अस्थिवाले नहीं होते । अप्राकृत शरीर भी नहीं होते । फिर भगवान् श्रीकृष्णका भगवत्स्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे । वह तो सर्वथा चिदानन्दमय है । उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीलापुरुषोत्तमका भेद नहीं है । श्रीकृष्णका एक-एक अङ्ग पूर्ण श्रीकृष्ण है । श्रीकृष्णका मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्णका पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है । श्रीकृष्णकी सभी इन्द्रियोंसे सभी काम हो सकते हैं । उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है । वे हाथोंसे देख सकते हैं, आँखोंसे चल सकते हैं । श्रीकृष्णका सब कुछ श्रीकृष्ण होनेके कारण वह सर्वथा पूर्णतम है । इसीसे उनकी रूपमाधुरी नित्यवर्द्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है । उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह स्वयं अपनेको ही आकर्षित कर लेती है । फिर उनके सौन्दर्य-माधुर्यसे गौ-हरिन और वृक्ष-बेल पुलकित हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है । भगवान्के ऐसे स्वरूपभूत शरीरसे गंदा

पुरुष-शरीरके बिना भी उत्पन्न होनेवाले) सभी शरीर हैं योनि औ बिन्दुके संयोगजनित ही। ये सभी प्राकृत शरीर हैं। इसी प्रका योगियोंके द्वारा निर्मित 'निर्माणकाय' यद्यपि अपेक्षाकृत शुद्ध हैं, परं वे भी हैं प्राकृत ही। पितर या देवोंके दिव्य कहलानेवाले शरीर भी प्राकृत ही हैं। अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होते। और भगवद्देह तो साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। देव-शरीर प्रायः रक्त-मांस-मेद-अस्थिवाले नहीं होते। अप्राकृत शरीर भी नहीं होते। फिर भगवान् श्रीकृष्णका भगवत्स्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे। वह तो सर्वथा चिदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीलापुरुषोत्तमका भेद नहीं है। श्रीकृष्णका एक-एक अङ्ग पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णका मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही

पुरुष-शरीरके बिना भी उत्पन्न होनेवाले) सभी शरीर हैं योनि और बिन्दुके संयोगजनित ही । ये सभी प्राकृत शरीर हैं । इसी प्रकार योगियोंके द्वारा निर्मित 'निर्माणकाय' यद्यपि अपेक्षाकृत शुद्ध हैं, परंतु वे भी हैं प्राकृत ही । पितर या देवोंके दिव्य कहलानेवाले शरीर भी प्राकृत ही हैं । अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होते । और भगवद्देह तो साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है । देव-शरीर प्रायः रक्त-मांस-मेद-अस्थिवाले नहीं होते । अप्राकृत शरीर भी नहीं होते । फिर भगवान् श्रीकृष्णका भगवत्स्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे । वह तो सर्वथा चिदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीलापुरुषोत्तमका भेद नहीं है । श्रीकृष्णका एक-एक अङ्ग पूर्ण श्रीकृष्ण है । श्रीकृष्णका मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्णका पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है । श्रीकृष्णकी सभी इन्द्रियोंसे सभी काम हो सकते हैं । उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है । वे हाथोंसे देख सकते हैं, आँखोंसे चल सकते हैं । श्रीकृष्णका सब कुछ श्रीकृष्ण होनेके कारण वह सर्वथा पूर्णतम है । इसीसे उनकी रूपमाधुरी नित्यवर्द्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है । उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह स्वयं अपनेको ही आकर्षित कर लेती है । फिर उनके सौन्दर्य-माधुर्यसे गौ-हरिन और वृक्ष-बेल पुलकित हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है । भगवान्‌के ऐसे सत्स्वरूपभूत शरीरसे गंदा

ने अगली रात्रियाँ कौन-सी हैं, यह बात भगवान्‌की दृष्टिके सामने है। उन्होंने शारदीय रात्रियोंको देखा। 'भगवान्‌ने देखा'—इसका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष है। जैसे सृष्टिके प्रारम्भमें 'स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्।'—भगवान्‌के इस ईक्षणसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रासके प्रारम्भमें भगवान्‌के प्रेम-वीक्षणसे शरत्कालकी दिव्य रात्रियोंकी सृष्टि होती है। मल्लिका-पुष्प, चन्द्रिका आदि समस्त उद्दीपनसामग्री भगवान्‌के द्वारा वीक्षित है अर्थात् लौकिक नहीं, अलौकिक—अप्राकृत है। गोपियोंने अपना मन श्रीकृष्णके मनमें मिला दिया था। उनके पास स्वयं मन न था। अब प्रेम-दान करनेवाले श्रीकृष्णने विहारके लिये नवीन मनकी—दिव्य मनकी सृष्टि की। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यही योगमाया है जो रासलीलाके लिये दिव्य स्थल, दिव्य सामग्री एवं दिव्य मनका निर्माण किया करती है। इतना होनेपर भगवान्‌की बाँसुरी बजती है।

भगवान्‌की बाँसुरी जडको चेतन, चेतनको जड, चलको अचल और अचलको चल, विक्षिप्तको समाधिस्थ और समाधिस्थको विक्षिप्त बनाती ही रहती है। भगवान्‌का प्रेमदान प्राप्त करके गोपियाँ निस्संकल्प, निश्चिन्त होकर घरके काममें लगी हुई थीं। कोई गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा—धर्मके काममें लगी हुई थी, कोई गो-दोहन आदि अर्थके काममें लगी हुई थी, कोई साज-शृङ्गार आदि कामके साधनमें व्यस्त थी, कोई पूजा-पाठ आदि मोक्षसाधनमें लगी हुई थी। सब लगी हुई थीं अपने-अपने काममें, परंतु वास्तवमें वे उनमेंसे एक भी पदार्थ चाहती न थीं। यही उनकी विशेषता थी और इसका

प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया; काम पूरा करके चलें, ऐसा उन्होंने नहीं सोचा। वे चल पड़ीं उस साधक संन्यासीके समान, जिसका हृदय वैराग्यकी प्रदीप्त ज्वालासे परिपूर्ण है। किसीने किसीसे पूछा नहीं, सलाह नहीं की; अस्त-व्यस्त गतिसे जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्णके पास पहुँच गयी। वैराग्यकी पूर्णता और प्रेमकी पूर्णता एक ही बात है, दो नहीं। गोपियाँ व्रज और श्रीकृष्णके बीचमें मूर्तिमान् वैराग्य हैं या मूर्तिमान् प्रेम, क्या इसका निर्णय कोई कर सकता है?

साधनाके दो भेद हैं—१–मर्यादापूर्ण वैध साधना और २–मर्यादारहित अवैध प्रेमसाधना। दोनोंके ही अपने-अपने स्वतन्त्र नियम हैं। वैध साधनामें जैसे नियमोंके बन्धनका, सनातन पद्धतिका, कर्त्तव्योंका और विविध पालनीय धर्मोंका त्याग साधनासे भ्रष्ट करनेवाला और महान् हानिकर है, वैसे ही अवैध प्रेमसाधनामें इनका पालन कलङ्करूप होता है। यह बात नहीं कि इन सब आत्मोन्नतिके साधनोंको वह अवैध प्रेमसाधनाका साधक जान-बूझकर छोड़ देता है। बात यह है कि वह स्तर ही ऐसा है, जहाँ इनकी आवश्यकता नहीं है। ये वहाँ अपने-आप वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे नदीके पार पहुँच जानेपर स्वाभाविक ही नौकाकी सवारी छूट जाती है। जमीनपर न तो नौकापर बैठकर चलनेका प्रश्न उठता है और न ऐसा चाहने या करनेवाला बुद्धिमान् ही माना जाता है। ये सब साधन वहींतक रहते हैं, जहाँतक सारी वृत्तियाँ सहज स्वेच्छासे सदा-सर्वदा एकमात्र भगवान्‌की ओर दौड़ने नहीं लग जातीं।

वे अगली रात्रियाँ कौन-सी हैं, यह बात भगवान्‌की दृष्टिके सामने है। उन्होंने शारदीय रात्रियोंको देखा। 'भगवान्‌ने देखा'—इसका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष है। जैसे सृष्टिके प्रारम्भमें 'स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्।'—भगवान्‌के इस ईक्षणसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रासके प्रारम्भमें भगवान्‌के प्रेम-वीक्षणसे शरत्कालकी दिव्य रात्रियोंकी सृष्टि होती है। मल्लिका-पुष्प, चन्द्रिका आदि समस्त उद्दीपनसामग्री भगवान्‌के द्वारा वीक्षित है अर्थात् लौकिक नहीं, अलौकिक—अप्राकृत है। गोपियोंने अपना मन श्रीकृष्णके मनमें मिला दिया था। उनके पास स्वयं मन न था। अब प्रेम-दान करनेवाले श्रीकृष्णने विहारके लिये नवीन मनकी—दिव्य मनकी सृष्टि की। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यही योगमाया है जो रासलीलाके लिये दिव्य स्थल, दिव्य सामग्री एवं दिव्य मनका निर्माण किया करती है। इतना होनेपर भगवान्‌की बाँसुरी बजती है।

भगवान्‌की बाँसुरी जडको चेतन, चेतनको जड, चलको अचल और अचलको चल, विक्षिप्तको समाधिस्थ और समाधिस्थको विक्षिप्त बनाती ही रहती है। भगवान्‌का प्रेमदान प्राप्त करके गोपियाँ निस्संकल्प, निश्चिन्त होकर घरके काममें लगी हुई थीं। कोई गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा—धर्मके काममें लगी हुई थी, कोई गो-दोहन आदि अर्थके काममें लगी हुई थी, कोई साज-शृङ्गार आदि कामके साधनमें व्यस्त थी, कोई पूजा-पाठ आदि मोक्षसाधनमें लगी हुई थी। सब लगी हुई थीं अपने-अपने काममें, परंतु वास्तवमें वे उनमेंसे एक भी पदार्थ चाहती न थीं। यही उनकी विशेषता थी और इसका

माण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्मकी पूर्णतापर
यान नहीं गया; काम पूरा करके चलें, ऐसा उन्होंने नहीं
चल पड़ीं उस साधक संन्यासीके समान, जिसका हृदय
प्रदीप्त ज्वालासे परिपूर्ण है। किसीने किसीसे पूछा नहीं,
हीं की; अस्त-व्यस्त गतिसे जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्णके
गयी। वैराग्यकी पूर्णता और प्रेमकी पूर्णता एक ही बात
नहीं। गोपियाँ व्रज और श्रीकृष्णके बीचमें मूर्तिमान् वैराग्य
र्तिमान् प्रेम, क्या इसका निर्णय कोई कर सकता है ?

धनाके दो भेद हैं—१—मर्यादापूर्ण वैध साधना और
दारहित अवैध प्रेमसाधना। दोनोंके ही अपने-अपने स्वतन्त्र
। वैध साधनामें जैसे नियमोंके बन्धनका, सनातन पद्धतिका,
का और विविध पालनीय धर्मोंका त्याग साधनासे भ्रष्ट
ा और महान् हानिकर है, वैसे ही अवैध प्रेमसाधनामें इनका
कलङ्करूप होता है। यह बात नहीं कि इन सब आत्मोन्नतिके
ही वह अवैध प्रेमसाधनाका साधक जान-बूझकर छोड़ देता है।
है कि वह स्तर ही ऐसा है, जहाँ इनकी आवश्यकता नहीं
वहाँ अपने-आप वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे नदीके पार पहुँच
स्वाभाविक ही नौकाकी सवारी छूट जाती है। जमीनपर न
काप र बैठकर चलनेका प्रश्न उठता है और न ऐसा चाहने
नेवाला बुद्धिमान् ही माना जाता है। ये सब साधन वहींतक
हैं, जहाँतक सारी वृत्तियाँ सहज स्वेच्छासे सदा-सर्वदा एकमात्र
ृष्णकी ओर दौड़ने नहीं लग जातीं।

श्रीगोपीजन साधनाके इसी उच्च स्तरमें परम आदर्श थीं। उनकी सारी वृत्तियाँ सर्वथा श्रीकृष्णमें ही निमग्न रहती थीं। इसीसे उन्होंने देह-गेह, पति-पुत्र, लोक-परलोक, कर्तव्य-धर्म—सबको छोड़कर, सबका उल्लङ्घनकर एकमात्र परमधर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको ही पानेके लिये अभिसार किया था। उनका यह पति-पुत्रोंका त्याग, यह सर्वधर्मका त्याग ही उनके स्तरके अनुरूप स्वधर्म है।

इस 'सर्वधर्मत्याग' रूप स्वधर्मका आचरण गोपियों-जैसे उच्च स्तरके साधकोंमें ही सम्भव है; क्योंकि सब धर्मोंका यह त्याग वही कर सकते हैं, जो इसका यथाविधि पूरा पालन कर चुकनेके बाद इसके परमफल अनन्य और अचिन्त्य देवदुर्लभ भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुकते हैं। वे भी जान-बूझकर त्याग नहीं करते। सूर्यका प्रखर प्रकाश हो जानेपर तैलदीपककी भाँति स्वतः ही ये धर्म उसे त्याग देते हैं। यह त्याग तिरस्कारमूलक नहीं, वरं तृप्तिमूलक है। भगवत्-प्रेमकी ऊँची स्थितिका यही स्वरूप है। देवर्षि नारदजीका एक सूत्र है—

'वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।'

'जो वेदोंका (वेदमूलक समस्त धर्ममर्यादाओंका) भी भली-भाँति त्याग कर देता है, वह अखण्ड असीम भगवत्प्रेमको प्राप्त करता है।'

जिसको भगवान् अपनी वंशीध्वनि सुनाकर—नाम ले-लेकर बुलायें वह भला, किसी दूसरे धर्मकी ओर ताककर कब और कैसे रुक सकता है!

रोकनेवालोंने रोका भी, परंतु हिमालयसे निकलकर समुद्रमें गिरनेवाली ब्रह्मपुत्र नदीकी प्रखर धाराको क्या कोई रोक सकता है ! वे न रुकीं, नहीं रोकी जा सकीं । जिनके चित्तमें कुछ प्राक्तन संस्कार अवशिष्ट थे, वे अपने अनधिकारके कारण शरीरसे जानेमें समर्थ न हुईं । उनका शरीर घरमें पड़ा रह गया, भगवान्‌के वियोग-दुःखसे उनके सारे कलुष धुल गये, ध्यानमें प्राप्त भगवान्‌के प्रेमालिङ्गनसे उनके समस्त पुण्योंका परमफल प्राप्त हो गया और वे भगवान्‌के पास सशरीर जानेवाली गोपियोंके पहुँचनेसे पहले ही भगवान्‌के पास पहुँच गयीं । भगवान्‌में मिल गयीं । यह शास्त्रका प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पाप-पुण्यके कारण ही बन्धन होता है और शुभाशुभका भोग होता है । शुभाशुभ कर्मोंके भोगसे जब पाप-पुण्य दोनों नाश हो जाते हैं तब जीवकी मुक्ति हो जाती है । यद्यपि गोपियाँ पाप-पुण्यसे रहित श्रीभगवान्‌की प्रेम-प्रतिमास्वरूपा थीं, तथापि लीलाके लिये यह दिखाया गया है कि अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास न जा सकनेसे उनके विरहानलसे उनको इतना महान् संताप हुआ कि उससे उनके सम्पूर्ण अशुभका भोग हो गया, उनके समस्त पाप नाश हो गये । और प्रियतम भगवान्‌के ध्यानसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उससे उनके सारे पुण्योंका फल मिल गया । इस प्रकार पाप-पुण्योंका पूर्णरूपसे अभाव होनेसे उनकी मुक्ति हो गयी । चाहे किसी भी भावसे हो—कामसे, क्रोधसे, लोभसे—जो भगवान्‌के मङ्गलमय श्रीविग्रहका चिन्तन करता है उसके भावकी अपेक्षा न करके वस्तुशक्तिसे ही उसका कल्याण हो जाता है । यह भगवान्‌के

श्रीविग्रहकी विशेषता है। भावके द्वारा तो एक प्रस्तरमूर्ति भी परम कल्याणका दान कर सकती है, बिना भावके ही कल्याणदान भगवद्विग्रहका सहज दान है।

भगवान् हैं बड़े लीलामय। जहाँ वे अखिल विश्वके विधाता ब्रह्मा, शिव आदिके भी वन्दनीय निखिल जीवोंके प्रत्यगात्मा हैं, वहीं वे लीलानटवर गोपियोंके इशारेपर नाचनेवाले भी हैं। उन्हींकी इच्छासे उन्हींके प्रेमाह्वानसे, उन्हींके वंशी-निमन्त्रणसे प्रेरित होकर गोपियाँ उनके पास आयीं; परंतु उन्होंने ऐसी भावभङ्गी प्रकट की, ऐसा स्वाँग बनाया, मानो उन्हें गोपियोंके आनेका कुछ पता ही न हो। शायद गोपियोंके मुँहसे वे उनके हृदयकी बात—प्रेमकी बात सुनना चाहते हों। सम्भव है, वे विप्रलम्भके द्वारा उनके मिलन-भावको परिपुष्ट करना चाहते हों। बहुत करके तो ऐसा मालूम होता है कि कहीं लोग इसे साधारण बात न समझ लें, इसलिये साधारण लोगोंके लिये उपदेश और गोपियोंका अधिकार भी उन्होंने सबके सामने रख दिया। उन्होंने बतलाया—'गोपियो! व्रजमें कोई विपत्ति तो नहीं आयी, घोर रात्रिमें यहाँ आनेका कारण क्या है? घरवाले ढूँढ़ते होंगे, अब यहाँ ठहरना नहीं चाहिये। वनकी शोभा देख ली, अब बच्चों और बछड़ोंका भी ध्यान करो। धर्मके अनुकूल मोक्षके खुले हुए द्वार अपने सगे-सम्बन्धियोंकी सेवा छोड़कर वनमें दर-दर भटकना स्त्रियोंके लिये अनुचित है। स्त्रीको अपने पतिकी ही सेवा करनी चाहिये, वह कैसा भी क्यों न हो। यही सनातनधर्म है। इसीके अनुसार तुम्हें चलना चाहिये। मैं जानता हूँ कि तुम सब मुझसे प्रेम करती हो। परंतु प्रेममें शारीरिक सन्निधि आवश्यक नहीं है। श्रवण, स्मरण,

दर्शन और ध्यानसे सान्निध्यकी अपेक्षा अधिक प्रेम बढ़ता है। जाओ तुम सनातन सदाचारका पालन करो। इधर-उधर मनको मत भटकने दो।'

श्रीकृष्णकी यह शिक्षा गोपियोंके लिये नहीं, सामान्य नारी-जातिके लिये है। गोपियोंका अधिकार विशेष था और उसको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे वचन कहे थे। इन्हें सुनकर गोपियोंकी क्या दशा हुई और इसके उत्तरमें उन्होंने श्रीकृष्णसे क्या प्रार्थना की; वे श्रीकृष्णको मनुष्य नहीं मानतीं, उनके पूर्णब्रह्म सनातन स्वरूपको भलीभाँति जानती हैं और यह जानकर ही उनसे प्रेम करती हैं—इस बातका कितना सुन्दर परिचय दिया; यह सब विषय मूलमें ही पाठ करने योग्य है। सचमुच जिनके हृदयमें भगवान्के परमतत्त्वका वैसा अनुपम ज्ञान और भगवान्के प्रति वैसा महान् अनन्य अनुराग है और सचाईके साथ जिनकी वाणीमें वैसे उद्गार हैं, वे ही विशेष अधिकारवान् हैं।

गोपियोंकी प्रार्थनासे यह बात स्पष्ट है कि वे श्रीकृष्णको अन्तर्यामी, योगेश्वरेश्वर परमात्माके रूपमें पहचानती थीं और जैसे दूसरे लोग गुरु, सखा या माता-पिताके रूपमें श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं वैसे ही वे पतिके रूपमें श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं, जो कि शास्त्रोंमें मधुर भावके—उज्ज्वल परम रसके नामसे कहा गया है। जब प्रेमके सभी भाव पूर्ण होते हैं और साधकोंको स्वामि-सखादिके रूपमें भगवान् मिलते हैं, तब गोपियोंने क्या अपराध किया था कि उनका यह उच्चतम भाव—जिसमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य सब-के-सब अन्तर्भूत हैं और जो सबसे उन्नत एवं सबका अन्तिम रूप

है—क्यों न पूर्ण हो ! भगवान्‌ने उनका भाव पूर्ण किया और अपनेको असंख्य रूपोंमें प्रकट करके गोपियोंके साथ क्रीडा की । उनकी क्रीडाका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः' । जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण अथवा जलमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, वैसे ही रमेश भगवान् और व्रजसुन्दरियोंने रमण किया । अर्थात् सच्चिदानन्दघन सर्वान्तर्यामी प्रेमरसस्वरूप, लीलारसमय परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी ह्लादिनी शक्तिरूपा आनन्द-चिन्मयरस-प्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्तिसे उत्पन्न अपनी प्रतिबिम्ब-स्वरूपा गोपियोंसे आत्मक्रीडा की । पूर्णब्रह्म सनातन रसस्वरूप रसराज रसिक-शेखर रसपरब्रह्म अखिलरसामृतविग्रह भगवान् श्रीकृष्णकी इस चिदानन्द-रसमयी दिव्य क्रीडाका नाम ही रास है । इसमें न कोई जड शरीर था, न प्राकृत अङ्ग-सङ्ग था और न इसके सम्बन्धकी प्राकृत और स्थूल कल्पनाएँ ही थीं । यह था चिदानन्दमय भगवान्‌का दिव्य विहार, जो दिव्य लीलाधाममें सर्वदा होते रहनेपर भी कभी-कभी प्रकट होता है ।

वियोग ही संयोगका पोषक है, मान और मद ही भगवान्‌की लीलामें बाधक हैं । भगवान्‌की दिव्य लीलामें मान और मद भी, जो कि दिव्य हैं, इसीलिये होते हैं कि उनसे लीलामें रसकी और भी पुष्टि हो । भगवान्‌की इच्छासे ही गोपियोंमें लीलानुरूप मान और मदका संचार हुआ और भगवान् अन्तर्धान हो गये । जिनके हृदयमें लेशमात्र भी मद अवशेष है, नाममात्र भी मानका संस्कार शेष है

वे भगवान्‌के सम्मुख रहनेके अधिकारी नहीं। अथवा वे भगवान्‌के पास रहनेपर भी, दर्शन नहीं कर सकते। परंतु गोपियाँ गोपियाँ थीं, उनसे जगत्‌के किसी प्राणीकी तिलमात्र भी तुलना नहीं है। भगवान्‌के वियोगमें गोपियोंकी क्या दशा हुई, इस बातको रासलीलाका प्रत्येक पाठक जानता है। गोपियोंके शरीर-मन-प्राण, वे जो कुछ थीं—सब श्रीकृष्णमें एकतान हो गये। उनके प्रेमोन्मादका वह गीत, जो उनके प्राणोंका प्रत्यक्ष प्रतीक है, आज भी भावुक भक्तोंको भावमग्न करके भगवान्‌के लीलालोकमें पहुँचा देता है। एक बार सरस हृदयसे हृदयहीन होकर नहीं, पाठ करनेमात्रसे ही वह गोपियोंकी महत्ता सम्पूर्ण हृदयमें भर देता है। गोपियोंके उस 'महाभाव'—उस 'अलौकिक प्रेमोन्माद'को देखकर श्रीकृष्ण भी अन्तर्हित न रह सके, उनके सामने 'साक्षात् मन्मथमन्मथ'रूपसे प्रकट हुए और उन्होंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया कि 'गोपियो! मैं तुम्हारे प्रेमभावका चिर-ऋणी हूँ। यदि मैं अनन्त कालतक तुम्हारी सेवा करता रहूँ तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता। मेरे अन्तर्धान होनेका प्रयोजन तुम्हारे चित्तको दुखाना नहीं था, बल्कि तुम्हारे प्रेमको और भी उज्ज्वल एवं समृद्ध करना था।' इसके बाद रासक्रीडा प्रारम्भ हुई।

जिन्होंने अध्यात्मशास्त्रका स्वाध्याय किया है, वे जानते हैं कि योगसिद्धिप्राप्त साधारण योगी भी कायव्यूहके द्वारा एक साथ अनेक शरीरोंका निर्माण कर सकते हैं और अनेक स्थानोंपर उपस्थित रहकर पृथक्-पृथक् कार्य कर सकते हैं। इन्द्रादि देवगण एक ही समय अनेक स्थानोंपर उपस्थित होकर [illegible] यज्ञोंमें युगपत् आहुति स्वीकार

कर सकते हैं। निखिल योगियों और योगेश्वरोंके ईश्वर सर्वसमर्थ भगवान् श्रीकृष्ण यदि एक ही साथ अनेक गोपियोंके साथ क्रीड़ा करें, तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है! जो लोग भगवान्‌को भगवान् नहीं स्वीकार करते, वही अनेकों प्रकारकी शङ्का-कुशङ्काएँ करते हैं। भगवान्‌की निज लीलामें इन तर्कोंका सर्वथा प्रवेश नहीं है।

गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्णके स्वरूपको भुलाकर ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण जीव नहीं हैं कि जगत्‌की वस्तुओंमें उनका हिस्सेदार दूसरा जीव भी हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा—उसके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं। अपनी प्रार्थनामें गोपियोंने और परीक्षित्‌के प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है कि गोपी, गोपियोंके पति, उनके पुत्र, सगे-सम्बन्धी और जगत्‌के समस्त प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे, परमात्मारूपसे जो प्रभु स्थित हैं—वही श्रीकृष्ण हैं। कोई भ्रमसे, अज्ञानसे भले ही श्रीकृष्णको पराया समझे; वे किसीके पराये नहीं हैं, सबके अपने हैं, सब उनके हैं। श्रीकृष्णकी दृष्टिसे, जो कि वास्तविक दृष्टि है, कोई परकीया है ही नहीं; सब स्वकीया हैं, सब केवल अपना ही लीलाविलास हैं, सभी स्वरूपभूता अन्तरङ्गा शक्ति हैं। गोपियाँ इस बातको जानती थीं और स्थान-स्थानपर उन्होंने ऐसा कहा है।

ऐसी स्थितिमें 'जारभाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं है, अङ्ग-सङ्ग नहीं है, वहाँ 'औपपत्य' और 'जारभाव' की कल्पना ही कैसे हो सकती है?

गोपियाँ परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं; परंतु उनमें परकीयाभाव था। परकीया होनेमें और परकीयाभाव होनेमें आकाश-पातालका अन्तर है। परकीयाभावमें तीन बातें बड़े महत्त्वकी होती हैं—अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा और दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयाभावमें निरन्तर एक साथ रहनेके कारण ये तीनों बातें गौण हो जाती हैं, परंतु परकीयाभावमें ये तीनों भाव बने रहते हैं। कुछ गोपियाँ जारभावसे श्रीकृष्णको चाहती थीं। इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करती थीं, मिलनके लिये उत्कण्ठित रहती थीं और श्रीकृष्णके प्रत्येक व्यवहारको प्रेमकी आँखोंसे ही देखती थीं। चौथा भाव विशेष महत्त्वका और है—वह यह कि स्वकीया अपने घरका, अपना और अपने पुत्र-कन्याओंका पालन-पोषण, रक्षणावेक्षण पतिसे चाहती है। वह समझती है कि इनकी देख-रेख करना पतिका कर्तव्य है; क्योंकि ये सब उसीके आश्रित हैं, और वह पतिसे ऐसी आशा भी रखती है। कितनी ही पतिपरायणा क्यों न हो, स्वकीयामें यह सकामभाव छिपा रहता ही है। परंतु परकीया अपने प्रियतमसे कुछ नहीं चाहती, कुछ भी आशा नहीं रखती; वह तो केवल अपनेको देकर ही उसे सुखी करना चाहती है। श्रीगोपियोंमें यह भाव भी भलीभाँति प्रस्फुटित था। इसी विशेषताके कारण संस्कृत-साहित्यके कई ग्रन्थोंमें निरन्तर चिन्तनके उदाहरणस्वरूप परकीयाभावका वर्णन आता है।

गोपियोंके इस भावके एक नहीं, अनेकों दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें मिलते हैं; इसलिये गोपियोंपर परकीयापनका आरोप उनके भावको न समझनेके कारण है। जिसके जीवनमें साधारण धर्मकी एक हल्की-

सी प्रकाश-रेखा आ जाती है, उसीका जीवन परम पवित्र और दूसरोंके लिये आदर्श-स्वरूप बन जाता है। फिर वे गोपियाँ, जिनका जीवन साधनाकी चरम सीमापर पहुँच चुका है, अथवा जो नित्यसिद्धा एवं भगवान्‌की स्वरूपभूता हैं, या जिन्होंने कल्पोंतक साधना करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका सेवाधिकार प्राप्त कर लिया है, सदाचारका उल्लङ्घन कैसे कर सकती हैं? और समस्त धर्म-मर्यादाओंके संस्थापक श्रीकृष्णपर धर्मोल्लङ्घनका लाञ्छन कैसे लगाया जा सकता है? श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी कुकल्पनाएँ उनके दिव्य स्वरूप और दिव्य लीलाके विषयमें अनभिज्ञता ही प्रकट करती हैं।

श्रीमद्भागवतपर, दशम स्कन्धपर और रासपञ्चाध्यायीपर अबतक अनेकों भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं—जिनके लेखकोंमें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीश्रीधरस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी आदि हैं। उन लोगोंने बड़े विस्तारसे रासलीलाकी महिमा समझायी है। किसीने इसे कामपर विजय बतलाया है, किसीने भगवान्‌का दिव्य विहार बतलाया है और किसीने इसका आध्यात्मिक अर्थ किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा है, आत्माकार वृत्ति श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाहरूपसे निरन्तर आत्मरमण ही रास है। किसी भी दृष्टिसे देखें, रासलीलाकी महिमा अधिकाधिक प्रकट होती है।

परंतु इससे ऐसा नहीं मानना चाहिये कि श्रीमद्भागवतमें वर्णित रास या रमण-प्रसङ्ग केवल रूपक या कल्पनामात्र है। वह सर्वथा सत्य है और जैसा वर्णन है, वैसा ही मिलन-विलासादिरूप शृङ्गारका

रसास्वादन भी हुआ था। भेद इतना ही है कि वह लौकिक स्त्री-पुरुषोंका मिलन न था। उसके नायक थे सच्चिदानन्दविग्रह, परात्पर-तत्त्व, पूर्णतम स्वाधीन और निरङ्कुश स्वेच्छाविहारी गोपीनाथ भगवान् नन्दनन्दन, और नायिका थी स्वयं ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाजी और उनकी कायव्यूहरूपा, उनकी घनीभूत मूर्तियाँ श्रीगोपीजन। अतएव इनकी यह लीला अप्राकृत थी। सर्वथा मीठी मिश्रीकी अत्यन्त कड़ुए इन्द्रायण (तूँबे)-जैसी कोई आकृति बना ली जाय, जो देखनेमें ठीक तूँबे-जैसी ही मालूम हो, परंतु इससे असलमें क्या वह मिश्रीका तूँबा कड़ुआ थोड़े ही हो जाता है? क्या तूँबेके आकारकी होनेसे ही मिश्रीके स्वाभाविक गुण मधुरताका अभाव हो जाता है? नहीं-नहीं, वह किसी भी आकारमें हो—सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा केवल मिश्री-ही-मिश्री है। बल्कि इसमें लीला-चमत्कारकी बात जरूर है। लोग समझते हैं कड़ुआ तूँबा, और होती है वह मधुर मिश्री। इसी प्रकार अखिलरसामृतसिन्धु सच्चिदानन्दविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरङ्गा अभिन्न-स्वरूपा गोपियोंकी लीला भी देखनेमें कैसी ही क्यों न हो वस्तुतः वह सच्चिदानन्दमयी ही है। उसमें सांसारिक गंदे कामका कड़ुआ स्वाद है ही नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि इस लीलाकी नकल किसीको नहीं करनी चाहिये, करना सम्भव भी नहीं है। मायिक पदार्थोंके द्वारा मायातीत भगवान्‌का अनुकरण कोई कैसे कर सकता है? कड़ुए तूँबेको चाहे जैसी सुन्दर मिठाईकी आकृति दे दी जाय, उसका कड़ुआपन कभी मिट नहीं सकता। इसीलिये जिन मोहग्रस्त मनुष्योंने श्रीकृष्णकी रास आदि अन्तरङ्ग-लीलाओंका अनुकरण

करके नायक-नायिकाका रसास्वादन करना चाहा या चाहते हैं, उनका घोर पतन हुआ है और होगा। श्रीकृष्णकी इन लीलाओंका अनुकरण तो केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं। इसीलिये शुकदेवजीने रासपञ्चाध्यायीके अन्तमें सबको सावधान करते हुए कह दिया है कि भगवान्‌के उपदेश तो सब मानने चाहिये, परंतु उनके सभी आचरणोंका अनुकरण नहीं करना चाहिये।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको केवल मनुष्य मानते हैं और केवल मानवीय भाव एवं आदर्शकी कसौटीपर उनके चरित्रको कसना चाहते हैं, वे पहले ही शास्त्रसे विमुख हो जाते हैं, उनके चित्तमें धर्मकी कोई धारणा ही नहीं रहती और वे भगवान्‌को भी अपनी बुद्धिके पीछे चलाना चाहते हैं। इसलिये साधकोंके सामने उनकी उक्ति-युक्तियोंका कोई महत्त्व ही नहीं रहता। जो शास्त्रके 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं' इस वचनको नहीं मानता, वह उनकी लीलाओंको किस आधारपर सत्य मानकर उनकी आलोचना करता है—यह समझमें नहीं आता। जैसे मानवधर्म, देवधर्म और पशुधर्म पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही भगवद्धर्म भी पृथक् होता है और भगवान्‌के चरित्रका परीक्षण उसकी ही कसौटीपर होना चाहिये। भगवान्‌का एकमात्र धर्म है—प्रेमपरवशता, दयापरवशता और भक्तोंकी अभिलाषाकी पूर्ति। यशोदाके हाथोंसे ऊखलमें बँध जानेवाले श्रीकृष्ण अपने निज-जन गोपियोंके प्रेमके कारण उनके साथ नाचें, यह उनका सहज धर्म है।

यदि यह हठ ही हो कि श्रीकृष्णका चरित्र मानवीय धारणाओं और आदर्शोंके अनुकूल ही होना चाहिये, तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है। श्रीकृष्णकी अवस्था उस समय दस वर्षके लगभग थी, जैसा कि भागवतमें स्पष्ट वर्णन मिलता है। गाँवोंमें रहनेवाले बहुत-

से दस वर्षके बच्चे तो नंगे ही रहते हैं। उन्हें कामवृत्ति और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धका कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। लड़के-लड़की एक साथ खेलते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, त्योहार मनाते हैं, गुड्डई-गुड़ुएकी शादी करते हैं, बारात ले जाते हैं और आपसमें भोज-भात भी करते हैं। गाँवके बड़े-बूढ़े लोग बच्चोंका यह मनोरञ्जन देखकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके मनमें किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं आता। ऐसे बच्चोंको युवती स्त्रियाँ भी बड़े प्रेमसे देखती हैं, आदर करती हैं, नहलाती हैं, खिलाती हैं। यह तो साधारण बच्चोंकी बात है। श्रीकृष्ण-जैसे असाधारण धी-शक्तिसम्पन्न बालक जिनके अनेकों सद्‌गुण बाल्यकालमें ही प्रकट हो चुके थे; जिनकी सम्मति, चातुर्य और शक्तिसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे व्रजवासियोंने त्राण पाया था; उनके प्रति वहाँकी स्त्रियों, बालिकाओं और बालकोंका कितना आदर रहा होगा—इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उनके सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यसे आकृष्ट होकर गाँवकी बालक-बालिकाएँ उनके साथ ही रहती थीं और श्रीकृष्ण भी अपनी मौलिक प्रतिभासे राग, ताल आदि नये-नये ढंगसे उनका मनोरञ्जन करते थे और उन्हें शिक्षा देते थे। ऐसे ही मनोरञ्जनोंमेंसे रासलीला भी एक थी, ऐसा समझना चाहिये। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं, उनकी दृष्टिमें भी यह दोषकी बात नहीं होनी चाहिये। वे उदारता और बुद्धिमानीके साथ भागवतमें आये हुए काम-रति आदि शब्दोंका ठीक वैसा ही अर्थ समझें, जैसा कि उपनिषद् और गीतामें इन शब्दोंका अर्थ होता है। वास्तवमें गोपियोंके निष्कपट प्रेमका ही नामान्तर काम है और भगवान् श्रीकृष्णका आत्मरमण अथवा उनकी दिव्य क्रीडा ही रति है। इसीलिये इस प्रसङ्गमें

स्थान-स्थानपर उनके लिये विभु, परमेश्वर, लक्ष्मीपति, भगवान्, योगेश्वरेश्वर, आत्माराम, मन्मथमन्मथ आदि शब्द आये हैं-जिससे किसीको कोई भ्रम न हो जाय।

जब गोपियाँ श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वनमें जाने लगी थीं, तब उनके सगे-सम्बन्धियोंने उन्हें जानेसे रोका था। रातमें अपनी बालिकाओंको भला, कौन बाहर जाने देता। फिर भी वे चली गयीं और इससे घरवालोंको किसी प्रकारकी अप्रसन्नता नहीं हुई। और न तो उन्होंने श्रीकृष्णपर या गोपियोंपर किसी प्रकारका लाञ्छन ही लगाया। उनका श्रीकृष्णपर, गोपियोंपर विश्वास था और वे उनके बचपन और खेलोंसे परिचित थे। उन्हें तो ऐसा मालूम हुआ मानो गोपियाँ हमारे पास ही हैं। इसको दो प्रकारसे समझ सकते हैं। एक तो यह कि श्रीकृष्णके प्रति उनका इतना विश्वास था कि श्रीकृष्णके पास गोपियोंका रहना भी अपने ही पास रहना है। यह तो मानसीय दृष्टि है। दूसरी दृष्टि यह कि श्रीकृष्णकी योगमायाने ऐसी व्यवस्था कर रखी थी, गोपोंको वे घरमें ही दीखती थीं। किसी भी दृष्टिसे रासलीला दूषित प्रसङ्ग नहीं है, बल्कि अधिकारी पुरुषोंके लिये तो यह सम्पूर्ण मनोमलको नष्ट करनेवाला है। रासलीलाके अन्तमें कहा गया है कि जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रासलीलाका श्रवण और वर्णन करता है, उसके हृदयका रोग काम बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाता है और उसे भगवान्‌का प्रेम प्राप्त होता है। भागवतमें अनेकों स्थानपर ऐसा वर्णन आया है कि जो भगवान्‌की मायाका वर्णन करता है, वह मायासे पार हो जाता है। जो भगवान्‌के पराक्रमका वर्णन करता है वह कालपर विजय प्राप्त करता है। राजा परीक्षित्‌ने अपने

प्रश्नोंमें जो शङ्काएँ की हैं, उनका उत्तर प्रश्नोंके अनुरूप ही अध्याय २९ के श्लोक १३ से १६ तक और अध्याय ३३ के श्लोक ३० से ३७ तक श्रीशुकदेवजीने दिया है।

उस उत्तरसे वे शङ्काएँ तो हट गयी हैं, परंतु भगवान्की दिव्यलीलाका रहस्य नहीं खुलने पाया; सम्भवतः उस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये ही ३३ वें अध्यायमें रासलीलाप्रसङ्ग समाप्त कर दिया गया। वस्तुतः इस लीलाके गूढ़ रहस्यकी प्राकृत-जगत्में व्याख्या की भी नहीं जा सकती; क्योंकि यह इस जगत्की क्रीडा ही नहीं है। यह तो उस दिव्य आनन्दमय—रसमय राज्यकी चमत्कारमयी लीला है, जिसके श्रवण और दर्शनके लिये परमहंस मुनिगण भी सदा उत्कण्ठित रहते हैं। कुछ लोग इस लीलाप्रसङ्गको भागवतमें क्षेपक मानते हैं, वे वास्तवमें दुराग्रह करते हैं; क्योंकि प्राचीन-से-प्राचीन प्रतियोंमें भी यह प्रसङ्ग मिलता है और जरा विचार करके देखनेसे यह सर्वथा सुसंगत और निर्दोष प्रतीत होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कृपा करके ऐसी विमल बुद्धि दें, जिससे हमलोग इसका कुछ रहस्य समझनेमें समर्थ हों।

भगवान्की इस दिव्यलीलाके वर्णनका यही प्रयोजन है कि जीव गोपियोंके उस अहैतुक प्रेमका, जो कि श्रीकृष्णको ही सुख पहुँचानेके लिये था, स्मरण करे और उसके द्वारा भगवान्के रसमय दिव्यलीलालोकमें भगवान्के अनन्त प्रेमका अनुभव करे। हमें रासलीलाका अध्ययन करते समय किसी प्रकारकी भी शङ्का न करके इस भावको जगाये रखना चाहिये।

व्रजसुन्दरियोंके भगवान्

श्रीश्रीव्रजसुन्दरियोंको निविड अरण्यमें छोड़कर आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र अन्तर्धान हो गये। वे सब विरहके आवेशमें अपने प्राणप्रियतमको खोजने लगीं। खोजते-खोजते कृष्णमय बन गयीं। तदनन्तर श्रीकृष्ण-दर्शन-लालसासे कातर होकर प्रलाप करने और फूट-फूटकर रोने लगीं। ठीक इसी समय श्यामसुन्दर उनके बीचमें मधुर-मधुर मुसकराते हुए प्रकट हो गये। उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था। पीताम्बर धारण किये हुए थे। गलेमें दिव्य वनमाला थी। उनका सौन्दर्य समस्त विश्वप्राणियोंके मनको मथनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था। वे 'साक्षात् मन्मथमन्मथ' थे। करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर मधुर मनोहर श्यामसुन्दरको अपने बीचमें पाकर व्रजसुन्दरियोंके प्राणहीन शरीरोंमें मानो दिव्य प्राण लौट आये। उनके नेत्र आनन्द और प्रेमसे खिल उठे। हठात् प्रियतमके प्राकट्यसे उनके हृदयमें नवीन स्फूर्ति आ गयी। उनके एक-एक अङ्गमें नवीन चेतना जाग उठी। उन्होंने अपने-अपने मनके अनुसार प्रियतमकी आव-भगत की, किसीने उनके कोमल कर-कमलको अपने हाथोंसे पकड़ लिया, किसीने चरणारविन्दका आलिङ्गन किया, किसीने चरण पकड़कर अपने हृदयपर रख लिया, किसीने उनका चबाया हुआ पान ग्रहण किया, किसीने प्रणयकोपसे विह्वल होकर, त्यौरी चढ़ाकर दूरसे ही भ्रुकुटिपूर्ण कटाक्षपात किया और कोई-कोई निर्निमेष नेत्रोंके द्वारा

उनके मनोहर मुखकमलका मधुर मकरन्द पान करने लगीं। उनका रोम-रोम खिल उठा। इस प्रकार विरहताप प्रशमित होनेपर वे अपने प्राणधन श्यामसुन्दरको घेरकर बैठ गयीं। अब फिर हास्य-कौतुक आरम्भ हुआ। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र बड़े निष्ठुर हैं—बड़े छलिया हैं, यह बात उन्हींके मुखसे कहलानेके लिये व्रजसुन्दरियोंने मानो एक पहेली-सी रखकर उनसे पूछा—

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥
(श्रीमद्भा० १०। ३२। १६)

'श्यामसुन्दर! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो भजनेवालोंको ही भजते हैं—प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं; कुछ लोग न भजनेवालोंको भजते हैं—प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं। तीसरे प्रकारके कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो भजनेवालोंको भी नहीं भजते—प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते; फिर न करनेवालोंसे न करें, इसमें तो बात ही कौन-सी है। प्रियतम! बताओ, इन तीनोंमें तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है?' व्रजसुन्दरियोंके कहनेका तात्पर्य यह था कि इन तीनोंमें तुम किस श्रेणीके हो—यह स्पष्ट कहो।

इसके उत्तरमें आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्यामसुन्दरने कहा—

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥
भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३२ । १७-२२)

भगवान्‌ने कहा, 'मेरी प्रिय सखियो ! जो भजनेपर ही भजते हैं—प्रेम करनेपर ही प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्यम ही सर्वथा स्वार्थपूर्ण है, उनमें न सौहार्द है और न तो धर्म ही है । निरा बनियापन है—लेन-देन है; स्वार्थके अतिरिक्त उनका और कोई भी प्रयोजन नहीं है । जो लोग भजन न करनेपर, प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं, जैसे स्वभावसे ही करुणामय सज्जन और माता-पिता, उनका हृदय सौहार्दसे भरा होता है । उनका प्रेम सचमुच निर्मल है और वहाँ धर्म भी है । जो लोग भजन करनेपर भी नहीं भजते, ... भी प्रेम नहीं करते, फिर न प्रेम करनेपर प्रेम करनेका ... ही नहीं है । ऐसे उदासीन लोग चार प्रकारके होते ..., आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही । सखियो ! यदि

तुम मेरे सम्बन्धमें पूछती हो तो मैं इन तीनों (सापेक्ष, निरपेक्ष और उदासीन) मेंसे कोई-सा भी नहीं हूँ। मैं यदि प्रेम करनेवालोंसे कभी वैसा प्रेमका व्यवहार नहीं करता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं उनसे प्रेम नहीं करता। मैं ऐसा इसीलिये करता हूँ कि उनकी चित्तवृत्ति मुझमें लगी रहे। मैं मिलकर फिर जब छिप जाता हूँ तो भक्तोंकी वृत्ति मुझमें सारूप्य प्राप्त कर लेती है। जैसे किसी निर्धन मनुष्यको बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय धनकी चिन्ता करते-करते धनमय हो जाता है, वह सब कुछ भूलकर उसीमें तन्मय हो जाता है। वैसे ही मेरे छिप जानेपर भक्त मुझमें तन्मय हो जाते हैं। प्रियाओ ! तुमलोगोंने अपनी समस्त वृत्तियोंको मुझमें अर्पण करके मेरे लिये लोकमर्यादा, वेदमार्ग और अपने आत्मीय-स्वजनोंको भी छोड़ दिया है। यहाँ मैं इसीलिये छिप गया था कि तुम्हारे मनमें अपने सौन्दर्य और सुहागकी बात न उठ सके; तुम्हारा मन केवल मुझमें ही लगा रहे। मैं प्रत्यक्षमें नहीं दीखता था पर था तो तुम्हारे बीचमें ही। तुम्हारे प्रेमकी सारी दशाएँ देख रहा था। तुम्हारे प्रेममें निमग्न हो रहा था। अतएव तुम मुझपर दोषारोपण मत करो। तुम सब मुझे बड़ी प्रिय हो और मैं भी तुम्हारा प्यारा हूँ। तुम्हारा प्रेम सर्वथा निर्मल है—इसमें कहीं भी स्वार्थकी गंध नहीं है। तुमने मेरे लिये गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े समर्थ लोग भी नहीं तोड़ सकते। यदि मैं देव-शरीरसे—अमर जीवनसे अनन्त कालतक भी तुम्हारे प्रेम, त्याग और सेवाका बदला चुकाना चाहूँ तो नहीं चुका सकता। मैं सदाके

लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे ही मुझे उऋण कर सकती हो। मैं तो ऋण चुकानेमें असमर्थ ही हूँ।'

श्रीव्रजसुन्दरियोंके प्राणधन भगवान् लेन-देन करनेवाले व्यापारी नहीं हैं। प्रह्लादको वरका प्रलोभन देनेपर प्रह्लादने श्रीभगवान् नृसिंहदेवसे कहा था—'जो सेवक आपसे अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, निरा व्यापारी है (न स भृत्यः स वै वणिक्) और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूरी करता है, वह स्वामी नहीं।' भगवान्ने गीतामें जो कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥
(४। ११)

जो मुझे जैसे भजता है, उसे मैं वैसे ही भजता हूँ, यह तो साधारण नियम है। प्राणिमात्रके साथ भगवान्का यही व्यवहार है। पर यहाँ तो श्रीभगवान्ने इसको केवल स्वार्थपूर्ण उद्यम बतलाया है; क्योंकि इसमें स्पष्ट ही एक 'अपेक्षा' है। जहाँ अपेक्षा है, वहाँ शर्त है और शर्तमें न स्वतन्त्रता है और न हृदयका एकाङ्गीभाव ही। खरीदार और बेचनेवाला दोनों जैसे स्वार्थकी 'अपेक्षा'से मिलते हैं; इसमें भी वैसा ही है। पर व्रजसुन्दरियोंके या भक्तोंके भगवान् अपने भक्तोंके साथ 'किसी स्वार्थके उद्यम'से प्रेम नहीं करते। उनका पारस्परिक भजन या प्रेम सर्वथा अहैतुक, अतएव प्रेममूलक और प्रेमस्वरूप ही होता है।

श्रीव्रजसुन्दरियोंके (प्रेमी भक्तोंके) भगवान् माता-पिताकी भाँति केवल करुणामय 'निरपेक्ष' प्रेमी भी नहीं हैं। माता-पिता ... के दोषोंको ढक देते हैं। उनकी करुणा—दया संतान-

को कभी उदास नहीं देख सकती, इसलिये संतानमें दोष रह जाने-की सम्भावना रहती है। भगवान् अपने भक्तको सर्वथा निर्दोष—सारा कूड़ा-कर्कट जलाकर खरा सोना बना देते हैं। अतएव वे न तो वणिकोंकी भाँति सापेक्ष हैं, न माता-पिताकी भाँति निरपेक्ष।

भक्तोंके भगवान् 'आत्माराम' भी नहीं हैं। आत्मारामगण अपने स्वरूपमें मस्त रहते हैं। उनकी दृष्टिमें जगत्का कोई महत्त्व नहीं है, फलतः वे जगत्से उदासीन रहते हैं। ऐसे आत्मारामके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है—'तस्य कार्यं न विद्यते।' (गीता ३। १७) परंतु भगवान् तो अपने भक्तके लिये कार्य करते-करते कभी थकते ही नहीं। उनका कार्य कभी पूरा होता ही नहीं। वे अमर जीवनमें भक्तका कार्य करते रहनेपर भी कभी कामको पूरा हुआ नहीं मानते।

भक्तोंके भगवान् 'आप्तकाम' भी नहीं हैं। आप्तकाम वे होते हैं, जिनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हुई रहती हैं, जिन्हें किसी वस्तुकी वासना-कामनाकी गन्ध भी नहीं रहती। परंतु भक्तोंके भगवान् तो भक्तके प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्प, फल-जल, यहाँतक कि चिउरोंकी कनियोंतकके लिये लालायित रहते हैं, और कई दिनोंके भूखे प्राणीकी तरह आँगनमें बिखरे हुए कणोंको चुन-चुनकर खा जाते हैं। वे व्रजसुन्दरियोंके साथ रसमयी रासक्रीडाकी कामना करते हैं। मुरलीमें मधुर स्वर भरकर उनको अपने समीप बुलाते हैं। वात्सल्यमयी यशोदा मैयाका स्तनपान करनेके लिये मचल-मचलकर रोते हैं और व्रजसुन्दरियोंके घरोंका माखन-दही चुरा-चुराकर भोग लगाते हैं।

भगवान् कृतघ्न भी नहीं हैं। वे एक बार प्रणाम करनेवालेके सामने भी सकुचा जाते हैं—'सकुचत सकृत प्रनाम किएहूँ'; फिर भक्तकी तो बात ही क्या है। वे उसके तो अधीन ही हो जाते हैं। श्रीदुर्वासाजीसे भगवान्‌ने कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे साधु स्वभावके भक्तोंने मेरे हृदयपर अपना अधिकार कर लिया है। वे मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे।' अतएव भगवान् सदा ही कृतज्ञ हैं। कृतज्ञ कभी उदासीन नहीं होता।

आत्माराम और आप्तकाम भी उदासीन होते हैं, परंतु उनकी उदासीनता दूषित नहीं होती। वह तो उनके स्वरूपकी शोभा है। पर कृतघ्न और गुरुद्रोहीकी उदासीनता बड़ी भीषण होती है। इनमें भी गुरुद्रोही सबसे बढ़कर हैं। जो लोग मजेमें दूसरोंका माल उड़ाकर गर्वसे मूँछोंपर ताव देते हैं, उनसे भी वे अधिक बुरे हैं जो उपकारियोंके साथ द्रोह करते हैं। श्रीभगवान् ऐसे गुरुद्रोही नहीं हैं। वे भक्तोंका उपकार मानते हैं और अपनेको उनके सामने ले जानेमें भी सकुचाते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भक्त हनुमान्‌से कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

इससे सिद्ध है कि भगवान् किसी भी श्रेणीके उदासीन भी नहीं हैं।

तो वे क्या हैं? वे हैं व्रजसुन्दरियोंके ऋणी—जैसे भक्तोंके चिरऋणी! वे सर्वसमर्थ सर्वैश्वर्यपरिपूर्ण होकर भी उनका बदला नहीं चुका सकते, अतएव वे अपेक्षासे प्रेम नहीं करते। वे सबके माता-धाता-पितामह होकर भी माता-पिताकी भाँति निरपेक्ष रहकर भक्तमें कोई दोष नहीं रहने देते। वे नित्य आत्माराम होकर भी उदासीन नहीं रह सकते। वे नित्य आप्तकाम होकर भी निष्काम नहीं रहते। वे अपने सहज उपकारोंसे सबको कृतज्ञ करनेवाले होकर भी स्वयं कृतज्ञ होते हैं और वे एकमात्र जगद्गुरु होनेपर भी श्रीव्रजसुन्दरियों-को—श्रीराधारानीको अपना प्रेम-गुरु मानते हैं और उनसे कभी द्रोह नहीं करते। यह है परमप्रेमसुधासागर आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका अपने मुँहसे दिया हुआ आत्मपरिचय! भगवान्ने स्वयं श्रीउद्धवजीसे कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १५)

'उद्धव! मुझे तुम-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, मेरे आत्मस्वरूप शङ्कर, मेरे भाई बलरामजी और मेरी अर्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी भी नहीं हैं। और तो क्या, मेरा अपना आत्मा भी मुझे उतना प्रिय नहीं है।'

नादब्रह्म-मोहनकी मुरली

नादात्मकं नादबीजं प्रणवस्थितम् ।
वन्दे तं सच्चिदानन्दं माधवं मुरलीधरम् ॥
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः ॥

'नाद ही परम ज्योति है और नाद ही स्वयं परमेश्वर हरि है ।'

नाद अनादि है । जबसे सृष्टि है तभीसे नाद है । महाप्रलयके बाद सृष्टिके आदिमें जब परमात्माका यह शब्दात्मक संकल्प होता है कि 'मैं एक बहुत हो जाऊँ', तभी इस अनादि नादकी आदि-जागृति होती है । यह नादब्रह्म ही शब्द-ब्रह्मका बीज है । वेदोंका प्रादुर्भाव इसी नादसे होता है । नादका उद्भव परमेश्वरकी सच्चिदानन्दमयी भगवती स्वरूपा-शक्तिसे होता है और इस नादसे ही बिन्दु उत्पन्न होता है । यह बिन्दु ही प्रणव है और इसीको बीज कहते हैं ।

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद् बिन्दुसमुद्भवः ॥
नादो बिन्दुश्च बीजश्च स एव त्रिविधो मतः ।
भिद्यमानात् पराद्बिन्दोरुभयात्मा रवोऽभवत् ।
स रवः श्रुतिसम्पन्नः शब्दो ब्रह्माभवत् परम् ॥

'सच्चिदानन्दरूप वैभवयुक्त पूर्ण परमेश्वरसे उनकी स्वरूपाशक्ति आविर्भूत हुई, उससे नाद प्रकट हुआ और नादसे बिन्दुका प्रादुर्भाव हुआ । वही बिन्दु नाद, बिन्दु तथा बीजरूपसे तीन प्रकारका माना गया है । बीजरूप बिन्दु जब भेदको प्राप्त हुआ तब उससे इस प्रकारके शब्द प्रकट हुए । वह शब्द ही श्रुतिसम्पन्न श्रेष्ठ शब्दब्रह्म हुआ ।'

यही नाद क्रमशः स्थूलरूपको प्राप्त होता हुआ समस्त जगत्में फैल जाता है। पाँच भूतोंमें सबसे पहले महाभूत आकाशका गुण शब्द है। यह नादका ही एक रूप है। आदि-नादरूप बीजसे ही पञ्चतत्त्वकी उत्पत्ति मानी गयी है। इस स्थूल नादकी उत्पत्ति अग्नि और प्राणके संयोगसे होती है। ब्रह्मग्रन्थिमें प्राण रहता है, इस प्राणको अग्नि प्रेरणा करती है। अग्निमें यह प्रेरणा आत्मासे प्रेरित चित्तके द्वारा होती है। तब प्राणवायु अग्निसे प्रेरित होकर नादको उत्पन्न करता है। यह नाद नाभिमें अति सूक्ष्म, हृदयमें सूक्ष्म, कण्ठमें पुष्ट, मस्तकमें अपुष्ट और वदनमें कृत्रिमरूपसे आकार धारण करता है। कहते हैं कि 'न'कार प्राण है और 'द'कार वह्नि है और प्राण तथा वह्निके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण ही इसको 'नाद' कहते हैं।

योगी लोग इसी नादकी उपासना करके ब्रह्मको प्राप्त किया करते हैं। हठयोगशास्त्रोंमें इसका बड़ा विस्तार है। मुक्तासन और शाम्भवी मुद्राके साथ इस नादका अभ्यास किया जाता है। इस नादसाधनासे सब प्रकारकी सिद्धियाँ मिलती हैं। अनाहतनाद योगियोंका परम ध्येय है। शास्त्रोंमें नादको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिका एक साधन माना है। नादके बिना जगत्का कोई भी कार्य नहीं चल सकता। पाञ्चभौतिक जगत्में आकाश सर्वप्रधान है। और आकाशका प्राण नाद ही है। इसीसे जगत्को नादात्मक कहते हैं। नादका माहात्म्य अपार है। संगीत-दर्पणकी एक सुन्दर उक्ति है कि देवी सरस्वतीजी नादरूपी समुद्रमें डूब जानेके भयसे ही वक्षःस्थलमें सदा तुम्बी धारण किये रहती हैं।

> नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती ।
> अद्यापि मज्जनभयात्तुम्बं वहति वक्षसि ॥

संगीत और स्वरका तो प्राण ही नाद है । गीत, नृत्य और वाद्य नादात्मक हैं । नादद्वारा ही वर्णोंका स्फोट होता है । वर्णसे पद और पदसे वाक्य बनता है । इस प्रकार समस्त जगत् ही नादात्मक है ।

यह नाद मूलतः परमात्माका ही स्वरूप है । जब भगवान् लीलाधाममें अवतीर्ण होते हैं, तब उनके दिव्य विग्रहमें जितनी कुछ वस्तुएँ होती हैं सभी दिव्य सच्चिदानन्दमयी भगवत्स्वरूपा होती हैं । इसीसे अवतारविग्रहकी वाणीमें इतना माधुर्य होता है कि उसको सुनते-सुनते चित्त कभी अघाता ही नहीं और यह चाहता है कि लाखों-करोड़ों कानोंसे यह मधुर ध्वनि सुननेको मिले तब भी तृप्ति होनी कठिन है । चिदानन्दमय श्रीकृष्णस्वरूपमें तो इस नादका भी पूर्णावतार हुआ था । श्यामसुन्दरकी सच्चिदानन्दमयी मुरलीका मधुर निनाद ही यह नादावतार था । इसीसे उस मुरलीनिनादने प्रेममय व्रजधामने जड़को चेतन और चेतनको जड बना दिया । मोहनके वेणुनिनादने वृन्दावनके प्रत्येक आबालवृद्धमें, प्रत्येक पशु-पक्षीमें, स्थावर-जंगममें, पत्र-पत्रमें, कण-कणमें और अणु-अणुमें प्रेमानन्द भर दिया । उस वंशीनादको सुनकर विमानोंपर चढ़ी हुई सुरबालाओंके धैर्यका बन्धन छूट गया । वे सहसा मुग्ध हो गयीं । उनकी कबरियोंमें लगे हुए नन्दनकाननके [illegible] कुसुम इधर-उधर वहींसे खिसककर मर्त्यभूमिपर गिर पड़े । [illegible]कन्याएँ संगीत भूलकर मतवाली-सी झूमने लगीं । ऋषि, मुनि

ी, परमहंस, योगियोंकी ब्रह्म-समाधि भङ्ग हो गयी। बरबस
त मन वीणास्वरसे विमोहित मृगकी भाँति मुरलीध्वनिमें निमग्न
या। सुधाकरकी चाल बंद हो गयी। श्रीकृष्णके उस वेणुविनिर्गत
ादामृतका पान करनेके लिये बछड़ोंने स्तनोंका चूँघना छोड़कर
 उन्हें मुँहमें ही रहने दिया। गौएँ चरना भूल गयीं। सुरम्य
रण्यके विहंगोंने मधुर काकलीका त्याग कर वंशीध्वनिसे झरनेवाले
र्वचनीय आनन्दका उपभोग करनेके लिये आँखें मूँद लीं और
गपात्रोंका मुख उस सुधाधाराके प्रवाहमें लगा दिया। सिंह-
दि वनचर प्राणी भय और हिंसा भुलाकर मुरलीमनोहरको चारों
से घेरकर खड़े हो गये और कान तथा आँखोंको अतृप्त बोध
ने लगे। महिषी कालिन्दी अपनी ऊर्मिभुजाओंको फैलाकर परम
तमका आलिङ्गन करनेके लिये दौड़ पड़ीं। इस प्रकार दिव्य
की दिव्य सुधाधारा समस्त धरामण्डलमें बह चली। चेतन जीव
वत् अचल हो गये। और साक्षात् रसराजकी रसधारासे प्लावित
र वृक्ष ही नहीं, सूखे काठतक रस बरसाने लगे। सूरदासजीने
ा है—

जब हरि मुरलीनाद प्रकास्यो।
जंगम जड थावर चर कीन्हे, पाहन जलज बिकास्यो॥
स्वरग पताल दसों दिसि पूरन धुनि आच्छादित कीनौं।
निसि हरि कलप समान बढ़ाई गोपिनकों सुख दीनौं॥
जड सम भये जीव जल थलके तनकी सुधि न सम्हारा।
सूर स्याम मुख बेनु बिराजत पलटे सब व्यवहारा॥

एक गोपी रसोई बना रही थी, इतनेमें मोहनकी मुग्धकारिणी मुरली बजी। मुरलीध्वनिके साथ ही मुरलीधरकी मधुर छवि गोपीके ध्याननेत्रोंके सामने आ गयी। इधर उस रसवर्षिणी मुरलीध्वनिने रस बरसाकर चूल्हेकी तमाम लकड़ियोंके हृदयको गीला कर दिया, उनमेंसे रस बहने लगा। आग बुझ गयी। परम भाग्यवती सच्चिदानन्द-प्रेमिका गोपी प्रेमका उलाहना देती हुई-सी बोली—

मुरहर ! रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम्॥

'हे मुरारे ! भला, भोजन बनाते समय तो कृपाकर इस मुरलीकी मधुर तान न छेड़ा करो। देखो, तुम्हारी मुरलीध्वनिसे मेरा सूखा ईंधन रसयुक्त होकर रस बहाने लगता है, जिससे चूल्हेकी आग बुझ जाती है।' इस जादूभरी मुरलीके नादने सबको उन्मत्त कर दिया। महान् योगी भी इससे नहीं बचने पाये। बचते भी कैसे ? योगियोंके अनाहत नादकी जननी तो यह मुरली ही है। वंशीध्वनिकी महिमा गाते हुए भक्त कहते हैं—

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधामधुरिमानमधीरधर्मा।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य॥

'निर्बीज-समाधिनिष्ठ परमहंसोंकी समाधिको हठात् तोड़ डालनेवाली, सुधाके माधुर्यको फीका बना देनेवाली, धैर्यवान् पुरुषोंके धैर्यको तोड़कर उनकी अधीरताको उत्तेजित करनेवाली, कामदेवपर

विजयदुन्दुभि बजाकर उसको अपने शासनमें रखनेवाली, भगवान् श्रीकृष्णकी यह वंशीध्वनि विश्वमें सब ओर विजयिनी हो रही है।'

वृन्दावननिवासी चराचर जीवोंका परम सौभाग्य था जो वे इस वंशीध्वनिको सुनते थे। और उन गोपीजनोंके भाग्यकी तो ब्रह्मादि देवतागण भी ईर्ष्या करते हैं जिनको आवाहन करनेके लिये मोहन स्वयं अपनी इस मधुर मुरलीकी मधुर तान छेड़ा करते थे। वे सुनती थीं और मुग्ध होती थीं, चेतनाका विसर्जन कर देती थीं, परंतु सुनना कभी छोड़ती ही नहीं थीं। संध्याको गोधूलिके समय जब प्राणधन श्यामसुन्दर वनसे लौटते थे, उस समय व्रज-बालाओंके झुंड-के-झुंड घरोंसे निकलकर रास्तोंमें उनकी प्रतीक्षा करते थे। एक दिन एक नवीन व्रजगोपी मुरलीध्वनिकी प्रतीक्षामें घरके बाहर दरवाजेपर खड़ी थी, उसे देखकर, वंशी और वंशीधरकी महिमाका व्याजसे बखान करती हुई दूसरी महाभागा गोपी कहती है—

सुनती हौं कहा भजि जाहु घरै बिंध जाओगी नैनके बाननमें।
यह बंसी 'निवाज' भरी बिषसों बगरावति है बिष प्राननमें॥
अबहीं सुधि भूलिहौ भोरी भटू भँवरी जब मीठी-सी ताननमें।
कुलकानि जो आपनी राखि चहौ दै रहौ अँगुरी दोउ काननमें॥

वंशीनादसे आकृष्ट गोपीजनोंकी प्रेमविह्वल दशाका वर्णन भगवान् वेदव्यासजीने भागवतमें बहुत ही सुन्दर रूपसे किया है। भागवतका वेणुगीत प्रसिद्ध है। भावुक भक्तजन उसे अवश्य पढ़ें-सुनें।

भक्त रसखान कहते हैं—

कौन ठगौरी भरी हरि आजु, बजाई है बाँसुरिया रँगभीनी।
तान सुनी जिनहीं तिनहीं तब ही कुल-लाज बिदा करि दीनी॥

पूछैं घरी-घरी नंदके द्वार, नवीनी कहा कहूँ बात प्रवीनी।
या ब्रजमंडलमें रसखानि सु कौन भटू जो लटू नहिं कीनी॥

बजी सुबजी रसखानि बजी, सुनि है अब गोकुल-बाल न जीहैं।
न जीहैं कदाचित कामनकी, अब कान परी वह तान भजी हैं॥
भजी हैं, बचाओ, उपाय नहीं, अबकारर भानिकै मैन सजी है।
गजी है हमारो कहा बस है, जब बैरिन बाँसुरी फेरि बजी है॥

आजु भटी एक गोपबधू भई बावरी, नेकु न अंग सँभारे।
मातु अघात न देवन पूजत, सासु सयानि सयानी पुकारे॥
यौं रसखानि फिरो सगरे ब्रज आन कुआन उपाय बिचारे।
कोउ न कान्हराके करतें यह बैरन बाँसुरिया गहि डारे॥

ऐ सजनी वह नंदकुमार सु या बन धेनु चराइ रह्यो है।
मोहनी तानन गोधन गायन बेनु बजाइ रिझाइ रह्यो है॥
ताही समै कछु टोनों करो रसखानि हिये सु समाइ रह्यो है।
कोउ न काहुकी कानि करे सिगरो ब्रज बीर बिकाइ रह्यो है॥

मोहनकी मुरलीसे प्रभावित ब्रजधामकी कुछ कल्पना भक्त कविके उपर्युक्त शब्दोंसे की जा सकती है। एक गोपी बाँसुरीसे तंग आकर अपनी सखियोंसे कहती है—

अब कान्ह भये बस बाँसुरिके, अब कौन सखी हमकों चहिहै।
वह रात दिना सँग लागो रहै, यह सौतको सासन को सहिहै॥
जिन मोह लियौ मन मोहनकौ, रसखानि सु क्यों न हमें दहिहै।
मिलि आओ सबै कहुँ भाजि चलें, अब तो ब्रजमें बँसुरी रहिहै॥

दूसरी एक बाँसके साथ बाँसकी बनी बाँसुरीकी तुलना कर और उसे वंशका नाम बिगाड़नेवाली बतलाती हुई कहती है—

वै मगदायक अंधनिके, तुम अच्छिनहूकी सुचाल बिगार्‍यो।
वै जलथाह बतावत हैं, तुम प्रेम अथाहके बारिधि पार्‍यो॥

बर बास बसाय भले, तुम बास छोड़ाय उजारमें डार्‌यो ।
र कहिये, हरिकी मुरली ! तुम आपने बंसको नाम बिगार्‌यो ॥

दूसरी कहती है—अरी मुरली ! तेरे सौभाग्यका क्या
है—

अधर सेज नासा बिजन स्वर मिस चरन दबाय ।
अरी सोहागिनि मुरलिया ! लियो स्याम बिलमाय ॥

तीसरी एक मुरलीके साथ ईर्ष्या करती हुई बड़े विनययुक्त
मुरलीसे पूछती है—

मुरली ! कौन तप तैं कियो ।
रहत गिरधर मुखहि लागी, अधरको रस पियो ॥
नंदनंदन पानि परसे तोहि तन मन दियो ।
सूर श्रीगोपाल बस किय, जगतमें जस लियो ॥

मुरली उत्तर देती है—

तप हम बहुत भाँति कर्‌यो ।
हेम बरषा सही सिरपै घाम तनहिं जर्‌यो ॥
काटि बेधी सस सुरसों हियो छूछो कर्‌यो ।
तुमहि बेगि बुलायबेको लाल अधरन धर्‌यो ॥
इतने तप मैं किये तबहीं लाल गिरधर बर्‌यो ।
सूर श्रीगोपाल सेवत सकल कारज सर्‌यो ॥

मैंने बड़े-बड़े तप किये हैं, जीवनभर सिरपर जाड़ा और वर्षा
ती रही, ग्रीष्मकी ज्वालामें मैंने तनको तपाया । काटी गयी,
रको सात स्वरोंसे बिंधवाया । हृदयको शून्य कर दिया । कहीं
ई गाँठ नहीं रहने दी । इतना तप करनेपर लालने मुझको वरा है ।

प्राणधन श्रीगोपालके अधरामृतका पान चाहनेवाले प्रत्येक भक्तको वंशीकी इस साधनाका अनुकरण करना चाहिये । याद रहे, जबतक लौकिक सुख-दुःखमें समता और सहिष्णुता नहीं आती, जबतक प्रियतम प्रभुके लिये तन-मनकी बलि नहीं दे दी जाती, जबतक हृदयको अन्य वासना-ग्रन्थिसे सर्वथा शून्य नहीं कर लिया जाता, तबतक प्रियतमके मधुर आलिङ्गनका सुख हमें नहीं मिल सकता ।

मोहनकी यह मुरली आज भी बजती है, सदा बजती रहेगी ! परंतु जो मुरलीकी भाँति साधनमें प्रवृत्त होगा वही इस मधुर ध्वनिको भलीभाँति सुन सकेगा । वृन्दावनके प्रातःस्मरणीय भगवत्-सखाओंने और अन्तरङ्गा शक्ति गोपीजनोंने अपनेको इस मुरलीकी साधनामें सिद्ध करके ही मुरलीकी ध्वनिको सुन पाया था ।

उस मुरलीमें क्या बजता है और उससे जगत्को क्या दिया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि ह्लादिनी सुधाका अनिर्वचनीय आनन्द ही इस मधुर ध्वनिके द्वारा सबको दिया जाता है । 'कलं वामदृशां मनोहरम् ।' इस कलपदामृत वेणुगीतसे 'क्लीं' पदकी सिद्धि होती है। कल=क+ल=क्ल । इसमें वामदृक् यानी चतुर्थ स्वर ईकार संयुक्त करनेपर क्ली बनता है । यह मनोहर है यानी मनके अधिष्ठात्री देवता चन्द्रको या चन्द्रबिन्दुको हरण करता है । अतएव क+ल+ई+ँके संयोगसे 'क्लीं' बनता है । यह 'क्लीं' कामबीज है । मुरलीध्वनि यही कामबीज है । यह काम भगवत्-काम है । अतएव साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है । व्रजधामके कामविजयी—मन्मथ-मन्मथ मदनमोहन तपवैराग्ययुक्त अधिकारसम्पन्न अपने भक्त-साधकोंमें इस कामबीजको वितरण कर

उन्हें अपनी ओर खींच लेते हैं, उनके सर्वस्वका मोह छुड़ाकर, उनका सब कुछ भुलाकर उन्हें सहसा आकर्षित कर लेते हैं। साथ ही नरकोंकी ओर आकर्षित करनेवाले, मन और इन्द्रियोंको विक्षुब्ध कर आत्माका पतन करनेवाले, विषय-विषका पान करनेके लिये उन्मत्त बनानेवाले गंदे कामके वशीभूत हुए जगत्‌के जीवोंको भी उस घृणित कामजालके फंदेसे छुड़ाकर पवित्र मधुर रसका आस्वादन करानेके लिये इस चिन्मय नादका सञ्चार करते हैं। कामबीजकी बड़ी महिमा है। भगवान्‌का सृष्टि-संकल्प ही कामबीज है। यही नादस्वरूप है। इसीसे सृष्टि होती है और यही जगत्स्वरूप बन जाता है। शास्त्र इस 'क्लीं' रूप कामबीजसे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति बतलाते हुए इसका स्वरूप-निर्देश करते हैं—

ककारो नायकः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
ईकारः प्रकृती राधा महाभावस्वरूपिणी॥
लश्चानन्दात्मकः प्रेमसुखं च परिकीर्तितम्।
चुम्बनाश्लेषमाधुर्यं बिन्दुनादं समीरितम्॥

'क' कार सच्चिदानन्दविग्रह नायक श्रीकृष्ण हैं। 'ई' कार महाभावस्वरूपा प्रकृति श्रीराधा हैं। 'ल' कार इन नायक-नायिकाके मिलनात्मक प्रेमसुखका आनन्दात्मक निर्देश है और नादबिन्दु इस माधुर्यामृतसिन्धुको परिस्फुट करनेवाले हैं।

यह श्रीराधाकृष्णका मिलन दिव्य है। यह आत्म-रमण है। (आत्मारामोऽप्यरीरमत्) यह अपने ही स्वरूपमें सच्चिदानन्द भगवान्‌की लीला है। इस लीलाका विकास 'क्लीं' रूप मुरलीनिनादसे ही होता है। यह मुरलीनाद स्वयं सच्चिदानन्दमय है। ब्रह्मरूप है। यही नादब्रह्म है।

बालगोपाल सच्चिदानन्दकी स्तुति

एक बार सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण अपने साथी गोपबालकों और बछड़ोंको साथ लेकर वनमें गये। वहाँ पूतना तथा बकासुरका भाई अघासुर एक बहुत बड़े अजगरका रूप बनाकर इस तावमें बैठा था कि 'कब श्रीकृष्ण आवें और मैं उनका वध करूँ।' उस अजगररूप राक्षसका आकार इतना बड़ा था कि वह एक पर्वतकी श्रेणी-सा जान पड़ता था। उसको देखकर ग्वाल-बाल आपसमें कहने लगे 'देखो न, यह कैसा विचित्र अजगराकार पर्वत है, ऐसा जान पड़ता है कि इस पर्वतरूपी अजगरका ऊपरी होंठ बादलोंसे मिला हुआ है तथा नीचेका नदीपर रक्खा है। इसकी ये गुफाएँ दो जबड़ेकी तरह, चोटियाँ दाढ़ोंकी तरह और यह चौड़ा-सा मार्ग जिह्वाकी तरह जान पड़ता है।' यह कहते और हँसते-खेलते सभी ग्वाल-बाल अपने बछड़ोंके समेत उस भयानक अजगरके मुखमें प्रवेश कर गये। भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार अपने मित्रोंको अघासुरके मुँहमें पड़ा हुआ देखा, तो वे झटपट उस दुष्ट राक्षसके वध और अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये स्वयं भी उसके मुँहमें पैठ गये।

अघासुर तो यह चाहता ही था, उसने भगवान्‌के घुसते ही अपना मुँह बंद कर लिया। किंतु भगवान्‌के सामने उसकी शक्ति ही क्या थी! भगवान्‌ने अपने शरीरको बढ़ाना आरम्भ कर दिया। इससे अघासुरके गलेमें डाट-सी लग गयी और उसका दम घुटने लगा। अन्तमें उसकी दोनों आँखें बाहर निकल पड़ीं और वह मौतके घाट

छटपटाने लगा। तबतक उसके प्राण-पखेरू भी ब्रह्मरन्ध्रको फोड़कर ज्योतिरूपमें बाहर निकल आये। तब भगवान्‌ने अपना पहले-जैसा बालरूप बना लिया और ग्वाल-बाल तथा बछड़ोंके सहित हँसते-हँसाते बाहर निकल आये। अघासुरके शरीरसे निकली हुई दिव्य-ज्योति भगवान्‌में समा गयी।

इसके अनन्तर भगवान् विचरते हुए यमुना-तटपर पहुँचे और वहाँ भोजनकी तैयारी करने लगे। ग्वाल-बालोंने अपनी-अपनी भोजनकी पोटलियाँ खोलीं और जितने भोज्य-पदार्थ थे, सब एकमें मिलाकर एक दूसरेको बाँट दिये गये। भगवान्‌ने अपने बायें हाथकी हथेलीमें ग्रास रक्खा, अँगुलियोंमें चटनी आदि रक्खी और सब बालकोंके मध्यमें खड़े होकर, सबको हँसाते हुए भोजन करने लगे। तबतक सबने बछड़ोंपर दृष्टि डाली। बछड़े वहाँ नहीं थे, वे हरी-हरी घास चरते कहीं दूर निकल गये थे। यह देखकर गोप-बालक आतुर हो उठे। भगवान्‌ने उन सबको धीरज बँधाते हुए कहा—'तुमलोग भोजन करना न छोड़ो। मैं अभी बछड़ोंको ले आता हूँ।' ऐसा कहकर उसी प्रकार हाथमें भोजनकी सामग्री लिये हुए भगवान् आगे बढ़ गये।

बात यह थी कि ब्रह्माजीको अघासुरका आश्चर्यजनक मोक्ष देखकर यह उत्कण्ठा पैदा हो गयी कि वे भगवान्‌की और भी अधिक आनन्ददायिनी महिमा देखें। इसीसे उन्होंने बछड़े छिपा दिये थे। यहींतक नहीं, भगवान् जब ग्वाल-बालोंको छोड़कर आगे बढ़ गये, तब ब्रह्माजीने ग्वालबालोंको भी एक पर्वतकी कन्दरामें छिपाकर सुला दिया। किंतु ब्रह्माजीकी यह सारी करतूत भगवान्‌से कब छिपी रह सकती थी! जगत्-प्रतिपालक भगवान् श्रीकृष्णने अपने मनमें यह

विचार किया कि 'यदि मैं इस समय ग्वाल-बाल और बछड़ोंको घर नहीं ले जाऊँगा तो उनकी माताओंको अत्यन्त दुःख होगा। परंतु यदि ब्रह्माजीद्वारा चुराये गये ग्वाल-बाल और बछड़ोंको लौटाता हूँ तो ब्रह्माजीको मोह नहीं होगा।' अतः भगवान्‌ने एक लीला रची, उन्होंने अपनेको ही उन नाना प्रकारके गोवत्स और गोपालोंके रूपमें परिणत कर दिया।

भगवान्‌ने जिन गोवत्सों और गोप-बालकोंको बनाया, वे ठीक उन्हीं गोवत्सों और गोप-बालकोंके समान थे जिनको ब्रह्माजीने छिपा रक्खा था। ये ठीक उन्हीं-जैसी शकल-सूरतवाले, उन्हीं-जैसे सजे-बजे और वंशी लिये हुए थे। गोकुलमें पहुँचकर सब बालक और बछड़े अपनी-अपनी जगहपर चले गये। उनके माता या पिता किसीको भी यह भ्रम नहीं हुआ कि 'ये उनके बालक नहीं हैं।' बल्कि भगवत्-रूप होनेके कारण उन बछड़ों और बालकोंमें उनकी प्रीति और भी बढ़ गयी!

इधर ब्रह्माजीने इस कार्यमें अपनी दृष्टिसे केवल क्षणमात्रका समय लगाया था, किंतु उनके इतने ही समयमें व्रजवासियोंका एक वर्ष व्यतीत हो गया। ब्रह्माजी अपने छिपाये हुए बछड़ों और गोप-बालकोंको भगवान्‌के साथ देखकर बड़े आश्चर्यचकित हुए। वे सोचने लगे कि 'मैंने तो इन्हें छिपाकर सुला रक्खा है, ये उतने ही बछड़े, वैसे ही बालक भगवान्‌के पास कैसे आ गये?' ब्रह्माजीने इस रहस्यको समझनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु वे कुछ भी नहीं समझ सके। उन्हें यह कुछ भी नहीं मालूम पड़ा कि ये बछड़े और ग्वाल-बाल सत्य हैं या मायारचित हैं! इस प्रकार ब्रह्माजी मोहरहित किंतु जगत्‌को मोहित

करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको मोहमें डालनेके लिये प्रवृत्त हुए थे, परंतु उनको अपनी मायासे स्वयं ही मोहित हो जाना पड़ा !

मोहमग्न ब्रह्माजीने देखा कि उनके सामने जितने बछड़े और गोप-बालक थे, सभी चतुर्भुज-मूर्ति हो गये हैं और हमारे-जैसे अनेकों ब्रह्मा देवताओंके साथ उनका पूजन कर रहे हैं ! अब तो ब्रह्माजीके मोहका कुछ ठिकाना ही न रहा । वे मायामें सर्वथा डूब गये । इतनेमें दयामय भगवान्‌ने उनका क्लेश दूर करनेके लिये अपनी मायाका परदा हटा लिया । ब्रह्माजीकी आँखें खुलीं, उस समय उन्होंने केवल भगवान्‌को ही देखा । बस, क्या था, वे दौड़े हुए गये और छुलाकर छिपाये हुए बछड़ों और गोप-बालकोंको जल्दीसे लाये । इसके पश्चात् भगवान्‌के चरणोंमें दण्डकी भाँति गिरकर गद्गद वाणीसे स्तुति करने लगे (श्रीमद्भागवत १० । १४—)

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥ १ ॥

हे स्तुत्य ! मेघके समान श्यामल शरीरधारी ! बिजली-जैसे चमकीले वस्त्रोंसे आच्छादित, गुञ्जाओंके झूमकों और मोरपंखोंके मुकुटसे सुशोभित मुखवाले ! गलेमें वैजयन्ती माला, हाथोंमें ग्रास, बेंत, सींग और वंशी धारण कर इनकी शोभासे युक्त हुए कोमल चरणोंवाले ! नन्दगोपके लाडिले ! आपको मैं नमस्कार करता हूँ ।

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।

नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥ २ ॥

हे देव ! भक्तोंकी इच्छाके अनुसार प्रकट हुए और मेरे ऊपर अनुग्रह करनेवाले आपके इस अतिसुलभ अवतारकी, जो पाञ्चभौतिक नहीं, अपि तु अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वमय है, महिमाको मनसे भी जाननेके लिये मैं (ब्रह्मा) समर्थ नहीं हूँ । अथवा और भी कोई समर्थ नहीं है । जब अवतारकी महिमा नहीं जानी जाती तो आत्मसुखके अनुभवसे ज्ञात होनेवाले गुणातीतस्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमाको एकाग्र किये गये मनसे भी जाननेके लिये कौन समर्थ होगा ? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है ।

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥ ३ ॥

जो लोग ज्ञानकी प्राप्तिके लिये कुछ भी प्रयास न करके, केवल साधुओंके निवास-स्थानमें रहकर भक्तोंके मुँहसे स्वभावतः नित्य प्रकटित हुई, आप (भगवान्) की चर्चाको सुनकर, उसका शरीर, वाणी और मनसे आदर करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, हे अजित ! उन पुरुषोंने त्रिलोकीमें औरोंसे नहीं जीते जानेवाले आपको भी जीत लिया है (अर्थात् उनको आप प्राप्त हो गये हैं) ।

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! जैसे सरोवरसे अनेकों स्रोत बहते हैं, वैसे ही आपकी भक्तिसे कल्याणरूपी स्रोत बहते हैं। आपकी ऐसी भक्तिको त्यागकर जो पुरुष केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं, उनको केवल क्लेश ही मिलता है, जैसे धानकी भूसी (छिलके) को कूटनेवालेको केवल क्लेश ही शेष रहता है—चावल नहीं मिलते।

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥२४॥

(हे नाथ !) मुझको वैसा परम सौभाग्य प्राप्त हो, जिससे मनुष्यलोकमें, विशेषतः गोकुलमें और उससे भी विशेषतः व्रजके वनमें (पशु, पक्षी, वृक्ष, कीट आदि योनियोंमेंसे) किसी भी योनिमें मेरा जन्म हो। वहाँपर इन गोकुलवासियोंमेंसे किसीकी तो चरणरजका अभिषेक मेरे ऊपर होगा। क्योंकि उनका जीवन मुकुन्दपरायण है। अर्थात् उनके गृह, वृत्त, पुत्रादि सर्वस्व भगवान् मुकुन्द ही हैं, जिनकी चरणरजको भगवती श्रुति भी अनादिकालसे अबतक खोजती है (परंतु देख नहीं पाती)।

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥२५॥

हे देव ! आप भी इन व्रजवासियोंको सर्वफलरूप अपने स्वरूपसे बढ़कर कहाँ क्या फल देंगे—इस विषयमें विचार करता

हुआ, (इनके पुण्यानुरूप स्थानको सर्वत्र खोजता हुआ) हमारा (ब्रह्मा, रुद्र, सनक आदिका) चित्त मोहको प्राप्त होता है, क्योंकि आपके स्वरूपसे बढ़कर कोई स्थान ही नहीं है। (यदि कहिये कि अपनेको ही देकर मैं उऋण हो जाऊँगा, तो वह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि) हे देव! केवल भक्तोंके वेशका अनुकरण करनेसे पापिनी पूतना अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ आपको ही प्राप्त हुई। तो क्या, जिनके शरीर, धन, मित्र, पुत्र, प्रिय, प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि सब कुछ आपके ही निमित्त हैं, उन्हें भी वही फल देंगे, जो राक्षसोंको दिया था? नहीं, वह तो बहुत थोड़ा है, अतः ऋणी रहना ही ठीक है!

> तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
> तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥३६॥

श्रीकृष्ण! जबतक मनुष्य आपकी शरणमें नहीं आता, तभीतक रागद्वेषादि चोरकी भाँति व्यवहार करते हैं, तभीतक यह घर कारागृह-सा है और तभीतक पैर मोहरूपी बेड़ीसे बँधे हैं।

> प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
> प्रपन्नजनतानन्दसंदोहं प्रथितुं प्रभो ॥३७॥

प्रभो! आप प्रपञ्चसे अलग होते हुए भी शरणमें आये हुए जनसमूहके आनन्दका विस्तार करनेके लिये इस भूतलमें पुत्रादिरूप प्रपञ्चका अनुकरण करते हैं। (नकली पुत्रका रूप स्वीकार करके गोपोंकी सच्ची सेवासे आप अनृण नहीं हो सकते।)

श्रीकृष्णकी नित्य प्रातःक्रिया

भगवान् श्रीकृष्ण नित्य प्रातःकाल क्या-क्या क्रिया करते थे, इसका वर्णन भागवतमें किया गया है। भगवान्‌की नित्य क्रियाओंको देखनेसे पता लगता है कि आर्य द्विजातियोंका आदर्श उस समय क्या था और आज उनमें कितना बुरा परिवर्तन हो गया है। भगवान्‌की प्रातःक्रियाका वर्णन करते हुए शुकदेवजी कहते हैं—

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥
एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं
स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम्।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः
स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम्॥
अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार संध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥
उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वाऽऽत्मनः कलाः।
देवानृषीन् पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान्॥
धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम्।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम्॥
ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह।
अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने॥
गोविप्रदेवतावृद्धगुरून् भूतानि सर्वशः।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत्॥
(श्रीमद्भा० १०। ७०। ४—१०)

'भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर हाथ-पैर धोकर जलसे आचमन करके सब इन्द्रियोंको प्रसन्न करके मनको प्रकृतिसे आत्मामें लगा दिया अर्थात् आत्मध्यान करने लगे। वे केवल, स्वप्रकाश—उपाधिशून्य, अविनाशी, अखण्ड, अज्ञानरहित और जगत्की उत्पत्ति तथा नाशका कारण जो अपनी शक्तियाँ हैं, उनके द्वारा ही जिनकी सत्ता समझमें आती है, ऐसे श्रीकृष्ण ब्रह्म नामक अपने ही सच्चिदानन्द स्वरूपके ध्यानमें मग्न हो गये। तदनन्तर सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णजीने शुद्ध जलमें स्नान करके पवित्र वस्त्र पहने और विधिपूर्वक संध्योपासनादि नित्य-क्रिया और अग्निमें हवन करके वे मौन होकर गायत्री-मन्त्रका जप करने लगे। फिर सूर्य उदय होनेपर श्रीहरिने खड़े होकर सूर्यका उपस्थान किया, पश्चात् अपने ही अंशरूप देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करके उन आत्मवान् स्वरूपस्थित परमात्मा श्रीकृष्णने बड़े-बूढ़े और ब्राह्मणोंकी पूजा की। इसके बाद आपने ब्राह्मणोंको वस्त्र, आसन और तिलसहित १२०८४ गौएँ दान दीं। आप प्रतिदिन ही इतनी गौएँ दान दिया करते थे। उन गौओंके सींग सोनेसे और खुर चाँदीसे मँढ़े हुए थे, गलेमें मोतीकी मालाएँ पड़ी थीं, वदनपर सुन्दर झूलें उढ़ायी हुई थीं। ऐसी दुधारी, एक बारकी ब्याई, सुशीला, बछड़ेसहित गौएँ देकर श्रीकृष्णने अपनी विभूति गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध, गुरु और सम्पूर्ण प्राणियोंको प्रणाम किया और माङ्गलिक पदार्थोंका स्पर्श किया।'

यह श्रीकृष्णकी दैनिक प्रातःकालकी नित्यक्रिया थी, इसके साथ आजके भारतीय द्विजातियोंकी क्रियाका मिलान कीजिये—

तब	अब
ब्राह्म मुहूर्तमें उठना ।	आठ बजेतक पड़े रहना ।
आत्माका ध्यान करना ।	अखबार पढ़ते हुए संसारके प्रपञ्चोंका स्मरण करना ।
शुद्ध जलमें स्नान करना ।	चर्बीमिश्रित साबुन और प्रायः मद्ययुक्त सुगन्ध-लगा नलके अपवित्र जलमें नहाना ।
संध्योपासना करना ।	परचर्चा करना ।
हवन करना ।	धूम्रपान करना ।
गायत्री-जप करना ।	जप करनेवालोंकी दिल्लगी उड़ाना ।
देवता, ऋषि, पितृ-तर्पण ।	अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी चिन्तामें परिवारके लोगोंका बुरा सोचना ।
बड़े-बूढ़े और ब्राह्मणोंको पूजना ।	बड़े-बूढ़ोंको मूर्ख बताना और ब्राह्मण-निन्दा करना ।
ब्राह्मणोंको गौदान देना ।	ब्राह्मण-अतिथियोंको घरसे निकाल देना ।

विचार कीजिये और अपना कर्तव्य निश्चित कीजिये ।

अद्भुतकर्मा श्रीकृष्ण

शोणास्निग्धाङ्गुलिदलकुलं जातरागं परागैः
श्रीराधायाः स्तनमुकुलयोः कुंकुमक्षोदरूपैः ।
भक्तश्रद्धामधुनखमहःपुञ्जकिञ्जल्कजालं
जङ्घानालं चरणकमलं पातु नः पूतनारेः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं, उनके पवित्र कर्मोंका रहस्य जान सकता है ? उन्होंने अपने जीवनमें ऐसे-ऐसे अद्भुत कर्म हैं, जिन्हें पढ़कर आश्चर्यमें डूब जाना पड़ता है, यहाँ ऐसे ही ुत कर्मोंमेंसे कुछका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया जाता है ।

अवतरण

भाद्रकृष्णा ८ के दिन कंसके कैदखानेमें आधी रातके समय ान् प्रकट हुए । वसुदेवने देखा 'बड़ा ही अद्भुत बालक है, ा विशाल नेत्र हैं, चार भुजाएँ शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसे शोभित ाक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है, गलेमें कौस्तुभमणि चमक रही है, नव-नील-नीरद श्यामशरीरपर पीताम्बर शोभायमान है, सुन्दर

ले घुँघराले केशोंपर महामूल्यवान् वैदूर्यमणियोंसे जड़ा हुआ किरीट-
ट है, कानोंमें मकराकृति कुण्डल है, अति उत्तम मेखला, अंगद,
ण आदि आभूषणोंसे शरीरकी प्रतिभा और भी बढ़ रही है।'
वान्के अङ्गोंकी प्रभासे अन्धकारमय कारागृह परम प्रकाशमय हो
, वसुदेव-देवकीने भगवान् समझकर स्तुति की, भगवान्ने प्रसन्न होकर
कि 'स्वायम्भुव मन्वन्तरमें तुम्हारा नाम सुतपा-पृश्नि था, तुम
ोंने दिव्य बारह हजार वर्षतक मुझमें तन्मय होकर तप किया
। मैंने तुमलोगोंको दर्शन दिये, परंतु मेरी मायासे मोहित हो तुम
ोंने मुक्ति नहीं माँगी। तुमने मेरे समान पुत्र चाहा, इससे मैं स्वयं
िनगर्भ नामसे तुम्हारे यहाँ उत्पन्न हुआ था। दूसरे जन्ममें तुम
यप और अदिति थे, तब मैं उपेन्द्र या वामन नामसे तुम्हारे यहाँ
रूपसे अवतरित हुआ था। यह तुम्हारा तीसरा जन्म है, तुमलोगोंके
जन्मकी बातें स्मरण दिलानेके लिये ही मैंने तुम्हें अपना चतुर्भुज
रूप दिखलाया है। पुत्रभाव या ईश्वरभावसे मेरा ध्यान तथा मुझ-
स्नेह करनेके कारण तुमलोगोंको परम गति प्राप्त होगी।'

इतना कहकर भगवान् बालक बन गये। वसुदेवजी उनके आज्ञा-
सार उन्हें गोकुल ले जानेका उद्योग करने लगे, पैरोंकी बेड़ियाँ खुल
ीं, जेलका दरवाजा खुल गया, पहरेदार अचेत हो गये। यमुनाने
स्ता दे दिया। वसुदेवजीने गोकुल पहुँचकर श्रीकृष्णको यशोदाके
ास सुला दिया और यशोदाकी कन्याको ले आये। बंदीगृहमें वापस
ौटते ही द्वार बंद हो गये, पैरोंमें बेड़ियाँ पड़ गयीं और पहरेदार
जग हो गये।

कुबेरपुत्रोंका उद्धार

नलकूबर और मणिग्रीव नामक कुबेरके दो पुत्र शराब पीकर स्त्रियोंके साथ नंगे गङ्गामें विहार कर रहे थे। नारदजी वहाँ जा पहुँचे उनके सामने भी वे धनके मदमें अंधे होनेके कारण नंगे ही खड़े रहे, उनकी यह दशा देखकर देवर्षिने उनपर अनुग्रह करके उन्हें शाप दिया—नारदजीने कहा—'अहो! धनके घमंडमें स्त्री-सङ्ग, जुआ और शराबखोरी बढ़ जाती है, ऐश्वर्यका मद विषयासक्त मनुष्यकी बुद्धिको बिल्कुल भ्रष्ट कर देता है। लक्ष्मीके मदमें अंधे हुए दुष्टके लिये दरिद्रता ही असली अञ्जन है। ये कुबेरके पुत्र भी मदान्ध होकर जडकी तरह खड़े हैं। इससे इनको स्थावर जड-योनि ही मिलनी चाहिये। ऐसा होनेसे इनके घमंडका नशा उतर जायगा। ये एक सौ दिव्य वर्षोंतक वृक्ष होकर रहेंगे, परंतु उस जड-योनिमें भी इन्हें स्मरण-शक्ति रहेगी, अन्तमें इन्हें भगवान् श्रीहरि दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे, तब इनकी वह योनि दूर हो जायगी।' नारदजीके शापसे नलकूबर-मणिग्रीव दोनों भाई जुड़े हुए अर्जुनके वृक्ष हुए।* अपने भक्त देवर्षि नारदकी वाणी सत्य करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने लीला रची। आप इस समय छोटेसे बालक थे। एक दिन यशोदा मैयाकी आँख चुराकर आप ऊखलपर चढ़ गये और छीकेसे माखन उतारकर खुद खाने लगे और वानरोंको लुटाने लगे। इतनेमें माता आ गयीं। उनको बड़ा गुस्सा आया। पकड़कर ऊखलसे बाँधने लगीं। भगवान् शिशुकी तरह रोने-चिल्लाने लगे। रस्सी छोटी हो गयी, माता और

---

* इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि किसी भी वस्तुके मदमें चूर नहीं होना चाहिये तथा बड़ोंके सामने कभी अशिष्टाचरण नहीं करना चाहिये।

रस्सी लायी, वह भी छोटी हो गयी । यशोदाने घरसे और अड़ोसी-पड़ोसियोंके यहाँसे सारी रस्सियाँ ला-लाकर जोड़ दीं, परंतु वे श्रीकृष्णको न बाँध सकीं, रस्सी दो अङ्गुल छोटी ही रह गयी । माँ थक गयीं, शरीर पसीनेसे भींग गया, भगवान्‌को दया आयी और आप ही बँध गये । इसीसे आपका नाम 'दामोदर' पड़ा । माता दूसरे काममें लगी । इधर आप ऊखलसहित रस्सीको खींचते-खींचते दोनों वृक्षोंके बीचमें चले गये और ऊखलको उनमें अड़ाकर जोरसे खींचा । भगवान्‌की शक्तिसे दोनों वृक्ष जड़से उखड़कर जमीनपर गिर पड़े । भयानक शब्दसे आकाश भर गया । वृक्षोंके गिरते ही उनमेंसे अग्निके समान तेजस्वी दो सिद्ध पुरुष निकले, इन दोनों कुबेरपुत्रोंने जगदीश्वर श्रीकृष्णको दण्डवत् प्रणामकर उनकी स्तुति करते हुए, अन्तमें वरदान माँगा—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । ३८)

'भगवन् ! हमारी वाणी आपके गुणगानमें लगी रहे, हमारे कान आपकी कथाके परायण रहें, हाथ आपकी सेवामें, चित्त आपके चरणोंके चिन्तनमें, सिर आपके निवासस्थल सम्पूर्ण संसारको प्रणाम करनेमें और दृष्टि आपकी प्रत्यक्षमूर्ति संतोंके दर्शनमें लगी रहे ।' भगवान्‌की दयासे वे कृतकृत्य होकर उत्तर-दिशाको चले गये ।

ब्रह्माजीको लीलाप्रदर्शन

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंके साथ परस्पर हँसते-हँसाते हुए तन्मय होकर बालवत् भोजन कर रहे थे। इसी अवसरमें उनके सारे बछड़े हरी घासके लोभसे दूर चले गये। बछड़ोंको दूर निकले देखकर ग्वाल-बालक डरे। तब श्रीकृष्णने उनसे कहा कि 'तुम डरो नहीं, बछड़ोंको मैं अभी लौटा लाता हूँ।' इतना कहकर आप भोजनका ग्रास हाथमें लिये ही अपने मित्रोंके बछड़ोंकी खोजमें चल दिये। ब्रह्माजी भगवान्‌की यह सारी लीला देख रहे थे, उन्हें मायाशिशु हरिकी लीला देखकर मोह हो गया। भगवान् श्रीहरिकी महिमा देखनेकी इच्छासे ब्रह्माजी पहले तो बछड़ोंको हर ले गये और अब श्रीकृष्णके चले जानेपर सारे ग्वालबालोंको उठा ले गये तथा सबको अचेतकर अपने लोकमें रख आये।

भगवान् लौटकर आये और ग्वालबालोंको न पाकर तथा यह सारी करतूत ब्रह्माजीकी समझकर ग्वालबालकों और बछड़ोंकी माता गोपियों और गौओंको संतुष्ट रखने तथा ब्रह्माको छकानेके लिये, विश्वरचयिता हरि स्वयं उतने ही बछड़े और बालक बन गये। जिस बछड़े और बालकका जैसा शरीर, जैसे हाथ-पैर, जैसी लकड़ी, जैसी सींगड़े, जैसी बाँसुरी, जैसा छींका, जैसे कपड़े और गहने थे तथा जैसा शील, गुण, नाम, आकृति, प्रकृति, अवस्था और आहार-विहार आदि था, सर्व-स्वरूप श्रीहरिने ठीक वैसे ही प्रकट होकर सारा विश्व 'विष्णुमय' है, इस बातको प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया। गोपियों और गौओंका स्नेह बालकों और बछड़ोंपर असीम रूपसे बढ़ गया। पहले व्रजवासियोंका श्रीकृष्णपर परम स्नेह था, परंतु अब वह अपने-अपने पुत्रोंपर

अत्यधिक हो गया। छोटे बछड़े पास होनेपर भी गौएँ इन बड़े बछड़ोंको देखकर दौड़ छूटती थीं और उनके स्तनोंसे दूध बहने लगता था, बड़े-बूढ़े गोप अपने पुत्रोंको गले लगाकर बड़ी कठिनाईसे स्नेहकी उमंगको रोक सकते थे। इन सबका कारण यह था कि प्रमाणेव श्रीकृष्ण ही सब कुछ बने हुए थे। सालभर यों ही बीत गया। श्रीबलदेवजीको व्रजवासी स्त्री, पुरुष और गौओंका अपने पुत्रोंपर स्नेह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने ज्ञाननेत्रोंसे देखा तो उन्हें दिखलायी दिया कि बछड़े और उनकी रक्षा करनेवाले ग्वालबालक सभी श्रीकृष्णरूप हैं। बलदेवजीके पूछनेपर श्रीभगवान्‌ने उन्हें सारा भेद बतलाया। ब्रह्माजीने आकर देखा कि श्रीकृष्ण पूर्वकी भाँति उसी प्रकार अपने साथी ग्वालबालोंके साथ खेलते-खाते हुए बछड़े चरा रहे थे। उनको बड़ा अचरज हुआ, उन्होंने अपने लोकमें जाकर देखा कि बालक और बछड़े ज्यों-के-त्यों अचेत पड़े हैं। फिर आकर देखा तो यहाँ भी पूर्ववत् सब दिखलायी दिये। अब इन्हें यह भ्रम हो गया कि इन दोनोंमेंसे वास्तवमें कौन-से बालक और बछड़े असली हैं और कौनसे नकली हैं। ब्रह्माजीकी बुद्धि चकरा गयी। इतनेमें उन्हें दिखायी दिया कि समस्त बछड़े और उनके रक्षक बालक श्रीकृष्णरूप हो रहे हैं। सभी श्यामसुन्दर पीताम्बर पहने, चतुर्भुज, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये और किरीट, कुण्डल, हार, वनमाला आदि आभूषण तथा भक्तोंद्वारा अर्पित की हुई तुलसीकी मालाओंसे सुशोभित हैं। ब्रह्मासे लेकर एक तिनकेतक समस्त चराचर जीव मूर्तिमान् होकर भगवान्‌की सेवा-पूजा कर रहे हैं। आठों सिद्धियाँ, विभूतियाँ, चौबीसों तत्त्व, काल, स्वभाव, संस्कार,

काम, कर्म, गुण आदि सभी मूर्तिमान् होकर भगवान्‌की उपासनामें लगे हैं। यह सब चमत्कार देखकर ब्रह्माजी बेसुध होकर गिर पड़े। जब ब्रह्माजीको बाह्यज्ञान हुआ तब उन्होंने देखा कि अच्युतकी विहारभूमि होनेके कारण श्रीवृन्दावन काम, क्रोध, लोभ आदि संसारके तापोंसे रहित रम्य और मनोहर वस्तुओंसे पूर्ण है। वहाँ सभी निर्वैर और सुखी हैं। अद्वितीय, परम, अनन्त, अगाधबोध ब्रह्म गोपबालकरूप नाट्यवेष धरकर हाथमें भोजनका ग्रास लिये पहलेकी भाँति इधर-उधर खोये हुए बछड़ों और बालकोंको खोज रहे हैं। यह देखते ही ब्रह्माजी कनक-दण्डके समान पृथ्वीपर गिरकर भगवान्‌के चरणकमलोंमें प्रणामकर आनन्दाश्रुओंकी धारासे उनके चरण धोने लगे। तदनन्तर उठकर भगवान्‌की स्तुति करते हुए उन्होंने कहा—

> तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
> यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
> यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
> स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥
>
> (श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

'इस भूमिपर, वृन्दारण्यमें और उसमें भी गोकुलमें जन्म होना परम सौभाग्यका विषय है, क्योंकि यहाँपर जन्म लेनेसे किसी-न-किसी आपके प्यारे गोकुलवासीकी चरणधूलि सिरपर पड़ ही जायगी। गोकुलवासी धन्य हैं, समस्त श्रुतियाँ निरन्तर जिनकी खोजमें लगी हुई हैं, वही आप इन ब्रजवासियोंके जीवन हैं।'

परंतु भगवन्!

विषविषमस्तनापि कृतमातृसुवेशतया
समजनि पूतना तव सुधाम्नि सहावरजा।
धनजननीधनाद्यखिलदानकृतां किमहो
व्रजपुरवासिनां वितरितेति भवाम्यपधीः॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'पूतना राक्षसी स्तनोंमें विषम विष लगाकर भी माताका-सा सुन्दर वेश धारण कर आयी थी, इसीसे वह अपने छोटे भाई (बकासुर) सहित आपके सुन्दर परम धामको प्राप्त हो गयी। तब फिर इन व्रजवासियोंको आप क्या देंगे, जिन्होंने अपना धन-जन, जीवन, माता, पिता, वन-बगीचे आदि सब आपके अर्पण कर दिये हैं ? इसलिये आपका इनके प्रेम-ऋणमें बँधे रहना ही उचित है। इस प्रसङ्गको देखकर मेरी बुद्धि विलुप्त-सी हो रही है।'

जगत्-स्रष्टा ब्रह्माजी भगवान्‌की स्तुति, प्रदक्षिणा और उन्हें प्रणामकर तथा भगवान्‌की आज्ञा लेकर अपने लोकको चले गये।

दावानल-पान

एक बार आधी रातके समय रेंड़के वनमें आग लग गयी। आगने सबको घेर लिया। व्रजवासी भगवान्‌से पुकार मचाने लगे। अनन्त शक्तिशाली जगदीश्वर भगवान्‌ने स्वजनोंको विकल देखकर तत्काल ही अग्निको पी लिया। इसी प्रकार एक बार फिर आग लगी, तब पुनः सबने श्रीकृष्ण-बलदेवको पुकारकर कहा—'हे कृष्ण! हे बलरामजी! आप महान् बलशाली और अपरिमित पराक्रमी हैं, इस दुर्दान्त दावानलसे हमें बचाइये।' भगवान्‌ने कहा—'तुमलोग डरो मत, आँखें मूँद लो।' भगवान्‌के आज्ञानुसार जब सबने आँखें बंद

धर ली, तब योगाधीश्वर श्रीकृष्ण तुरंत अग्निको पी गये और इस प्रकार श्रीहरिने अपने जनोंको बचा लिया।

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम्।
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत्॥
(श्रीमद्भा० १० । १९ । १२)

गोवर्द्धन-पूजा

व्रजमें प्रतिवर्ष इन्द्रका यज्ञ हुआ करता था, कालरूप भगवान्‌ने इन्द्रका दर्प चूर्ण करनेकी इच्छासे नन्दजी आदिको समझाकर इन्द्रका यज्ञ बंद करा दिया और उसके बदलेमें गोवर्द्धन-पर्वत और गौओंकी पूजा करवायी। भगवान्‌के आज्ञानुसार ब्राह्मणोंको दान दिया गया, गौओंको हरी घास और बढ़िया चारा खिलाया गया, तदनन्तर सब गोपियाँ सज-धजकर छकड़ोंपर सवार हो श्रीकृष्णके गुण-गान करती हुई गिरिराजकी प्रदक्षिणा करने लगीं। फिर सब पहाड़पर गये, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं वहाँ दूसरे चतुर्भुज विशाल रूपमें प्रकट हो गये। भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही दूसरे शरीरको व्रजवासियोंसहित प्रणाम किया और स्वयं उनकी पूजा करने लगे। इस प्रकार पूजाकर, करवाकर भगवान् सबको साथ लेकर व्रजमे लौट आये। इन्द्रने इस घटनासे अपना बड़ा अपमान समझा और व्रजको विध्वंस करनेके लिये वे प्रलय-कालीन वर्षा करने लगे। बिजली कड़काने, ओले बरसाने, आँधी चलाने और जलराशि बरसानेमें इन्द्र जहाँतक शक्ति रखते थे, आज उसका पूरा प्रयोग करनेको तैयार हो गये। गोप-गोपियाँ घबरा-कर श्रीकृष्णके शरणापन्न हुईं, भगवान्‌ने उन्हें धीरज देकर लीला-पूर्वक एक ही हाथसे गोवर्द्धन-गिरिको वैसे ही उखाड़कर उठा लिया,

जैसे कोई बच्चा खेलते-खेलते धरतीके बरसाती छत्तेको अनायास ही उखाड़ ले—

> इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
> दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः॥
>
> (श्रीमद्भा० १० । २५ । १९)

समस्त व्रजवासी अपने घरके सामान और गाय-बैलोंको लेकर उसके नीचे आ गये। श्रीकृष्णने भूख, प्यास, व्यथा और सुखकी इच्छा छोड़कर इस प्रकार लगातार सात दिनोंतक पहाड़को उसी प्रकार अचल-अटलरूपसे हाथपर उठाये रक्खा। गोप-गोपियाँ भगवान्‌के इस अलौकिक कर्मको देखकर तथा अपनेको ऐसे महान् परम पुरुषके कृपापात्र समझकर आश्चर्य तथा प्रेमभरी एकटक दृष्टिसे श्रीकृष्णके अम्लान मधुर मुखकी ओर देखती रहीं। भगवान्‌के इस अद्भुत कार्यको देखकर इन्द्र चकरा गये, उनका सारा अभिमान चूर्ण हो गया। इन्द्रने थककर वर्षा बंद कर दी, सूर्यदेव निकल आये। गोप-गोपी पहाड़के नीचेसे निकलकर श्रीकृष्णको यथायोग्य सत्कार, पूजन, आलिङ्गन और आशीर्वादसे प्रसन्न करने लगीं। इन्द्र आये और उन्होंने आते ही अपना सूर्यसदृश तेजपूर्ण मुकुट उतारकर भगवान्‌के चरणोंपर रख दिया और स्तुति करते हुए अन्तमें कहा—

> मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः।
> चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना॥
> त्वयेशानुगृहीतोऽसि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः।
> ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः॥
>
> (श्रीमद्भा० १० । २७ । १२-१३)

'भगवन् ! मुझको बड़ा अभिमान था, इसीने पश्चात्ताप न होने देखकर मैंने क्रोधमें पागल हो प्रचण्ड वर्षा और तूफानसे व्रजका विध्वंस करना चाहा था। स्वामिन् ! आपने मेरा दर्प चूर्ण करके बड़ा ही अनुग्रह किया, मेरा उद्योग नष्ट होनेसे मुझे मालूम हो गया कि मुझसे भी अधिक शक्तिशाली कोई है। अब मैं ईश्वर, गुरु और आत्मस्वरूप आपकी शरणमें आया हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।'

भगवान्ने उत्तरमें जो शब्द कहे, वे प्रत्येक मनुष्यको सदा अपने हृदयमें धारण करके रखने चाहिये। आपने कहा—

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्र श्रिया भृशम्॥
मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्॥
(श्रीमद्भा० १०। २७। १५-१६)

'देवराज ! तुम ऐश्वर्यके मदमें मतवाले हो गये थे, इसीसे मैंने तुमपर अनुग्रह करके (तुम्हारी आँखें खोलनेके लिये) तुम्हारा यज्ञ रोक दिया, अब तुम मेरा स्मरण करो। जो मनुष्य ऐश्वर्यके मदसे अंधा हो जाता है, वह मुझ दण्डपाणिको नहीं देख पाता, ऐसे लोगोंमेंसे मैं जिसपर कृपा करना चाहता हूँ, उसकी सम्पत्ति हर लेता हूँ जिससे उसका मद उतर जाता है।'

इसके बाद उदार चित्तवाली सुरभी गौने गोपरूप भगवान्को प्रणाम किया और स्तुति करनेके अनन्तर अपने दुग्धसे उनका अभिषेक किया। तदनन्तर माता अदितिकी आज्ञासे इन्द्रने भी देवोंके

साथ ऐरावतद्वारा लाये हुए आकाशगङ्गाके पवित्र जलसे भगवान्‌का अभिषेक किया और उनका 'गोविन्द' नाम रक्खा ।

> इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः ।
> अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥
>
> (श्रीमद्भा० १० । २७ । २८)

'इस प्रकार गौ और गोकुलके स्वामी गोविन्दका अभिषेक करके उनकी अनुमति लेकर इन्द्र अपने देवताओंसमेत स्वर्गलोकको लौट गये ।'

वरुणलोकमें पूजा

श्रीनन्दजीने एकादशीका व्रत किया था, द्वादशी बहुत थोड़ी होनेके कारण वे शीघ्र पारण करनेके लिये, सूर्योदयसे बहुत ही पहले आसुरी बेलामें ही स्नानार्थ यमुनाजीमें घुस गये । वरुणका एक जलचारी अनुचर वहाँ घूम रहा था, वह उन्हें पकड़कर वरुणके पास ले गया । सवेरा हो गया, नन्दजी जलसे बाहर नहीं निकले, यह देखकर सब घबरा गये । चारों ओर 'कृष्ण बचाओ,' 'बलराम दौड़ो' की पुकार मच गयी । श्रीकृष्णजी सारे भेदको जान सबको धीरज देकर वरुणलोकमें चले गये । वहाँ पहुँचते ही लोकनायक वरुणने बड़े ही समारोहसे उनका स्वागत-पूजन करते हुए कहा —

> अद्य मे निभृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो ।
> त्वत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः ॥
> नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने ।
> न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ॥

अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना ।
आनीतोऽयं तव पिता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति ॥
(श्रीमद्भा० १० । २८ । ५-७)

'प्रभो ! आज मेरा जीवन सफल हो गया, आज मुझे महा सम्पत्ति प्राप्त हो गयी । आपके चरण-सेवक मोक्ष लाभ करते हैं आज मैं भी मुक्त हो गया । स्वामिन् ! आप परम ब्रह्म हैं, आ परमात्मा हैं, भ्रम उत्पन्न करनेके लिये लोक-सृष्टिकी कल्पना करने वाली माया आपमें नहीं सुन पड़ती । मैं आपको नमस्कार करता हूँ । प्रभो ! कर्तव्यज्ञानशून्य मूर्ख सेवक बिना ही समझे आपके पिताजीको यहाँ ले आया है, कृपापूर्वक इस अपराधको क्षमा कीजिये ।' वरुणकी सची स्तुतिसे उसपर प्रसन्न होकर ईश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण नन्दबाबाको लेकर व्रज लौट आये ।

गोपोंको ब्रह्म और परम-धामदर्शन

नन्दबाबाको वरुणदेवके द्वारा अपने पुत्र श्रीकृष्णकी इस प्रकार समारोहके साथ महान् पूजा होते देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ, उन्होंने व्रज लौटकर गोपोंसे अपने आँखों देखी भगवान्के प्रभावकी सारी बातें कहीं । गोपोंने समझ लिया कि श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् ईश्वर हैं, तब उन लोगोंके मनमें यह कामना हुई कि 'भगवान् कभी हम लोगोंको भी अपना वह सूक्ष्म रूप दिखलावें तो बड़ा अच्छा हो ।' अन्तर्यामी सर्वज्ञ करुणासागर भगवान् गोपोंके मनकी बात जान गये और उनपर कृपा करके अपने मायातीत वैकुण्ठ लोकमें ले गये और वहाँ लोगोंको अपने 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' निर्गुण ब्रह्मस्वरूपका दर्शन कराया । गोपगण उस ब्रह्मह्रदमें निमग्न हो गये । तब भगवान्ने

उन्हें उससे बाहर निकाला। तदनन्तर उन्हें वह परमधाम परम ब्रह्मलोक दिखलाया। इसी लोकको भगवत्कृपासे यमुनाजीके अंदर श्रीअक्रूरजीने देखा था। गोपोंने वहाँ प्रत्यक्ष देखा कि श्रीकृष्णचन्द्र विराजमान हैं और चारों वेद उनकी स्तुति कर रहे हैं। नन्दजी आदि यह सब देखकर अत्यन्त आश्चर्य और परमानन्दमें निमग्न हो गये।

रासलीला

शरद्-पूर्णिमाके दिन भगवान्ने असंख्य गोपियोंके साथ पवित्र रासक्रीडा की। उस समय दो-दो गोपियोंके बीचमें आपने अपना एक-एक रूप बना लिया और दोनों ओर अपने दोनों हाथ पकड़ा दिये। इस प्रकार अगणित गोपियोंमें अगणित स्वरूप धारणकर भगवान्ने रासलीला की। साथ ही प्रत्येक गोपीके घरपर भी उसका रूप धारण करके निवास किया, जिससे उसके घरवालोंको यही प्रतीत हुआ कि हमारे घरकी स्त्री घरमें ही है।

सुदर्शनका उद्धार

एक समय श्रीनन्दजी आदि गोपोंने अम्बिकावनमें जाकर विविध सामग्रियोंसे भगवान् शङ्कर और भगवती अम्बिकाजीकी पूजा की और अनेक प्रकारका दान करके उपवास किया। देर हो जानेसे रातको वहीं सरस्वती नदीके किनारेपर सो रहे। रातके समय एक भयानक अजगरने आकर नन्दजीके पैरको पकड़ लिया। भयभीत नन्दजी 'हे कृष्ण, हे श्यामसुन्दर, मुझे महासर्प निगले जाता है, इस संकटसे बचाओ।' पुकारने लगे। गोपोंने अनेक उपाय किये परंतु अजगरने उन्हें नहीं छोड़ा। अन्तमें श्रीकृष्णने आकर अपने पैरसे

अजगरको जरा-सा छू दिया। भगवान्‌का चरणस्पर्श होते ही उस समस्त पाप नष्ट हो गये और उसी क्षण वह सर्पयोनिसे छूटकर प सुन्दर विद्याधर बन गया। दिव्यस्वरूप और वस्त्राभूषणधारी अ देवप्रतिम पुरुषने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर गिरकर प्रणाम कि और कहा—'भगवन्! मैं सुदर्शन नामक विद्याधर हूँ, मैंने अप सुन्दर रूपके मदमें चूर होनेके कारण एक दिन रास्तेमें अंगिरा ऋषि वंशज कुछ कुरूप मुनियोंको देखकर हँस दिया था। इसीसे उन्हों मुझे सर्प होनेका शाप दे दिया था। मैं देखता हूँ कि मुझपर उ मुनियोंने शाप देकर बड़ा ही अनुग्रह किया, जिसके प्रतापसे आज मैं आप त्रैलोक्यगुरुके दुर्लभ चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्तकर पापरहित हो गया।'

ब्रह्मदण्डाद् विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात्।
यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतॄनात्मानमेव च।
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते॥
(श्रीमद्भा० १०। ३४।

'प्रभो! आपका दर्शन होते ही मैं जो ब्रह्मशापसे मुक्त गया, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आपका नाम-कीर्तन करने ही जब सुननेवालोंसहित तत्काल पवित्र हो जाता है, तब मु आपके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त हुआ है। फिर मेरे मुक्त ह क्या संदेह है?'

शङ्खचूड़का उद्धार

एक समय रातको वनमें श्रीकृष्ण-बलदेव मधुर गान कर थे और गोपियाँ प्रेमविह्वल होकर सुन रही थीं, इतनेमें कुबेरका

चूड़ नामक अनुचर यक्ष कुछ गोपियोंको उठाकर चल दिया, यों चिल्लाने लगीं, परंतु उसने छोड़ा नहीं, तब श्रीकृष्ण-बलदेव आश्वासन देते हुए उसके पीछे दौड़े और शीघ्र ही उसके जा पहुँचे, वह गोपियोंको छोड़ प्राण लेकर भागा, परंतु कृष्णने उसका पीछा किया और उसे मारकर उसके सिरकी मणि निकाल लाये।

मथुरायात्रामें अक्रूरको भगवद्दर्शन

श्रीकृष्ण-बलदेवको साथ लेकर अक्रूरजी मथुराको चले। कृष्णप्राणा गोपियाँ विरहचिन्तासे अत्यन्त कातर हो, सारी लोक-जको त्यागकर ऊँचे स्वरसे 'हे गोविन्द, हे दामोदर, हे माधव' कर विलाप करने लगीं। रातभर गोपियोंके विलापमें बीत गयी। रा होते ही संध्यावन्दन करके अक्रूरजीने रथ हाँक दिया। थोड़ी में श्रीकृष्ण-बलदेवका रथ यमुनाजीके किनारे पहुँच गया। वहाँ नों भाइयोंने स्नान किया और मीठा जल पीकर वृक्षोंकी छायामें ड़े रथपर वे बैठ गये। अक्रूरजी स्नान करके जलमें घुसकर यत्रीका जप करने लगे। जप करते-करते उन्होंने देखा, उसके दर श्रीकृष्ण-बलदेव दोनों भाई विराजमान हैं। अक्रूरने सोचा कि दोनों तो रथपर थे, यहाँ कैसे आ गये?' यों विचारकर क्रूरजीने जलसे बाहर निकलकर रथकी ओर देखा तो उन्हें दोनों ई रथमें बैठे दिखायी दिये। अक्रूरजी अचरजमें डूब गये, उन्होंने चा कि 'मैंने उन्हें जो जलमें देखा सो क्या मेरा भ्रम था?' यों चारकर उन्होंने फिर जलमें गोता लगाया, इस बार वे देखते हैं कि

'जलमें सिद्ध, सर्प और असुरोंद्वारा सेवित श्रीअनन्त शेषनागजी विराजमान हैं, उनके हजार मस्तक हैं, सबपर मुकुट है, कमलकी नालके समान श्वेत शरीरपर नीलाम्बर सुशोभित है। उन श्रीशेषजीकी गोदमें पीताम्बरधारी नव-नील-नीरद-वर्ण चतुर्भुज भगवान् विराजमान हैं। देवता, ऋषि, किन्नर और सभी देवियाँ उनकी सेवा कर रही हैं।' अक्रूरजीको यह अपूर्व दृश्य देखकर बड़ा ही आनन्द हुआ; प्रेमके कारण उनका शरीर पुलकित हो गया। नेत्रोंमें आँसू भर आये। भक्तिभावसे उनका हृदय गद्गद हो गया। श्रीकृष्णका प्रभाव उन्होंने जान लिया और वे हाथ जोड़कर भगवान्‌की स्तुति करने लगे।

अक्रूरजी स्तुति कर ही रहे थे कि श्रीकृष्ण जलके अंदर अन्तर्धान हो गये—

स्तुवतस्तस्य भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः।
भूयः समाहरत् कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः॥
(श्रीमद्भा० १०।४१।१)

'भगवान् श्रीकृष्णने स्तुति करते हुए अक्रूरजीको जलके अंदर अपना अद्भुत (चतुर्भुज) रूप दिखाकर पुनः उसको वैसे ही छिपा लिया, जैसे नट अपनी बाजीगरी दिखाकर फिर उसे गायब कर देता है।' अक्रूरजी जलमें भगवान्‌को न देखकर बाहर आये, तब हर्षित भगवान् श्रीकृष्णने मुसकराते हुए उनसे पूछा— 'चाचाजी! आप अचरजमें कैसे डूब रहे हैं, क्या आज आपने कोई अद्भुत बात देखी है?' अक्रूरने कहा—

अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः॥

यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले।
तं त्वाऽनुपश्यतो ब्रह्मन् किं मे दृष्टमिहाद्भुतम् ॥
(श्रीमद्भा० १०। ४१। ४-५)

'स्वामिन्! पृथ्वी, आकाश और जलमें जो कुछ अद्भुत हैं सो सब आप विश्वरूपमें ही प्रतिष्ठित हैं। मैंने जब आपको तत्त्वसे देख लिया तब कौन-सी अद्भुत वस्तु देखनी शेष रह गयी? ब्रह्मन्! पृथ्वी, आकाश और जलकी सभी वस्तुएँ आपमें हैं। आपके अतिरिक्त संसारमें और क्या अद्भुत है जो मैं देखता?'

इतना कहकर अक्रूरजीने रथ हाँक दिया।

कुब्जाको सीधी करना

भगवान् मथुराजी पहुँचे, वहाँ राजमार्गपर कंसके शरीरपर अङ्गराग लगानेवाली कुब्जाको चन्दन लेकर जाते देखा। भगवान्ने उसपर कृपाकर उसे सीधा करना चाहा। अनन्तर श्रीहरिने अपने दोनों पैरोंसे कुब्जाके दोनों पैरोंको आगेसे दबाकर, उसकी ठोड़ीपर अपनी दो अँगुलियाँ रखकर एक झटका दिया। झटका लगते ही उसका जन्मका टेढ़ा शरीर सीधा हो गया।

अनेक रूप दिखाना

इसके बाद कंसके शस्त्रागारमें जाकर रक्षकको गिराकर विशाल इन्द्रधनुषको अनायास ही तोड़ डाला और मुष्टिक, चाणूर आदि पहलवानों तथा कुवलयापीड मतवाले हाथीको मारकर अत्याचारी कंसका वध कर दिया। उस कंसकी राजसभामें श्रीकृष्ण सबको भिन्न-भिन्न रूपोंमें दीख पड़े थे। वे मल्लोंको वज्रके समान,

मनुष्योंको सर्वश्रेष्ठ पुरुष, स्त्रियोंको साक्षात् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्डदाता, माता-पिताको बालक, कंसको प्रत्यक्ष काल, अज्ञानियोंको [illegible], योगियोंको परब्रह्म और यादवोंको परम देवतास्वरूप दिखायी दिये।

(श्रीमद्भा० १० । ४२ । ४३ में देखिये)

मृत गुरु-पुत्रको लाना

पिता-माता श्रीवसुदेव-देवकीजीको अपने विनम्र बर्तावसे प्रसन्न करते हुए भगवान्‌ने कहा——'चतुर्वर्ग-फलकी प्राप्ति करानेवाला मनुष्यशरीर जिन माता-पितासे उत्पन्न हुआ और जिनके द्वारा पाला गया, उन माता-पिताके ऋणसे सौ वर्षतक सेवा करनेपर भी मनुष्य उऋण नहीं हो सकता।'

यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि॥
मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम्।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन् मृतः॥
(श्रीमद्भा० १० । ४५ । ६-७)

'जो समर्थ पुत्र तन-मन-धनसे माता-पिताकी सेवा नहीं करते, मरनेपर यमराजके दूत उन कुपुत्रोंको उन्हींका मांस खिलाते हैं। जो मनुष्य वृद्ध पिता, माता, साध्वी पत्नी, पुत्र, शिशु, गुरु, ब्राह्मण और शरणागतका भरण-पोषण नहीं करता, वह जीते ही मरेके समान है।'

माया-मानुष-विश्वात्मा श्रीहरिने माता-पिताको, अपनी सेवासे सुखी करनेके उपरान्त गर्ग मुनिसे यज्ञोपवीत संस्कार करवाया,

तदनन्तर दोनों भाई विद्या पढ़ने उज्जैन गये । वहाँ वे इन्द्रियोंका दमन करके गुरुके परम अनुगामी और श्रद्धायुक्त होकर परम भक्तिके साथ इष्टदेव ईश्वरके सदृश मानकर गुरुकी सेवा करते हुए विद्या पढ़ने लगे । उन्होंने साङ्गोपाङ्ग वेद, उपनिषद्, मन्त्र और देवताके ज्ञानसहित धनुर्वेद, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, न्याय, राजनीति आदि सारी विद्याएँ और चौंसठ कलाएँ सिर्फ चौंसठ दिनोंमें पढ़ लीं । भगवान्‌ने जगदीश्वर और सब विद्याओंके प्रकाशक तथा सर्वज्ञ होनेपर भी मानवलीलाके हेतुसे विद्याध्ययनका यह खेल किया । पढ़ना समाप्त होनेपर उन्होंने गुरुसे दक्षिणा माँगनेके लिये प्रार्थना की । सान्दीपनि गुरुने अपने प्रभासक्षेत्रमें डूबे हुए पुत्रको ला देनेके लिये कहा । भगवान् 'तथास्तु' कहकर चले । जाकर समुद्रसे गुरु-पुत्रको माँगा । समुद्रने कहा, 'देव ! मैंने बालकका हरण नहीं किया था, उसे तो शङ्खरूपधारी पञ्चजन नामक दैत्य ले गया था । वह ग्वा गया होगा ।' भगवान्‌ने जलके अंदर प्रवेशकर उक्त दैत्यका वध किया; परंतु उसके पेटमें भी जब बालक नहीं मिला, तब वे यमपुरीको गये । यमराजने स्वागत करते हुए प्रार्थना की कि 'भगवन् ! आज्ञा कीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें ?' भगवान्‌ने गुरु-पुत्र ला देनेकी आज्ञा दी । आज्ञाकारी यमराजने बालकको ला दिया । भगवान् उसे लेकर गुरुके चरणोंमें उपस्थित हुए और उन्हें देकर संतुष्ट किया ।

नृगका उद्धार

राजा नृग एक बार दान की हुई गौको पुनः दान देनेके पापसे गिरगिट-योनि भोगते हुए कुएँमें पड़े थे । एक दिन कुछ यदुकुमारोंने

उपवनमें खेलते-खेलते कुएँमें झाँककर उन्हें देखा। वे उन्हें बाहर निकालनेका उद्योग करने लगे, परंतु उनके न निकलनेपर उन्होंने आकर सारा वृत्तान्त भगवान्‌से कहा। कमललोचन विश्वम्भर भगवान्‌ने आकर उनको निकाला और देखकर उनके हाथ लगाया, इतनेमें ही वह गिरगिट-योनिसे छूटकर सुन्दर पुरुष बनकर भगवान्‌की स्तुति करने लगे।*

ऋषियोंद्वारा स्तुति

वसुदेवजीने कुरुक्षेत्रमें यज्ञ किया। वहाँ कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, अन्यान्य राजस्त्रियाँ तथा गोपियाँ आदि सभी आयी थीं। सभी सम्बन्धी पुरुष एकत्र हुए थे। इसी अवसरपर श्रीकृष्ण-बलरामके दर्शनार्थ वहाँ महर्षि व्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भारद्वाज, गौतम, परशुराम, वशिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, ब्रह्मपुत्र सनकादि, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य और वामदेवादि महर्षिगण पधारे। भगवान्‌ने बड़ी ही नम्रताके साथ ऋषियोंका स्वागत करके पाद्य, अर्घ्य, माला, चन्दन, धूप, दीप आदिसे उनका पूजन किया और कहा कि 'आज हमलोगोंका आपके दर्शन करनेसे जन्म सफल हो गया। सच्चे देव और तीर्थ तो आप महात्मालोग ही हैं।' श्रीकृष्णके द्वारा धर्मयुक्त वाक्य सुनकर वे मोहित हो गये। उन्होंने समझ लिया, भगवान्‌की यह नर-लीला है। तदनन्तर सब महर्षियोंने

* राजा नृगकी कथा 'कल्याण' भाग ३ पृष्ठ ८१२ में प्रकाशित हो चुकी है।

विनयके साथ भगवान्‌की स्तुति करते हुए अन्तमें भक्तिका वरदान माँगा। वसुदेवजीने ऋषियोंसे ज्ञानोपदेशके लिये प्रार्थना की, तब नारदजीने कहा—'वसुदेव! तुम तो कृतार्थ हो चुके, तुम्हारी परम भक्तिको धन्य है, जिसके कारण साक्षात् जगदीश्वर तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपसे प्रकट हुए हैं।'

यज्ञ समाप्त होनेपर सब लोग द्वारका लौट आये। सुप्रसिद्ध ज्ञानी मुनियोंके मुखसे श्रीकृष्ण-बलदेवकी महिमा सुनकर वसुदेवको विश्वास हो गया कि ये साक्षात् सर्वशक्तिमान् हरि हैं। अतएव एक दिन एकान्तमें वसुदेवजी श्रीकृष्ण-बलरामकी स्तुति करने लगे। स्तुति समाप्त होनेपर भगवान्‌ने विनय और मर्यादायुक्त वाणीसे नम्रतापूर्वक हँसते हुए रहस्यमय वचन कहे—'पिताजी! आपने मेरे बहाने जो ब्रह्मतत्त्वका निरूपण किया है सो सर्वथा युक्तियुक्त ही है। मैं, आप सब, ये द्वारकावासी लोग, यहाँतक कि समस्त चराचर विश्व ही ब्रह्मरूप है। प्रत्येक जिज्ञासु पुरुषको इसी प्रकार व्यापक ब्रह्मका विचार करना चाहिये।'

मृत देवकीपुत्रोंको लाना

माता देवकीने मरे हुए गुरु-पुत्रको लौटा लानेकी बात सुनकर एक दिन रोकर श्रीकृष्ण-बलरामसे कहा—'कृष्ण-बलराम! मैं जानती हूँ तुम अपरिमित प्रभावशाली और योगेश्वरोंके भी ईश्वर हो। मैंने सुना है तुमने मरे हुए गुरुपुत्रको यमराजके यहाँसे ला दिया; इससे मैं भी चाहती हूँ मेरे जिन छः पुत्रोंको कंसने मार डाला था, उन्हें एक बार मुझे आँखोंसे दिखा दो।' माताकी आज्ञा पाकर दोनों भाई चले। सुतल लोकमें जाकर राजा बलिसे मिले। दैत्यराज दर्शन

करके कृतार्थ हो गया। उसने स्वागत, प्रणाम, स्तुति, पूजन किया और चरण धोकर चरणोदकको परिवारसहित अपने मस्तकपर छिड़का। तदनन्तर भगवान्‌ने कहा कि मरीचि मुनिके स्मर, उद्गीथ, परिष्वंग, पतङ्ग, क्षुद्रभृत् और घृणि नामक छः पुत्र, जो शापवश आसुरी योनिको प्राप्त हो गये थे, फिर योगमायाके द्वारा देवकीके गर्भसे उत्पन्न होकर कंसके द्वारा मार डाले गये थे. उन्हें माता देवकी पुत्रस्नेहके कारण एक बार देखना चाहती है। वे तुम्हारे लोकमें हैं, अतएव उन्हें मेरे साथ भेज दो, वे मेरी कृपासे शापसे मुक्त होकर मोक्षको प्राप्त होंगे। बलिने उन्हों ऋषिकुमारोंको बुला दिया। श्रीकृष्ण-बलराम उन्हें लेकर माताके पास पहुँचे। पुत्रोंको देखते ही माताके स्तनोंसे दूधकी धारा बह चली। माताने प्रेमपूर्वक उन्हें स्तनपान कराया। श्रीकृष्ण भगवान्‌के पीनेसे बचा हुआ अमृतमय दूध पीने तथा श्रीकृष्णके अङ्गस्पर्श होनेके कारण बालकोंके शुद्ध अन्तःकरणमें ज्ञानकी उत्पत्ति हो गयी और तदनन्तर वे सब देखते-ही-देखते गोविन्द, बलदेव, देवकी और वसुदेवजीको प्रणाम करके आकाशमार्गसे देवलोकको सिधार गये।

तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम्।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप॥
(श्रीमद्भा० १०। ८५। ५७)

'देवी देवकीको मरे पुत्रोंका आना-जाना देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उन्होंने जान लिया कि यह सब श्रीकृष्णकी माया है।'

मिथिलामें विविध रूप

एक बार भगवान् श्रीकृष्ण नारद, व्यास, वामदेव, अत्रि आदि बहुत-से मुनियोंके साथ मिथिला-नगरी पहुँचे। वहाँके राजा बहुलाश्व

भगवान्‌के बड़े भक्त थे। मिथिला नगरीमें ही श्रुतदेव नामक एक शान्त, दक्ष, ज्ञानी, संतोषी ब्राह्मण रहते थे। वे भी भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णको मिथिलामें आया देखकर मिथिलानरेश बहुलाश्व और दीन ब्राह्मण श्रुतदेव दोनोंने एक ही साथ भगवान्‌को प्रणामकर उनसे आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये प्रार्थना की। भगवान्‌के दोनों ही समान भक्त थे, इसलिये भगवान्‌ने दोनोंका आतिथ्य स्वीकार किया। दोनोंकी प्रसन्नताके लिये आप मुनियोंसहित दो-दो रूप धरकर दोनोंके यहाँ गये। परंतु राजा बहुलाश्वने समझा कि भगवान् हमारे यहाँ पधारे हैं और ब्राह्मण श्रुतदेवको प्रतीत हुआ कि भगवान् हमारे ही यहाँ आये हैं। इस प्रकार एक ही साथ अनेक रूप धारणकर दोनों भक्तोंको सुख दिया।

हरेक महलमें श्रीकृष्ण

श्रीनारदजीने सोचा कि भगवान्‌के सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ हैं, वे अकेले सबके महलोंमें कब, कैसे जाते होंगे? इसी कौतुकको देखनेके लिये नारदजी द्वारका आये और सीधे श्रीरुक्मिणी-जीके महलमें चले गये। नारदजीने वहाँ श्रीभगवान्‌को बैठे तथा श्री-रुक्मिणीजीको उनकी सेवा करते देखा। नारदजीको देखते ही धार्मिक-श्रेष्ठ भगवान्‌ने सहसा उठकर मुनिका स्वागत किया। मुनिने स्तुति करके दूसरे महलमें जानेका विचार किया। वे दूसरे महलमें गये। वहाँ भगवान्‌को उद्धवके साथ खेलते देखा। वहाँसे तीसरेमें गये। यों प्रत्येक महलमें नारद घूमे, किंतु भगवान्‌को सभी जगह पाया। नारदजीने देखा कि कहीं भगवान् पूजन कर रहे हैं, कहीं स्नान

करने जा रहे हैं,कहीं बच्चोंको खिला रहे हैं, कहीं शस्त्र चला रहे हैं, कहीं घोड़े या हाथीपर सवार होकर बाहर जानेको तैयार हैं, कहीं सो रहे हैं, कहीं मन्त्रियोंसे गुप्त परामर्श कर रहे हैं, कहीं ब्राह्मणको दान दे रहे हैं, कहीं इतिहास-पुराणादि सुन रहे हैं। सारांश यह कि भगवान् सब महलोंमें मौजूद हैं। योगेश्वर भगवान्‌की इस लीलाको देखकर नारदजी मुग्ध हो गये।

परमधाम-प्रयाण

भगवान् परमधाम पधारनेकी इच्छासे वनमें एक वृक्षके नीचे शान्तभावसे बैठे थे। इस समयकी आपकी शोभा अनिर्वचनीय थी। व्याधके बाणको निमित्त बनाना शेष था, आप उसीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इतनेहीमें व्याधने दूरसे भगवान्‌के मृगाकार-चरणको मृग समझकर बाण मारा, परंतु समीप आकर भगवान्‌को देखते ही वह भयके मारे भगवान्‌के चरणोंपर गिरकर कहने लगा—'मधुसूदन! मैं महापातकी हूँ, मुझसे अनजानमें यह अपराध हो गया है। प्रभो! क्षमा कीजिये।' भगवान्‌ने हँसते हुए कहा—'भाई उठ, तू डर मत, इसमें तेरा कोई अपराध नहीं है। मेरी इच्छासे यह कारण बना है। तू दिव्य स्वर्गलोकको जा।' भगवान्‌के इतना कहते ही दिव्य विमान आ गया और वह भगवान्‌को प्रणाम-प्रदक्षिणाकर विमानपर सवार होकर स्वर्गको चला गया। तदनन्तर भगवान्‌का गरुड़-चिह्नवाला रथ घोड़े तथा ध्वजा आदि सामग्रीसहित आकाशमें उड़कर अदृश्य हो गया। भगवान्‌ने अपने सारथि दारुकको मोक्ष पानेका वरदान देकर वहाँसे द्वारका भेज दिया। तदनन्तर ब्रह्माजी, पार्वतीसहित श्रीशङ्कर, इन्द्रादि देवता, मुनि, प्रजापति,

पितृ, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, महानाग, चारण, यक्ष, किन्नर, द्विज, अप्सरा आदि सभी भगवान्‌की इस लीलाको देखनेके लिये आकाश-पर छा गये। अगणित विमानोंसे आकाश भर गया और सब लोग भगवान्‌का गुणगान करते हुए पुष्पवृष्टि करने लगे।

भगवान्‌ने दिव्य देवोंकी ओर देखकर आँखें बंद कर लीं और त्रिभुवनमोहन दिव्य-विग्रह शरीरसहित परमधामको पधार गये। श्रीहरिके साथ ही सत्य, धर्म, धृति, कीर्ति और लक्ष्मी भी पृथ्वीको छोड़कर चली गयीं। विमानोंपर बैठे हुए ब्रह्मा, शिव आदि देवताओंने परमधाममें पधारते हुए भगवान्‌को देखा।

इस प्रकार अवतरणसे लेकर परमधाम-गमनतक भगवान् श्री-कृष्णचन्द्रने अनन्त अद्भुत लीलाएँ की हैं। यहाँ उनमेंसे बहुत थोड़ी-सी लीलाओंका अति संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

बालकपनमें ही पूतना, तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, अरिष्टासुर आदिको मारना; शकट-भञ्जन, कालियनाग नाथना, मल्लों और कंसको निधन करना; भौमासुर, रुक्मी, शिशुपाल, शाल्व आदिको मारना; सुदामाको एक ही रातमें परम ऐश्वर्यवान् बना देना, अल्पकालमें ही विलक्षण द्वारका-पुरीको बसाना, द्रौपदीका चीर बढ़ाना, अर्जुनकी प्रतिज्ञापर मरे हुए ब्राह्मण-पुत्रोंका लौटाकर लाना, जयद्रथ-वधके समय सूर्यको अकालमें ही छिपाना, उत्तराके मरे हुए पुत्र परीक्षित्‌को जीवित कर देना, जलते हुए अर्जुनके रथको धारण किये रहना आदि अनेकों अद्भुत लीलाएँ हैं। जिन महानुभावोंको भगवान्‌की लीलाओंका आनन्द लेना

और प्रत्यक्ष देखना हो, वे मन लगाकर श्रद्धाके साथ महाभारत, श्रीमद्भागवत, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त आदि ग्रन्थरत्नोंका अध्ययन करें और भगवान्‌के भजनसे अन्तःकरणको शुद्ध करके उनके परम अनन्य प्रेमको प्राप्त करें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत॥

(श्रीमद्भा० १०। ८५। ५८)

'राजन्! अनन्तवीर्य परमात्मा श्रीकृष्णकी इस प्रकार अनन्त अद्भुत लीलाएँ हैं।'

सूतजी महाराजने कहा है—

य इदमनुशृणोति श्रावयेद् वा मुरारे-
श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः।
जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं
भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम॥

(श्रीमद्भा० १०। ८५। ५९)

'शौनकजी! महात्मा श्रीव्यास-पुत्र शुकदेवजीके द्वारा वर्णन किये हुए जगत्‌के समस्त पापोंको नाश करनेवाले, भगवद्भक्तोंके परम सुखदायी कर्णालंकार-सदृश सुधासम्पन्न भगवान्‌के इन अद्भुत चरित्रोंको मन लगाकर सुनने-सुनानेवालोंका चित्त दृढरूपसे भगवान्‌में लग जाता है, जिससे वे भगवान्‌के कल्याणमय परम धामको प्राप्त होते हैं।'

नारदकृत राधास्तवन

एक समय नारदजी यह जानकर कि 'भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें प्रकट हुए हैं' वीणा बजाते हुए गोकुल पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने नन्दजीके गृहमें बालकका स्वाँग बनाये हुए महायोगीश्वर दिव्य-दर्शन भगवान् अच्युतके दर्शन किये। वे स्वर्णके पलंगपर, जिसपर कोमल श्वेत वस्त्र बिछे थे, सो रहे थे और प्रसन्नताके साथ प्रेमविह्वल हुई गोप-बालिकाएँ उन्हें निहार रही थीं। उनका शरीर सुकुमार था; जैसे वे स्वयं भोले थे, वैसी ही उनकी चितवन भी बड़ी भोली-भाली थी। काली-काली घुँघराली अलकें भूमिको छू रही थीं। वे बीच-बीचमें थोड़ा-सा हँस देते थे, जिससे दो-एक दाँत झलक पड़ते थे। उनकी छबिसे गृहका मध्य भाग सब ओरसे उद्भासित हो रहा था। उन्हें नग्न बालरूपमें देखकर नारदजीको बहुत ही हर्ष हुआ।

उन्होंने नन्दजीसे कहा—'तुम्हारे पुत्रके अतुलनीय प्रभावको, जो नारायणके भक्तोंका परम दुर्लभ जीवन है, इस जगत्में कोई नहीं जानता। शिव, ब्रह्मा आदि देवता भी इस विचित्र बालकमें निरन्तर अनुराग रखना चाहते हैं। इसका चरित्र सभीके लिये आनन्ददायी है। अचिन्त्य प्रभावशाली तुम्हारे शिशुमें स्नेह रखते हुए जो लोग इसके पुण्य चरित्रका सहर्ष गान, श्रवण तथा अभिनन्दन करेंगे, उन्हें कभी भव-बाधा न होगी। गोपवर! तुम परलोककी इच्छा छोड़ दो और अनन्यभावसे इस दिव्य बालकमें अहैतुक प्रेम करो।'

यह कहकर मुनिवर नारदजी नन्दभवनसे निकले। नन्दने भी विष्णु-बुद्धिसे मुनिको प्रणाम करके उन्हें विदा दी। इसके बाद महाभागवत

नारदजी यह विचारने लगे—'भगवान्‌की कान्ति लक्ष्मीदेवी भी अपने पति नारायणके अवतीर्ण होनेपर उनके विहारार्थ गोपीरूप धारण करके यहीं अवश्य ही अवतीर्ण हुई होंगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। अतः व्रजवासियोंके घरोंमें उन्हें खोजना चाहिये।'

ऐसा विचारकर मुनिश्वर व्रजवासियोंके घरोंपर अतिथिरूपमें जा-जाकर उनके द्वारा विष्णु-बुद्धिसे पूजित होने लगे। उन्होंने भी गोपोंका नन्दनन्दनमें उत्कृष्ट प्रेम देखकर मन-ही-मन सबको प्रणाम किया।

तदनन्तर वे नन्दके मित्र महात्मा भानुके घरपर गये। उन्होंने इनकी विधिवत् पूजा की, तब महामना नारदजीने उनसे पूछा—'साधो! तुम अपनी धार्मिकताके कारण विख्यात हो। क्या तुम्हें कोई सुयोग्य पुत्र अथवा सुलक्षणा कन्या है, जिससे तुम्हारी कीर्ति समस्त लोकोंको व्याप्त कर सके?'

मुनिवरके ऐसा कहनेपर भानुने पहले तो अपने महान् तेजस्वी पुत्रको लाकर उससे नारदजीको प्रणाम कराया। तदनन्तर अपनी कन्याको दिखलानेके लिये नारदजीको घरके अंदर ले गये। गृहमें प्रवेशकर उन्होंने पृथ्वीपर लोटती हुई नन्ही-सी दिव्य बालिकाको गोदमें उठा लिया। उस समय उनका चित्त स्नेहसे विह्वल हो रहा था।

कन्याके अदृष्ट तथा अश्रुतपूर्व अद्भुत स्वरूपको देखकर श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय भक्त नारदजी मुग्ध हो गये। वे एकमात्र रसके आधार परमानन्दमय समुद्रमें गोते लगाते हुए दो मुहूर्ततक पत्थरकी भाँति निश्चेष्ट बने रहे, फिर उन्होंने आँखें खोलीं और महान् आश्चर्यमें पड़कर वे मूकभावसे ही बैठे रहे।

अन्ततोगत्वा महाबुद्धिमान् मुनिने मनमें इस प्रकार विचारा—'मैंने स्वच्छन्दाचारी होकर समस्त लोकोंमें भ्रमण किया, परंतु इसके समान अलौकिक सौन्दर्यमयी कन्या कहीं भी नहीं देखी। ब्रह्मलोक, रुद्रलोक और इन्द्रलोकमें भी मेरी गति है, किंतु इस कोटिकी शोभाका एक अंश भी मुझे कहीं नहीं दीखा। जिसके रूपसे चराचर जगत् मोहित हो जाता है, उस महामाया भगवती गिरिराज-कुमारीको भी मैंने देखा है। वह भी इसकी शोभाको नहीं पा सकती। लक्ष्मी, सरस्वती, कान्ति और विद्या आदि देवियाँ इसकी छायाका भी स्पर्श कर सकती हों—ऐसा भी नहीं देखा जाता। अतः इसके तत्त्वको जाननेकी शक्ति मुझमें किसी तरह नहीं है। अन्य जन भी प्रायः इस हरिवल्लभीको नहीं जानते। इसके दर्शनमात्रसे गोविन्दके चरणकमलोंमें मेरे प्रेमकी जैसी वृद्धि हुई है, वैसी इसके पहले कभी नहीं हुई थी। अस्तु, अनन्त वैभव दिखानेवाली इस देवीकी मैं एकान्तमें वन्दना करूँ। इसका रूप भगवान् श्रीकृष्णके लिये परमानन्दजनक होगा।'

ऐसा विचारकर मुनिने गोपप्रवर भानुको कहीं अन्यत्र भेज दिया और एकान्तस्थानमें उस दिव्य रूपिणी बालाकी स्तुति करने लगे—

'देवि! अनन्तकान्तिमयी महायोगेश्वरि! तुम्हारा अङ्ग मोहन एवं दिव्य है, उससे अनन्त मधुरिमाकी वर्षा होती रहती है। तुम्हारा हृदय महान् अद्भुत रसानन्दसे पूर्ण रहता है। तुम मेरे किसी महान् सौभाग्यसे आज नेत्रोंकी अतिथि बनी हो। देवि! तुम्हारी दृष्टि अन्तःकरणमें निरन्तर सुखदायिनी प्रतीत होती है, तुम अपने अंदर महान् आनन्दसे तृप्त-सी दीख पड़ती हो। तुम्हारा यह प्रसन्न, मधुर तथा सौम्य मुखमण्डल हृदयको सुख देनेवाले किसी महान्

आश्चर्यको व्यक्त कर रहा है । अत्यन्त शोभामयि ! तुम रजोगुणकी कलिका और शक्तिरूपा हो । सृष्टि-पालन और संहाररूपमें तुम्हारी ही स्थिति है । तुम विशुद्ध सत्त्वमयी और विद्यारूपिणी पराशक्ति हो तथा परमानन्द-सन्दोहमय वैष्णव-धामको धारण करती हो । ब्रह्मा और रुद्रके लिये भी तुम्हारा जानना कठिन है । तुम्हारा वैभव आश्चर्यमय है । तुम योगीश्वरोंके भी ध्यान-पथका कभी स्पर्श नहीं कर सकती । मेरी बुद्धिमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति ये सब तुम्हारी अंशमात्र हैं ।

'मायासे ही विशुद्ध रूप धारण करनेवाले परमेश्वर महाविष्णुकी जो अचिन्त्य विभूतियाँ हैं, वे सभी तुम्हारी अंशांशमात्र हैं । ईश्वरि ! तुम निस्सन्देह आनन्दमयी शक्ति हो, अवश्य ही वृन्दावनमें तुम्हारे साथ श्रीकृष्णचन्द्र क्रीड़ा करते हैं । कुमारावस्थामें ही तुम अपने सुन्दर रूपसे विश्वको मुग्ध कर रही हो । न जाने यौवनका स्पर्श होनेपर तुम्हारा रूप, लावण्य तथा हास-विलासयुक्त नि[illegible] कैसा अद्भुत होगा ! हरिवल्लभे ! तुम्हारे उस पूजनीय स्वरूपको मैं देखना चाहता हूँ, जिससे नन्दनन्दन श्रीकृष्ण मु[illegible] जायँगे । महेश्वरि ! माता ! मुझ शरणागत तथा प्रणत भ[illegible] लिये दया करके तुम अपना स्वरूप प्रकट कर दो ।'

यों निवेदन करके नारदजीने तदर्पित चित्तसे उस महानन्द परमेश्वरीको नमस्कार किया और भगवान् गोविन्दकी स्तुति करते हुए देवीकी ओर ही देखते रहे । जिस समय वे श्रीकृष्णका [illegible] [illegible]र्तन कर रहे थे, उसी समय भानु-सुताने चतुर्दशवर्षीय, परम [illegible]

अत्यन्त मनोहर दिव्यरूप धारण कर लिया। तत्काल ही अन्य व्रज-बालाओंने जो उसीकी समान अवस्थाकी थीं, दिव्य भूषण तथा सुन्दर हार धारण किये हुए थीं, बालाको चारों ओरसे आवृत कर लिया। उस समय बालिकाकी सखियाँ उसके चरणोदककी बूँदोंसे मुनिको सींचकर कृपापूर्वक बोलीं—

'महाभाग मुनिवर! वस्तुतः आपने ही भक्तिके साथ भगवान्‌की आराधना की है; क्योंकि ब्रह्मा, रुद्र आदि देवता, सिद्ध मुनीश्वर तथा अन्य भगवद्भक्तोंके लिये जिसका दर्शन मिलना कठिन है उसी अद्भुत वयोरूपसम्पन्ना विश्वमोहिनी हरिप्रियाने किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश आज आपके दृष्टिपथपर पदार्पण किया है! ब्रह्मर्षे! उठो, उठो, शीघ्र ही धैर्य धारणकर इसकी परिक्रमा तथा बार-बार नमस्कार करो। क्या तुम नहीं देखते कि इसी क्षणमें यह अन्तर्धान हो जायगी, फिर इसके साथ किसी तरह तुम्हारा सम्भाषण नहीं हो सकेगा।'

उन प्रेमविह्वला सखियोंके वचन सुनकर नारदजीने दो मुहूर्त-तक उस सुन्दरी बालाकी प्रदक्षिणा करके साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उसके बाद भानुको बुलाकर कहा—'तुम्हारी पुत्रीका प्रभाव बहुत बड़ा है। देवता भी इसका महत्त्व नहीं जान सकते। जिस घरमें इसका चरण-चिह्न है, वहाँ साक्षात् भगवान् नारायण निवास करते हैं और समस्त सिद्धियोंसहित लक्ष्मी भी वहाँ रहती हैं। आजसे सम्पूर्ण आभूषणोंसे भूषित इस सुन्दरी कन्याकी महादेवीके समान यत्नपूर्वक घरमें रक्षा करो।' ऐसा कहकर नारदजी हरि-गुण गाते हुए चले गये।

श्रीराधिकाजीका उद्धवको उपदेश

गोपियोंके अतुल प्रेमप्रवाहमें ज्ञानशिरोमणि उद्धवका सम्पूर्ण ज्ञानाभिमान बह गया। विवेक, वैराग्य, विचार, धर्म, नीति, योग, जप और ध्यान आदि सम्पूर्ण संबलके सहित उनकी ज्ञाननौका गोपियोंके अगाध प्रेम-समुद्रमें डूब गयी। उद्धव गोपियोंका मोह दूर करने आये थे, किंतु वे स्वयं ही उनके दिव्य मोहमें मग्न हो गये। वे उन्हें सान्त्वना देनेके लिये आये थे, किंतु उनको उन्हींकी शरण लेनी पड़ी। वे आये थे गुरु बनकर उन्हें उपदेश देनेके लिये, किंतु बन गये उनके शिष्य।

आज गोपियोंके सुमधुर प्रेम-पीयूषका रसास्वादन कर उद्धव श्रीमाधवके पास मधुपुरी जानेकी तैयारी कर रहे हैं । प्यारे कृष्णके स्नेहपूर्ण सहवासकी स्मृति उन्हे अवश्य उस ओर खींच रही थी, किंतु इधर परिकरसहित श्रीरासेश्वरीजीकी सहृदयताने भी उनके हृदयको बाँध लिया था । इस दुविधामें उन्हें कई दिन हो गये। अन्तमें उन्हें घर लौटना ही था; अतः आज उन्होंने मथुरा चलनेकी तैयारी कर ही ली । उद्धवको मथुरा जानेके लिये उद्यत देखकर हरि-प्रिया श्रीराधिकाजी खिन्नचित्त होकर आसनसे उठीं और गोपियोंके सहित उन्होंने उद्धवके सिरपर हाथ रखकर उन्हे शुभ-आशीर्वाद दिया तथा हरी-हरी दूब, अक्षत, श्वेत धान्य और मङ्गलमय पुष्प उनके मस्तकपर छोड़े । तदनन्तर उन्होंने खील, फल, पत्र, दधि, दूर्वा तथा पत्तोंकी डाल, फल, गन्ध, सिन्दूर, कस्तूरी और चन्दनके सहित जलका कलश मँगाया एवं पुष्प, माला, दीपक, रक्तचन्दन, पति-पुत्रवती साध्वी स्त्री, सुवर्ण और रजत आदि मँगाकर उन्हें उनके दर्शन कराये । इस प्रकार मङ्गलोपचारके अनन्तर महासाध्वी श्रीराधिकाजी अपने वक्षः-स्थलपर गिरते हुए शोकाश्रुओंको छिपाकर हित और मङ्गलमय सत्य वचन बोलीं ।

वे कहने लगीं—उद्धव ! तुम्हारी यात्रा सुखमय हो, तुम्हारा सदा कल्याण हो, तुम प्यारे कृष्णके प्रिय सखा हो, उनसे तुम्हें ज्ञान प्राप्त हो । संसारके सम्पूर्ण वरदानोंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी दास्यरति ही सर्वश्रेष्ठ वर है । सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और कैवल्य इन पाँचों प्रकारकी मुक्तियोंसे भी हरिभक्ति ही श्रेष्ठ है । ब्रह्मत्व,

देवत्व, इन्द्रत्व, अमरत्व, अमृतलाभ तथा सिद्धिलाभसे भी हरिभक्ति अति दुर्लभ है। यदि कोई पुरुष अपने पूर्वजन्मोंके अनन्त पुण्य-पुञ्जोंसे भारतवर्षमें जन्म पाकर हरिभक्ति लाभ करता है तो फिर उसका जन्म होना अत्यन्त कठिन है अर्थात् वह अवश्य मुक्त हो जाता है। उसका जन्म सफल है। वह अवश्य ही अपने माता-पिता, उनके पूर्वजों, अपने बन्धु-बान्धवों तथा स्त्री, गुरु, शिष्य और सेवकों-के भी सहस्रों कर्म-कलापोंका क्षय कर देता है। वत्स! जो कर्म कृष्णार्पण कर दिया जाता है अथवा जिससे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रसन्नता बढ़ती है, वही सर्वोत्तम है। प्रीति और विधिपूर्वक संकल्प करके जो कर्म किया जाता है, वह परम मङ्गलमय और धन्य है। उससे परिणाममें अनन्त सुख मिलता है। श्रीकृष्णके लिये व्रत और तपस्या करना, भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना तथा उनके उद्देश्यसे उपवास करना—ये सब उनकी दास्यरतिके बढ़ानेवाले हैं। इस दास्यरति-की महिमा कहाँतक कही जाय?

समस्तपृथिवीदानं प्रादक्षिण्यं भुवस्तथा।
समस्ततीर्थस्नानं च समस्तं च व्रतं तपः॥
समस्तयज्ञकरणं सर्वदानफलं तथा।
समस्तवेदवेदाङ्गपठनं पाठनं तथा॥
भीतस्य रक्षणं चैव ज्ञानदानं सुदुर्लभम्।
अतिथीनां पूजनं च शरणागतरक्षणम्॥
सर्वदेवार्चनं चैव वन्दनं जपनं मनोः।
भोजनं विप्रदेवानां पुरश्चरणपूर्वकम्॥

गुरुशुश्रूषणं चैव पित्रोर्भक्तिश्च पोषणम् ।
सर्वं श्रीकृष्णदासस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥
(ब्र० वै० पुराण ४ । ९७ । १९-२०)

सम्पूर्ण पृथिवीका दान, त्रिभुवनकी परिक्रमा, समस्त तीर्थोंका स्नान, समस्त व्रत और तप, सम्पूर्ण यज्ञ-यागादि, सर्वस्व दानका फल, समस्त वेद-वेदाङ्गोंका पढ़ना और पढ़ाना, भयभीतकी रक्षा करना, अत्यन्त दुर्लभ तत्त्वज्ञानका उपदेश करना, अतिथियोंका सत्कार करना, शरणागतोंकी रक्षा करना, समस्त देवताओंका पूजन और वन्दन करना, मन्त्र-जाप करना, पुरश्चरण आदिके सहित ब्राह्मणोंको भोजन कराना तथा भक्तिपूर्वक माता-पिताका पोषण करना—ये समस्त शुभ कर्म श्रीकृष्णचन्द्रकी दास्यरतिकी सोलहवीं कलाके समान भी नहीं है ।

तस्मादुद्धव यत्नेन भज कृष्णं परात्परम् ।
निर्गुणं च निरीहं च परमात्मानमीश्वरम् ॥
नित्यं सत्यं परं ब्रह्म प्रकृतेः परमीश्वरम् ।
परिपूर्णतमं शुद्धं भक्तानुग्रहविग्रहम् ॥
कर्मिणां कर्मणां साक्ष्यप्रदं निर्लिप्तमेव च ।
ज्योतिःस्वरूपं परमं कारणानां च कारणम् ॥
सर्वस्वरूपं सर्वेशं सर्वसम्पत्प्रदं शुभम् ।
भक्तिदं दास्यदं स्वस्य निजसम्पत्प्रदप्रदम् ॥
विसृज्य ज्ञातिबुद्धिं च मात्सर्यमशुभप्रदम् ।
भज तं परमानन्दं सानन्दं नन्दनन्दनम् ॥
(ब्र० वै० पुराण ४ । ९७ । २१-२५)

इसलिये उद्धव! तुम प्रयत्नपूर्वक श्रीकृष्णका भजन करो। वे श्रीकृष्णचन्द्र प्रकृतिसे परे, निर्गुण, निरीह, परमात्मा, ईश्वर, नित्य, सत्य, परब्रह्म और प्रकृतिसे अतीत, प्रकृतिके स्वामी हैं। वे सर्वत्र परिपूर्ण, शुद्धस्वरूप, भक्तोंके लिये मूर्तिमान् अनुग्रहरूप, कर्मियोंके कर्म-कलापके साक्षी होकर भी उनसे अलिप्त, ज्योतिःस्वरूप तथा सम्पूर्ण कारणोंके परम कारण हैं। सम्पूर्ण विश्व उन्हींका स्वरूप है। वे सबके स्वामी, सम्पूर्ण शुभ सम्पत्तियोंके देनेवाले तथा भक्ति और दास्यरूप अपनी निज सम्पत्तिके देनेवाले हैं। अतः उद्धव! पापमय मात्सर्य-जनक जाति-बुद्धिको छोड़कर अर्थात् इस बातको भुलाकर कि कृष्ण मेरे जाति-बन्धु हैं, तुम उन परमानन्दस्वरूप श्रीनन्दनन्दनका आनन्दपूर्वक भजन करो।

यह परम दिव्य संदेश सुनकर उद्धवको बड़ा विस्मय हुआ और वे तत्त्वज्ञान पाकर तृप्त हो गया। गलेमें अंचल डालकर उन्होंने अपने केशपाशोंसे श्रीराधिकाजीके चरणोंको पुनः-पुनः स्पर्श कर हुए प्रणाम किया। भक्तिवश उनके नेत्रोंमें जल भर आया और सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो गया तथा श्रीराधिकाजीसे बिछुड़नेकी व्यथासे फूट-फूटकर रोने लगे। श्रीराधिका तथा अन्यान्य गोपियाँ भी प्रेमवश उद्धवके गले लगकर रोने लगीं। इस प्रकार वहाँ प्रेमका अपूर्व प्रवाह उमड़ा, जिसमें कि वह सम्पूर्ण समाज डूब गया।

श्रीराधाजीके प्रति भगवान् श्रीकृष्णका तत्त्वोपदेश

श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणमें कृष्ण-जन्मखण्डके १२६ अध्यायमें कहा है कि एक बार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र द्वारकासे वृन्दावन पधारे। उस समय उनकी वियोग-व्यथासे संतप्त गोपियोंकी विचित्र दशा हो गयी। प्रिय-संयोगजन्य स्नेहसागरकी उत्ताल तरंगोंमें उनके मन और प्राण डूब गये। गोपीश्वरी श्रीराधिकाजीकी तो बड़ी ही अपूर्व दशा थी। उनकी चेतना-शून्य दशासे गोपियोंने समझा कि हाय! क्या नाथके संयोगने ही हमें अनाथ कर दिया। वे चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगीं—

किं कृतं किं कृतं कृष्ण! त्वया राधा मृता च नः।
राधां जीवय भद्रं ते यास्यामः काननं वयम्॥
अन्यथा स्त्रीवधं तुभ्यं दास्यामः सर्वयोषितः॥

(७८-७९)

'श्रीकृष्ण! तुमने यह क्या किया? यह क्या किया? हाय! तुमने हमारी राधिकाको मार डाला! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम शीघ्र ही हमारी राधाको जीवित कर दो, हम उनके साथ वनको जाना चाहती हैं। यदि तुमने ऐसा न किया तो हम सभी तुम्हें स्त्री-वधका पाप देंगी।' क्या खूब! श्रीराधा क्या श्रीकृष्णकी नहीं थी जो उनके लिये इतने कड़े दण्डकी व्यवस्था की गयी। परंतु प्रेमरसोन्मत्त गोपियोंको यह बात भुला दी थी। उनकी ऐसी आतुरता देखकर भगवान्ने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे राधामें जीवनका संचार कर दिया। मानिनी राधा रोती-रोती उठ बैठी। गोपियोंने उसे गोदमें लेकर बहुत कुछ समझाया-बुझाया, परंतु उसका कलेजा न थमा। अन्तमें श्रीकृष्ण-चन्द्रने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा—

'राधे ! मैं तुमसे परमश्रेष्ठ आध्यात्मिक ज्ञानका वर्णन करता हूँ, जिसके श्रवणमात्रसे हल जोतनेवाला मूर्ख मनुष्य भी पण्डित हो जाता है। तुम अपनी ही स्वरूपभूता रुक्मिणी आदि महिषियोंका पति होनेसे ही क्यों दु:ख करती हो ? मैं तो स्वभावसे ही सभीका स्वामी हूँ। राधे ! कार्य और कारणके रूपसे मैं ही अलग-अलग प्रकाशित हो रहा हूँ। मैं सभीका एकमात्र आत्मा हूँ और अपने स्वरूपमें प्रकाशमय हूँ। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें मैं ही व्यक्त हो रहा हूँ। मैं स्वभावसे ही परिपूर्णतम श्रीकृष्णस्वरूप हूँ। दिव्यधाम, गोलोक, सुरम्य क्षेत्र गोकुल और वृन्दावनमें मेरा निवास है। मैं स्वयं ही द्विभुज गोप-वेषसे राधा-पति बालकके रूपमें गोप-गोपी और गौओंके सहित वृन्दावनमें रहता हूँ। वैकुण्ठमें मेरा परम शान्त सनातन चतुर्भुज रूप है, वहाँ मैं लक्ष्मी और सरस्वतीका पति होकर दो रूपोंमें रहता हूँ। पृथ्वीमें समुद्रकी जो मानसी कन्या मर्त्यलक्ष्मी है, उसके साथ मैं श्वेतद्वीपमें क्षीरसमुद्रके भीतर चतुर्भुजरूपसे ही रहता हूँ। मैं ही धर्मस्वरूप, धर्मवक्ता, धर्मनिष्ठ, धर्ममार्गप्रवर्तक, ऋषिवर नर और नारायण हूँ। पुण्यक्षेत्र भारतमें धर्म-परायणा पतिव्रता शान्ति और लक्ष्मी मेरी स्त्रियाँ हैं, मैं उनका पति हूँ तथा मैं ही सिद्धिदायक सिद्धेश्वर सतीपति मुनिवर कपिल हूँ। सुन्दरि ! इस प्रकार मैं नाना रूपोंसे विविध व्यक्तियोंके रूपमें विराजमान हूँ। द्वारिकामें मैं चतुर्भुजरूपसे सर्वदा श्रीरुक्मिणीजीका पति हूँ और सत्यभामाके शुभ गृहमें क्षीरोद-शायी भगवान्‌के रूपसे रहता हूँ। इसी प्रकार अन्यान्य महिषियोंके महलोंमें भी मैं पृथक्-पृथक् शरीर धारणकर रहता हूँ। मैं ही अर्जुन-के सारथि-रूपसे ऋषिवर नारायण हूँ। मेरा अंश धर्म-पुत्र नर-ऋषि ही महाबलवान् अर्जुनके रूपमें प्रकट हुआ है। इसने सारथी होनेके लिये

पुष्कर क्षेत्रमें मेरी तपस्या की थी। और राधे! तुम भी जिस प्रकार गोलोक और गोकुलमें राधारूपसे रहती हो, इसी प्रकार वैकुण्ठमें महालक्ष्मी और सरस्वती होकर विराजमान हो। तुम ही क्षीरसागर-शायी भगवान् विष्णुकी प्रिया मर्त्यलक्ष्मी हो और तुम ही धर्म-पुत्र नरकी कान्ता लक्ष्मीस्वरूपा शान्ति हो तथा तुम ही भारतमे कपिलदेव-की प्रिया सती भारती हो। तुम ही मिथिलामें सीताके रूपसे प्रकट हुई थी और तुम्हारी ही छाया सती द्रौपदी है। तुम ही द्वारकामें महा-लक्ष्मी रुक्मिणी हो और तुम ही अपने कलारूपसे पाँचों पाण्डवोंकी प्रिया द्रौपदी हुई हो तथा तुम्हींको रामकी प्रिया सीताके रूपसे रावण हर ले गया था। अधिक क्या कहूँ—

> नानारूपा यथा त्वं च छायया कलया सति।
> नानारूपस्तथाहं च स्वांशेन कलया तथा॥
> परिपूर्णतमोऽहं च परमात्मा परात्परः।
> (१०० । १०१)

'जिस प्रकार अपनी छाया और कलाओंके द्वारा तुम नानारूपों-से प्रकट हुई हो, उसी प्रकार अपने अंश और कलाओंसे मैं भी विविध रूपोंमें प्रकट हुआ हूँ। वास्तवमें तो मैं प्रकृतिसे परे सर्वत्र परिपूर्ण साक्षात् परमात्मा हूँ। सति! मैंने तुमको यह सम्पूर्ण आध्यात्मिक रहस्य सुना दिया। परमेश्वरि राधे! तुम मेरे सब अपराध क्षमा करो।'

भगवान्‌के ये गूढ रहस्यमय वचन सुनकर श्रीराधिका और गोपियोंका क्षोभ दूर हो गया, उन्हें अपने वास्तविक स्वरूपका भान हो गया और उन्होंने चित्तमें प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें प्रणाम किया।

श्रीकृष्ण-लीलाके अन्ध अनुकरणसे हानि

भगवान् श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम हैं और भगवान् श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम। दोनों एक हैं। एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा भिन्न-भिन्न लीलाओंके लिये दो रूपोंमें दो रूपोंमें अवतीर्ण हैं। इनमें बड़े-छोटेकी कल्पना करना अपराध है। श्रीरामरूपमें आपकी प्रत्येक लीला सबके अनुकरण करने योग्य मर्यादारूपमें होती है, रामरूपकी लीलाओंका रहस्य अत्यन्त निगूढ़ होनेपर भी बाह्यरूपसे सबकी समझमें आ सकता है और बिना किसी बाधाके अपने-अपने अधिकारानुसार सभी उसका अनुकरण कर सकते हैं, वह सीधा राज-मार्ग है, परंतु भगवान्‌की

प्रमाद-आलस्य जो कुछ भी करते रहो, कोई आपत्ति नहीं है। मेरी समझसे ये सारी बातें अपनी कमजोरियोंको छिपाने, भगवद्भक्तिके नामपर विषयोंको प्राप्त करने, कपट-प्रेमी बनकर पाप कमाने और भोले नर-नारियोंको ठगकर अपनी बुरी वासनाओंको तृप्त करनेके लिये कही जाती हैं। सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी आत्मस्वरूपिणी जगज्जननी श्रीराधिकाजीका चरण-सेवक बनकर भी क्या कोई कभी चोरी-जारी आदि पापकर्म कर सकता है? भगवान्के सच्चे मनसे लिये हुए एक नामसे ही जब सारे पापोंका समूह भस्म हो जाता है तो भगवान्के चरणसेवकोंमें तो पाप-प्रवृत्ति रह ही कैसे सकती है? वैराग्य और त्याग तो भगवद्भक्तिकी आधार-शिला है। जो अपने मनसे विषयोंका त्याग नहीं करता, भोगोंकी स्पृहा नहीं छोड़ता, वह भगवान्का भक्त ही कैसे बन सकता है? भक्तको तो अपना सर्वस्व लोक-परलोक और मोक्षतक भगवान्के चरणोंपर निछावर कर सर्वथा अकिञ्चन बन जाना पड़ता है। भगवत्प्रेमी भोगी कैसे हो सकता है? अतएव जो भगवत्-प्रेमके नामपर भोगका उपदेश करते हैं, उनसे और उनके उपदेशोंसे सदा सावधान रहना चाहिये। दुःखकी बात है कि श्रीमद्भागवतकी रासपञ्चाध्यायीका भ्रान्त-अनुकरण करने जाकर कामवासनासे स्त्रियोंसे मिलने-जुलनेमें तो कोई आपत्ति नहीं मानी जाती, यहाँ तो भगवान्के लीला-अनुकरणका नाम लिया जाता है, परंतु उस श्रीमद्भागवतके 'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्' आत्मवान्को चाहिये कि वह स्त्रियोंके ही नहीं, स्त्रीसङ्गियोंके सङ्गको भी दूरसे त्याग दे।'—इस उपदेशपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्णप्रेमके एवं माधुर्यरसके मर्मको समझनेवाले तो श्रीचैतन्यमहाप्रभु थे, जो मधुररसके उपासक होकर भी धन और स्त्रीसे सर्वथा दूर रहते थे।

यद्यपि कई कारणोंसे आजकल प्रकटमें प्रायः ऐसी पाप-क्रियाएँ कम होती हैं, परंतु गुप्तरूपसे इन भावोंका प्रचार और प्रसार अब भी कम नहीं है। यह भक्ति और भगवत्प्रेमके विघातक हैं। कवियोंने व्यास-शुकदेवके मर्मको न समझकर अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मनमानी रचना की; तपस्वी, भक्त और मर्मज्ञ पुरुषोंको छोड़कर शेष गुरु, भक्त और उपदेशक कहलानेवाले लोगोंने मनमाना कथन और कार्य किया। शृंगारके गंदे-गंदे गीतोंमें श्रीकृष्ण और श्रीराधाका समावेश किया गया और दुष्ट विषयी पुरुषोंने इन लीलाओंकी आड़ लेकर पापकी परम्परा चला दी; इससे हिंदू-जातिका जो घोर अमङ्गल हुआ है, उसकी कोई सीमा नहीं है। अब भी सब लोगोंको चेतकर भगवान् श्रीकृष्णकी गीताके दिव्य उपदेशके अनुसार अपने जीवनको बनाना चाहिये। भगवान्‌के इन शब्दोंको सर्वथा और सर्वदा याद रखना चाहिये—

> त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
> कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
> (गीता १६। २१)

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके दरवाजे और आत्माको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं, इसलिये इन तीनोंका सर्वथा त्याग कर दो।

भीख

'नारायण ! नारायण !!'

'कौन है ?'

'एक भिखारी'

'ठहरो, लाती हूँ'

इतना कहकर नन्दरानीने बहुमूल्य हीरे-मोतियोंका थार भरा और स्वयं लेकर बाहर आयीं । परंतु वह देखते ही सहम गयीं । देखा गलेमें साँप, जटाजूटमें साँप, साँपका कङ्कण, हाथमें डमरू और सुन्दर गौर-शरीरपर भभूत रमाये एक मस्त योगी खड़ा है । समाधि-के नशेमें उसकी आँखें चढ़ी जा रही हैं । नन्दरानीने समझा कि कोई सिद्ध योगेश्वर है । वह बोली—

'नाथजी ! यह लो भीख, मेरे लालको असीस दो, जिससे उसके सारे अमङ्गल टल जायँ ।'

'मैया ! तेरी यह भीख मुझे नहीं चाहिये । मुझे तो एक बार अपने लालका मुखड़ा दिखला दे । उसे देखते ही मेरे सब अमङ्गल टल जायँगे ।'

'नाथजी ! मेरा साँवरा अभी निरा बचा है, तुम्हारे भेषको देखकर डर जायगा । भीख थोड़ी हो तो और ला दूँ, देखो, मेरे लालका किसी तरह अमङ्गल न हो, उसके सारे कुग्रह टल जायँ ।'

'अरी मैया ! तेरा लाल कालका भी काल है, उसीके डरसे सूर्य, चन्द्र, यमराज सब अपना-अपना कार्य कर रहे हैं । वह किससे डरेगा ? साक्षात् मृत्युदेवता भी उसके नामसे डर जाते हैं । मुझे और कोई भीख नहीं चाहिये माता ! मुझे तो एक बार अपने उस सलोने साँवरेकी हँसीली, छबीली, निराली, मतवाली, काली छबिका दर्शन करा दे । बस, एक बार उसकी झाँकी कर लेने दे ।'

'ना, ना, नाथजी ! मैं अपने लालको बाहर न लाऊँगी । आजकल व्रजमें असुरोंका बड़ा उत्पात है । अभी उस दिन पूतना आयी थी । भगवान्ने रक्षा की । मैं अभी-अभी उसकी माँग सवाँर कर और उसकी आँखोंमें काजल डालकर आयी हूँ, कहीं नजर लग जाय तो फिर तुम्हें कहाँ ढूँढ़ती फिरूँ ?'

शिवजी हँसकर मन-ही-मन यशोदाके भाग्यकी सराहना करने लगे । बोले—'मेरी मैया ! तू धन्य है, जो सर्वाधार त्रिलोकीनाथको अपनी गोदमें खिलाती है, अपने हाथों शृंगारके सागरका शृंगार करती है, तेरे समान बड़भागी कौन होगा ? अरी ! जिसकी भृकुटि-विलाससे सारे विश्वका सृजन और संहार होता है उसको नजर कैसी ?'

'तुम क्या कहते हो, बाबा ! मैं यह सब नहीं समझती । तुम्हारे वेदान्तका हम गँवारी ग्वालिनोंको क्या पता ? भीख लेनी हो तो ले लो, मेरे श्यामसुन्दरको भूख लगी होगी, मैं अब और यहाँ नहीं ठहर सकती ।'

'माँ ! मैं तेरे पैरों पड़ता हूँ, एक बार मुझे उस प्राणधनके दर्शन करा दे, तेरा मङ्गल होगा, नहीं तो, मैं यहीं धरना दिये बैठा रहूँगा, बिना दर्शन किये तो यहाँसे हटूँगा नहीं ।'

यशोदा साधु बाबाके दुःखसे दुखी हुई, उसका कोमल हृदय द्रवित हो गया, भगवान्‌ने मति फेर दी। उसने कहा—

'अच्छा, लाती हूँ, पर अधिक देर न ठहरना भला! देखकर ही चले जाना।'

इतना कहकर वह अंदर गयी और नजरसे बचानेके लिये माथे-पर काजलकी बिंदी लगाकर लालको गोदमें लिये बाहर लौटी। देवदेव शङ्कर त्रिभुवन-मोहिनी बालछविको देखकर मुग्ध हो गये। एकटक देखने लगे। यशोदाने कहा—

'लो, अब जाती हूँ, बहुत देर हो गयी।'

अब, महाराजकी प्रेम-समाधि भङ्ग हुई। वे बोले—

'तनिक ठहर जा मैया! मुझे दो बात तो कर लेने दे।' शिवजी-ने नेत्रोंकी मूक भाषामें ही मोहन प्यारेसे बातें कीं। फिर मुग्ध होकर गाने लगे—

सफल मम ईस जीवन आज।
निरखि अगुन अरूप को गुनपूर्न छबिमय साज॥
सच्चिदानँद अलख, अज, अव्यक्त, अमित अनंत।
प्रगट सो सिसुरूप रस-सौन्दर्य-निधि भगवंत॥
धन्य ब्रजके गोप-गोपी गौ मयूर तृनादि।
सगुन बपु धरि रहत जिनमहँ ब्रह्म अचल अनादि॥
सर्वसक्ति समेत पूर्न प्रभाव सह परमेस।
करत लीला चित्र मधुर सो धारि बालक भेस॥

काली कृष्ण

एक बार परम कौतुकी लीलामय भगवान् शिवजीने पार्वतीजीसे कहा—'देवि ! यदि मुझपर तुम प्रसन्न हो तो तुम पृथ्वीतलपर कहीं पुरुषरूपसे अवतार लो और मैं स्त्रीरूप धारण करूँगा । यहाँ जैसे मैं तुम्हारा प्रियतम स्वामी और तुम मेरी प्राणप्यारी भार्या हो, उसी प्रकार वहाँ तुम मेरे स्वामी तथा मैं तुम्हारी पत्नी बनूँगा । बस, यही मेरा अभीष्ट है । तुम मेरी सभी इच्छाओंको पूर्ण करती हो इसे भी पूर्ण करो ।'

शक्तिमान्‌की इच्छा पूर्ण करनेके लिये शक्ति देवीने स्वीकृति दे दी और कहा—'नवीन मेघके समान कान्तिमयी जो मेरी भद्रकाली नामकी मूर्ति है, वही श्रीकृष्णरूपसे पृथ्वीपर अवतार लेगी; अब आप भी अपने अंशसे स्त्रीरूप धारण कीजिये ।'

यशोदा साधु बाबाके दुःखसे दुखी हुई, उसका योन्द्र द्रवित हो गया, भगवान्‌ने मति फेर दी। उसने कहा—

'अच्छा, लाती हूँ, पर अधिक देर न ठहरना भला! दे ही चले जाना।'

इतना कहकर वह अंदर गयी और नजरसे बचानेके लिये म पर काजलकी बिंदी लगाकर लालको गोदमें लिये बाहर लौटी देवदेव शङ्कर त्रिभुवन-मोहिनी बालछबिको देखकर मुग्ध हो गये एकटक देखने लगे। यशोदाने कहा—

'लो, अब जाती हूँ, बहुत देर हो गयी।'

अब, महाराजकी प्रेम-समाधि भङ्ग हुई। वे बोले—

'तनिक ठहर जा मैया! मुझे दो बात तो कर लेने दे।' शिवजी ने नेत्रोंकी मूक भाषामें ही मोहन प्यारेसे बातें कीं। फिर मुग्ध होकर गाने लगे—

सफल मम हँस जीवन आज।
निरखि अगुन अरूप को गुनपूर्न छबिमय साज॥
सच्चिदानँद अलख, अज, अव्यक्त, अमित अनंत।
प्रगट सो सिसुरूप रस-सौन्दर्य-निधि भगवंत॥
धन्य ब्रजके गोप-गोपी गौ मयूर तृनादि।
सगुन बपु धरि रहत जिनमहँ ब्रह्म अचल अनादि॥
सर्वसक्ति समेत पूर्न प्रभाव सह परमेस।
करत लीला चित्र मधुर सो धारि बालक भेस॥

काली कृष्ण

एक बार परम कौतुकी लीलामय भगवान् शिवजीने पार्वतीजीसे
हा—'देवि ! यदि मुझपर तुम प्रसन्न हो तो तुम पृथ्वीतलपर कहीं
रूपसे अवतार लो और मैं स्त्रीरूप धारण करूँगा। यहाँ जैसे
तुम्हारा प्रियतम स्वामी और तुम मेरी प्राणप्यारी भार्या हो, उसी
कार वहाँ तुम मेरे स्वामी तथा मैं तुम्हारी पत्नी बनूँगा। बस,
ही मेरा अभीष्ट है। तुम मेरी सभी इच्छाओंको पूर्ण करती हो इसे
पूर्ण करो।'

शक्तिमान्‌की इच्छा पूर्ण करनेके लिये शक्ति देवीने स्वीकृति दे
और कहा—'नवीन मेघके समान कान्तिमयी जो मेरी भद्रकाली
मकी मूर्ति है, वही श्रीकृष्णरूपसे पृथ्वीपर अवतार लेगी; अब आप
अपने अंशसे स्त्रीरूप धारण कीजिये।'

शिवजी परम संतुष्ट होकर बोले—'मैं तुम्हारी प्रियकामनासे भूतलपर नौ रूपोंमें प्रकट होऊँगा । शिवे ! मैं स्वयं परम प्रेममयी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके रूपमें अवतीर्ण होऊँगा और तुम्हारी प्राणप्रिया होकर तुम्हारे ही साथ विहार करूँगा । इसके अतिरिक्त मेरी आठ मूर्तियाँ आठ रमणियोंके रूपमें प्रकट होंगी, वे ही मनोहर-नयना श्रीरुक्मिणी और सत्यभामा आदि तुम्हारी आठ पटरानियाँ होंगी । इसके अतिरिक्त जो मेरे ये भैरवगण हैं, वे भी रमणीरूप धारणकर भूमिपर अवतीर्ण होंगे ।'

देवीने कहा—'आपकी इच्छा सफल हो, मैं आपकी इन सभी मूर्तियोंके साथ यथोचित विहार करूँगी । प्रभो ! मेरी जया तथा विजया नामकी जो दोनों सखियाँ हैं, वे पुरुषरूपमें श्रीदामा और सुदामा होंगी । विष्णुभगवान्‌के साथ मेरा पहलेसे निश्चय हो चुका है, वे हलायुध रूपमें बड़े भाई होंगे और सदा मेरे प्रिय कार्योंका साधन करेंगे । उन महाबलीका नाम राम होगा । इस प्रकार मैं तुम्हारा कार्य सिद्धकर अपनी महती कीर्तिकी स्थापना करके पुनः भूतलसे लौट आऊँगी ।'

इसी निश्चयके अनुसार पृथ्वी और ब्रह्माजीकी प्रार्थना श्रीपार्वतीजी श्रीकृष्णरूपमें तथा श्रीशिवजी श्रीराधारूपमें प्रकट हुए ।

यह एक कल्पमें श्रीराधाकृष्णके अवतारका बाहरी रहस्य है । भगवान् और भगवतीके अवतारकी गूढ़ अभिसन्धिको तो दूर कौन जान सकता है ! (महाभागवतके आधारपर)

भक्तिका स्वरूप

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः।
कलितश्यामललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ॥

चित्तवृत्तिका निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे अपने इष्टस्वरूप श्रीभगवान्‌में लगे रहना अथवा भगवान्‌में परम अनुराग या निष्काम अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। भक्तिके अनेक साधन हैं, अनेकों स्तर हैं और अनेकों विभाग हैं। ऋषियोंने बड़ी सुन्दरताके साथ भक्तिकी व्याख्या की है। पुराण, महाभारत, रामायणादि इतिहास और तन्त्र-शास्त्र भक्तिसे भरे हैं। ईसाई, मुसलमान और अन्यान्य मतावलम्बी जातियोंमें भी भक्तिकी बड़ी सुन्दर और मधुर व्याख्या और साधना है। हमारे भारतीय शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय तो भक्ति-साधनाकी ही जयघोषणा करते हैं। वस्तुतः भगवान् जैसे भक्तिसे वश होते हैं, वैसे और किसी भी साधनसे नहीं होते। भक्तिकी तुलना भक्तिसे ही हो सकती है। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्तिके मूर्तिमान् दिव्य स्वरूप हैं। उनके अनुयायियोंने भक्तिकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है और उसीके आधारपर यहाँ कुछ लिखनेका प्रयास किया जाता है।

जिनके साधारण सौन्दर्य और माधुर्यने बड़े-बड़े महात्मा, ब्रह्मज्ञानी और तपस्वियोंके मनोंको बरबस खींच लिया; जिनकी सबसे बढ़ी हुई अद्भुत, अनन्त प्रभुतामयी पूर्ण ऐश्वर्यशक्तिने शिव, ब्रह्मादिकको चकित कर दिया, उन सबके मूल आश्रयतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके लिये जो अनुकूलतायुक्त अनुशीलन होता है, उसीका नाम भक्ति

है। अनुकूलताका तात्पर्य है, जो कार्य श्रीकृष्णको रुचिकर हो, जिससे श्रीकृष्णको सुख हो—शरीर, वाणी और मनसे निरन्तर वही कार्य करना। श्रीकृष्णके लिये अनुशीलन तो कंस आदिमें भी था, परंतु उनमें उपर्युक्त आनुकूल्य नहीं था। श्रीकृष्णसे यहाँ श्रीराम, नृसिंह, वामन आदि सभी भगवत्स्वरूप लिये जा सकते हैं, परंतु गौड़ीय वैष्णव भगवान् श्रीकृष्ण-स्वरूपके निमित्त और तत्सम्बन्धिनी अनुशीलनरूपा भक्तिको ही मुख्य मानते हैं।

भक्तिकी उपाधियाँ

भक्तिमें दो उपाधियाँ हैं—१—अन्याभिलाषिता और २—कर्मज्ञानयोगादिका मिश्रण। इन दोनोंमेंसे जबतक एक भी उपाधि रहती है तबतक प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

अन्याभिलाषा—भोग-कामना और मोक्ष-कामनाके भेदसे दो प्रकारकी होती है, और ज्ञान, कर्म तथा योगके भेदसे भक्तिका आवरण तीन प्रकारका होता है। यहाँ ज्ञानसे 'अहं ब्रह्मास्मि', योगसे भजनरहित हठयोगादि और कर्मसे भक्तिरहित याग-यज्ञादि शास्त्रीय और भोगादिकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले लौकिक कर्म समझने चाहिये। जिस ज्ञानसे भगवान्‌के स्वरूप और भजनका रहस्य जाना जाता है, जिस योगसे चित्तकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूप, गुण, लीला आदिमें तल्लीन हो जाती है और जिस कर्मसे भगवान्‌की सेवा बनती है, वे ज्ञान-योग-कर्म तो भक्तिमें सहायक हैं, भक्तिके ही अङ्ग हैं। वे भक्तिकी उपाधि नहीं हैं।

सकाम भक्ति

जिस भक्तिमें भोग-कामना रहती है, उसे सकाम भक्ति कहते हैं। सकाम भक्ति राजसी और तामसी भेदसे दो प्रकारकी

है—विषय-भोग, यश-कीर्त्ति, ऐश्वर्य आदिके लिये जो भक्ति होती है, वह राजसी है; और हिंसा, दम्भ तथा मत्सर आदिके निमित्तसे जो भक्ति होती है, वह तामसी है। विषयोंकी कामना रजोगुण और तमोगुणसे ही उत्पन्न हुआ करती है। इस सकाम भक्तिको ही सगुण भक्ति भी कहते हैं। जिस भक्तिमें मोक्षकी कामना है, उसे कैवल्यकामा या सात्त्विकी भक्ति कहते हैं।

उत्तमा भक्ति

उत्तमा भक्ति चित्स्वरूपा है। उस भक्तिके तीन भेद हैं—साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति। इन्द्रियोंके द्वारा जिसका साधन हो सकता हो, ऐसे श्रवण-कीर्तनादिका नाम साधन-भक्ति है।

इस साधन-भक्तिके दो गुण हैं—क्लेशघ्नी और शुभदायनी। क्लेश तीन प्रकारके हैं—पाप, वासना और अविद्या। इनमें पापके दो भेद हैं—प्रारब्ध और अप्रारब्ध। जिस पापका फल मिलना शुरू हो गया है उसे 'प्रारब्ध पाप' और जिस पापका फलभोग आरम्भ नहीं हुआ, उसे 'अप्रारब्ध पाप' कहते हैं। पापका बीज है—'वासना' और वासनाका कारण है 'अविद्या।' इन क्लेशोंका मूल कारण है—भगवद्-विमुखता; भक्तोंके सङ्गके प्रभावसे भगवान्‌की सम्मुखता प्राप्त होनेपर क्लेशोंके सारे कारण अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। इसीसे साधन-भक्तिमें 'सर्वदुःखनाशकत्व' गुण प्रकट होता है।

'शुभ' शब्दका अर्थ है—साधकके द्वारा समस्त जगत्‌के प्रति प्रीति-विधान और सारे जगत्‌के प्रति अनुराग, समस्त सद्गुणोंका विकास

और सुख। सुखके भी तीन भेद हैं—विषयसुख, ब्रह्मसुख औ पारमैश्वर-सुख! ये सभी सुख साधन-भक्तिसे प्राप्त हो सकते हैं।

भाव-भक्तिमें अपने दो गुण हैं—'मोक्षलघुताकृत्' और 'सुदुर्लभा' इनके अतिरिक्त दो गुण—'क्लेशनाशिनी और शुभदायिनी' साधन भक्तिके इसमें आ जाते हैं। जैसे आकाशके गुण वायुमें और आकाश तथा वायुके गुण अग्निमें—इस प्रकार अगले-अगले भूतोंमें पिछले-पिछले भूतोंके गुण सहज ही रहते हैं, वैसे ही साधन-भक्तिके गुण भाव-भक्तिमें और साधन-भक्तिके तथा भाव-भक्तिके गुण प्रेम-भक्तिमें रहते हैं। इस प्रकार भाव-भक्तिमें कुल चार गुण हो जाते हैं और प्रेम-भक्तिमें—'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' और 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' इन दो अपने गुणोंके सहित कुल छः गुण हो जाते हैं। यह उत्तमा भक्तिके छः गुण हैं।

> क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
> सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥
> (श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

१—क्लेशनाशिनी और २—शुभदायिनीका स्वरूप तो ऊपर बतलाया ही जा चुका है।

३—मोक्षलघुताकृत्से तात्पर्य है कि यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—पाँच प्रकारकी मुक्ति)—सबमें तुच्छ बुद्धि पैदा करके सबसे चित्त हटा देती है।

४—सुदुर्लभाका अर्थ है—साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि वस्तु विभिन्न साधनोंके द्वारा मिल सकते हैं, उनको भगवान् सहज

ही दे देते हैं, परंतु अपनी भाव-भक्तिको भगवान् भी शीघ्र नहीं देते। निष्काम साधनोंके द्वारा भी यह सहजमें नहीं मिलती। यह तो उन्हीं भक्तोंको मिलती है, जो भक्तिके अतिरिक्त मुक्ति-मुक्ति सबका निरादर करके केवल भक्तिके लिये सब कुछ न्यौछावर करके भगवान्‌की कृपापर निर्भर हो रहते हैं।

५—सान्द्रानन्दविशेषात्माका अर्थ है—करोड़ों ब्रह्मानन्द भी इस प्रेमामृतमयी भक्ति-सुखसागरके एक कणकी भी तुलनामें नहीं आ सकते। यह अपार और अचिन्त्य प्रेमसुखसागरमें निमग्न कर देती है।

६—श्रीकृष्णाकर्षिणीका अभिप्राय है कि यह प्रेमभक्ति समस्त प्रियजनोंके साथ श्रीकृष्णको भक्तके वशमें कर देती है।

साधन-भक्ति

पूर्वोक्त साधन-भक्तिके द्वारा भाव और प्रेम साध्य होते हैं। वस्तुतः भाव और प्रेम नित्य सिद्ध वस्तु हैं, ये साध्य हैं ही नहीं। साधनके द्वारा जीवके हृदयमें छिपे हुए भाव और प्रेम प्रकट हो जाते हैं। साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है—

१—वैधी और २—रागानुगा।

अनुराग उत्पन्न होनेके पहले जो केवल शास्त्रकी आज्ञा मानकर भजनमें प्रवृत्ति होती है, उसका नाम वैधी भक्ति है। भजनके ६४ अङ्ग होते हैं। जबतक भावकी उत्पत्ति नहीं होती, तभीतक वैधी भक्तिका अधिकार है।

व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णमें जो स्वाभाविकी परमाविष्टता अर्थात् प्रेममयी तृष्णा है उसका नाम है—राग। ऐसी रागमयी भक्तिको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं।

रागात्मिका भक्तिके भी दो प्रकार हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। जिस भक्तिकी प्रत्येक चेष्टा केवल श्रीकृष्णसुखके लिये ही होती है अर्थात् जिसमें काम प्रेमरूपमें परिणत हो गया है, उसीको कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह प्रख्यात भक्ति केवल श्रीगोपीजनोंमें ही है; उनका यह दिव्य और महान् प्रेम किसी अनिर्वचनीय माधुरीको पाकर उस प्रकारकी लीलाका कारण बनता है, इसीलिये विद्वान् इस प्रेम-विशेषको काम कहा करते हैं।

मैं श्रीकृष्णका पिता हूँ, माता हूँ—इस प्रकारकी बुद्धिका नाम सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति है।

इस रागात्मिका भक्तिकी जो अनुगता भक्ति है, उसीका नाम रागानुगा है। रागानुगा भक्तिमें स्मरणका अङ्ग ही प्रधान है।

रागानुगा भी दो प्रकारकी है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। कामरूपा रागात्मिका भक्तिकी अनुगामिनी तृष्णाका नाम कामानुगा भक्ति है। कामानुगाके दो प्रकार हैं—सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छात्मा। केलि-सम्बन्धी अभिलाषासे युक्त भक्तिका नाम सम्भोगेच्छामयी है; और यूथेश्वरी व्रजदेवीके भाव और माधुर्यकी प्राप्तिविषयक वासनामयी भक्तिका नाम तत्तद्भावेच्छात्मा है।

श्रीविग्रहके माधुर्यका दर्शन करके या श्रीकृष्णकी मधुर लीलाका स्मरण करके जिनके मनमें उस भावकी कामना जाग उठती है, वे ही उपर्युक्त दोनों प्रकारकी कामानुगा भक्तिके अधिकारी हैं।

जिस भक्तिके द्वारा श्रीकृष्णके साथ पितृत्व-मातृत्व आदि सम्बन्ध-सूचक चिन्तन होता है और अपने ऊपर उसी भावका आरोप किया जाता है, उसीका नाम सम्बन्धानुगा भक्ति है।

भाव-भक्ति

शुद्ध-सत्त्व-विशेषस्वरूप प्रेमरूपी सूर्यकी किरणके सदृश रुचि-की अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा, उनके अनुकूलताकी अभिलाषा और उनके सौहार्दकी अभिलाषाके द्वारा चित्तको स्निग्ध करनेवाली जो एक मनोवृत्ति होती है, उसीका नाम भाव है। भावका ही दूसरा नाम रति है। रसकी अवस्थामें इस भावका वर्णन दो प्रकारसे किया जाता है—स्थायिभाव और संचारी-भाव। इनमें स्थायिभाव भी दो प्रकारका है—प्रेमाङ्कुर या भाव और प्रेम। प्रणयादि प्रेमके ही अन्तर्गत हैं। ऊपर जो लक्षण बतलाया गया है, यह प्रेमाङ्कुर नामक भावका ही लक्षण है। नृत्य-गीतादि सारे अनुभाव इसी भावकी चेष्टा या कार्य हैं। इस प्रकारका भाव भगवान्‌की और उनके भक्तोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है, किसी दूसरी साधनासे नहीं। तो भी उसे साध्य-भक्ति बतलानेका भी एक विशेष कारण है। साधन-भक्ति भाव-भक्तिका साक्षात् कारण न होनेपर भी उसका परम्परा कारण अवश्य है। साधन-भक्ति-की परिपक्वता होनेपर ही श्रीभगवान्‌की और उनके भक्तोंकी कृपा होती है और उस कृपासे ही भाव-भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। निम्नलिखित नौ प्रीतिके अङ्कुर ही इस भावके लक्षण हैं—

१. *क्षान्ति*—धन-पुत्र-मान आदिके नाश, असफलता, निन्दा और व्याधि आदि क्षोभके कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तका जरा भी चञ्चल न होना।

२. *अव्यर्थ-कालत्व*—क्षणमात्रका समय भी सांसारिक विषय-कार्योंमें वृथा न बिताकर मन, वाणी, शरीरसे निरन्तर भगवत्सेवा-सम्बन्धी कार्योंमें ही लगे रहना।

३.*विरक्ति*–इस लोकके और परलोकके समस्त भोगोंसे स्वाभाविक ही अरुचि ।

४.*मानशून्यता*–स्वयं उत्तम आचरण, विचार और स्थितिसे सम्पन्न होनेपर भी मान-सम्मानका सर्वथा त्याग करके अधमका भी सम्मान करना ।

५.*आशाबन्ध*–भगवान्‌के और भगवत्प्रेमके प्राप्त होनेकी चित्तमें दृढ़ और बद्ध-मूल आशा ।

६.*समुत्कण्ठा*–अपने अभीष्ट भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा ।

७.*नाम-गानमें सदा रुचि*–भगवान्‌के मधुर और पवित्र नामका गान करनेकी ऐसी स्वाभाविकी कामना कि जिसके कारण नाम-गान कभी रुकता ही नहीं और एक-एक नाममें अपार आनन्दका बोध होता है ।

८.*भगवान्‌के गुण-कथनमें आसक्ति*–दिन-रात भगवान्‌के गुण-गान, भगवान्‌की प्रेममयी लीलाओंका कथन करते रहना और ऐसा न होनेपर बेचैन हो जाना ।

९.*भगवान्‌के निवासस्थानमें प्रीति*–भगवान्‌ने जहाँ मधुर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान्‌के चरण-स्पर्शसे पवित्र हो चुकी है, वृन्दावनादि–उन्हीं स्थानोंमें रहनेकी प्रेमभरी इच्छा ।

जब उपर्युक्त नौ प्रीतिके अङ्कुर दिखलायी दें, तब समझना चाहिये कि भक्तमें श्रीकृष्णके साक्षात्कारकी योग्यता आ गयी है ।

उपर्युक्त लक्षण कभी-कभी किसी-किसी अंशमें कर्मी और ज्ञानियों-में भी देखे जाते हैं; परंतु वह भगवान्‌में रति नहीं है, रत्याभास है। रत्याभास भी दो प्रकारका होता है—प्रतिबिम्बरत्याभास और छायारत्याभास। गद्गद-भाव और आँसू आदि दो-एक रतिके लक्षण दिखलायी देनेपर भी जहाँ भोगकी और मोक्षकी इच्छा बनी हुई है, वहाँ प्रतिबिम्बरत्याभास है; और जहाँ भक्तोंके सङ्गसे कथा-कीर्तनादि-के कारण नासमझ मनुष्योंमें भी ऐसे लक्षण दिखलायी देते हैं, वहाँ छायारत्याभास है।

प्रेम-भक्ति

भावकी परिपक्व-अवस्थाका नाम प्रेम है। चित्तके सम्पूर्णरूपसे निर्मल और अपने अभीष्ट श्रीभगवान्‌में अतिशय ममता होनेपर ही प्रेमका उदय होता है। किसी भी विघ्नके द्वारा जरा भी न घटना या न बदलना प्रेमका चिह्न है। प्रेम दो प्रकारका है—महिमाज्ञानयुक्त और केवल। विधिमार्गसे चलनेवाले भक्तका प्रेम महिमाज्ञानयुक्त है; और राग-मार्गपर चलनेवाले भक्तका प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है। ममताकी उत्तरोत्तर जितनी ही वृद्धि होती है, प्रेमकी अवस्था भी उत्तरोत्तर वैसी ही बदलती जाती है। प्रेमकी एक ऊँची स्थितिका नाम है स्नेह। स्नेहका चिह्न है, चित्तका द्रवित हो जाना। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है राग। रागका चिह्न है, गाढ़ स्नेह। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है प्रणय। प्रणयका चिह्न है गाढ़ विश्वास। श्रीकृष्णरति-रूप स्थायिभाव विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारीभावके साथ मिलकर जब भक्तके हृदयमें आस्वादनके उपयुक्त बन जाता है, तब उसे भक्ति-रस कहते हैं। उपर्युक्त कृष्णरति शान्त, दास्य, सख्य,

वात्सल्य और मधुरके भेदसे पाँच प्रकारकी है। जिसमें और जिसके द्वारा रतिका आस्वादन किया जाता है, उसको विभाव कहते हैं। इनमें जिसमें रति विभावित होती है, उसका नाम है, आलम्बन-विभाव; और जिसके द्वारा रति विभावित होती है, उसका नाम है उद्दीपन-विभाव। आलम्बन विभाव भी दो प्रकारका है—विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। जिसके लिये रतिकी प्रवृत्ति होती है, वह विषयालम्बन है, और इस रतिका जो आधार होता है, वह आश्रयालम्बन है। इस श्रीकृष्ण-रतिके विषयालम्बन हैं—श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन हैं—उनके भक्तगण। जिनके द्वारा रतिका उद्दीपन होता है, वे श्रीकृष्णका स्मरण करानेवाली वस्त्रालङ्कारादि वस्तुएँ हैं—उद्दीपन-विभाव।

नाचना, भूमिपर लोटना, गाना, जोरसे पुकारना, अङ्ग मोड़ना, हुँकार करना, जँभाई लेना, लम्बे श्वास छोड़ना आदि अनुभावके लक्षण हैं। अनुभाव भी दो प्रकारके हैं—शीत और क्षेपण। गाना, जँभाई लेना आदिको शीत; और नृत्यादिको क्षेपण कहते हैं।

सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ (जडता), स्वेद (पसीना), रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्छा)। ये सात्त्विक भाव स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष भेदसे तीन प्रकारके हैं। इनमें स्निग्ध सात्त्विकके दो भेद हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्त्विकभाव मुख्य है और परम्परासे अर्थात् किञ्चित् व्यवधानसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध-सात्त्विकभाव गौण है। स्निग्ध-सात्त्विकभाव नित्यसिद्ध भक्तोंमें ही होता है। जातरति अर्थात् जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है—उन

क्योंकि सात्त्विक भावको स्निग्ध भाव कहते हैं और अजातरति अर्थात् जिसमें प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्यमें कभी आनन्द-विस्मयादि-के द्वारा उत्पन्न होनेवाले भावको रूक्ष भाव कहा जाता है।

ये सब भाव भी पाँच प्रकारके होते हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सूद्दीप्त। बहुत ही प्रकट, परंतु गुप्त रखने योग्य एक या दो सात्त्विक भावोंका नाम धूमायित है। एक ही समय उत्पन्न होनेवाले दो-तीन भावोंका नाम ज्वलित है। ज्वलित भावको भी बड़े कष्टसे गुप्त रक्खा जा सकता है। बढ़े हुए और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले तीन-चार या पाँच सात्त्विक भावोंका नाम दीप्त है, यह दीप्तभाव छिपाकर नहीं रक्खा जा सकता। अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त एक ही साथ उदय होनेवाले छः, सात या आठ भावोंका नाम उद्दीप्त है। यह उद्दीप्त भाव ही महाभावमें सूद्दीप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त रत्याभासजनित सात्त्विक भाव भी होते हैं, उनके चार प्रकार हैं। मुमुक्षु पुरुषमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम रत्याभासज है। कर्मियों और विषयी जनोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम सत्त्वाभासज है। जिनका चित्त सहज ही फिसल जाता है या जो केवल अभ्यासमें लगे हैं, ऐसे व्यक्तियोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको निःसत्त्व कहते हैं और भगवान्‌में विद्वेष रखनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको प्रतीप कहा जाता है।

व्यभिचारी भाव ३३ हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शङ्का, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, लज्जा, अनुभाव-गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता,

मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्ति और बोध।

भक्तोंके चित्तके अनुसार इन भावोंके प्रकट होनेमें तारतम्य हुआ करता है। आठ सात्त्विक और तैंतालीस व्यभिचारी भावोंको ही संचारी भाव भी कहते हैं, क्योंकि इन्हींके द्वारा अन्य सारे भावोंकी गतिका संचालन होता है।

अब स्थायिभावकी बात रही। स्थायिभाव सामान्य, स्वच्छ और शान्तादि भेदसे तीन प्रकारका है। किसी रसनिष्ठ भक्तका सङ्ग हुए बिना ही सामान्य भजनकी परिपक्वताके कारण जिनमें एक प्रकारकी सामान्यरति उत्पन्न हो गयी है, उसे सामान्य स्थायिभाव कहते हैं। शान्तादि भक्तोंके सङ्गसे सङ्गके समय जिनके स्वच्छ चित्तमें सङ्गके अनुसार रति उत्पन्न होती है, उस रतिको स्वच्छ स्थायिभाव कहते हैं और पृथक्-पृथक् रस-निष्ठ भक्तोंकी शान्तादि पृथक्-पृथक् रतिका नाम ही शान्तादि स्थायिभाव है। शान्तादि भाव पाँच प्रकारका है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ है। इन पाँच रसोंके अतिरिक्त हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स —ये सात गौण रस और हैं। भगवान्का किसी भी रसके द्वारा भजन हो, वह कल्याणकारी ही है। परंतु साधनके योग्य आदर्श उपर्युक्त पाँच मुख्य रस हैं।*

---

* यहाँ बहुत ही संक्षेपमें केवल परिचयमात्र दिया गया है। जिनको विशेष जानना हो वे श्रीरूपगोस्वामीरचित 'हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक संस्कृत-ग्रन्थोंका अध्ययन करें। —सम्पादक।

प्रेमभक्तिमें भगवान् और भक्तका सम्बन्ध

भगवान्‌का वास्तविक स्वरूप कैसा है, इस बातको भगवान् ही जानते हैं। या किसी अंशमें वे जानते हैं, जिनको भगवान् जनाना चाहते हैं। आजतक जगत्‌में कोई भी यह नहीं कह सका कि भगवान् ऐसे ही हैं; न कोई कह सकता है और न कह सकेगा। यदि कोई ऐसा कहनेका साहस करता है तो वह या तो भोला है, या आग्रही अथवा मिथ्यावादी है। ऐसा होनेपर भी भगवान्‌के जितने वर्णन जगत्‌में हुए हैं, वे अपने-अपने स्थानमें सभी सच्चे हैं; क्योंकि महान् परमात्मामें सभीका अन्तर्भाव है। अनन्त आकाशमें जैसे सभी मठाकाश, घटाकाश समाते हैं। किसी गाँवमें होनेवाली घटनाको लेकर हम कहें कि जगत्‌में ऐसा होता है तो ऐसा कहना मिथ्या नहीं है, क्योंकि गाँव जगत्‌में ही है अतएव वह जगत् ही है, परंतु यह बात नहीं कि जगत् वह गाँव ही है। फिर जगत्‌का तो वर्णन हो भी सकता है, क्योंकि वह प्राकृतिक, ससीम और सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा आकलन करने योग्य है, परंतु अप्राकृतिक, असीम, अनन्त, अपार, अकल, अलौकिक परमात्माका वर्णन तो हो ही नहीं सकता, इसीलिये वेद उन्हें 'नेति-नेति' कहकर चुप हो जाते हैं। निर्गुण अक्षरब्रह्म, विकारशील और जड अपरा प्रकृतिमें स्थित निर्विकार परा प्रकृतिरूप जीवात्मा, अपरा प्रकृति और उसके विकारसे उत्पन्न उत्पत्ति और विनाश धर्मवाले सब पदार्थ, भूतोंका उद्भव और अभ्युदय करनेवाला विसर्गरूप

कर्म, व्यक्त जगत्का अभिमानी सूत्रात्मा अधिदैव और इस शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित विष्णुरूप अधियज्ञ—ये सब उस नित्य-निर्विकार सच्चिदानन्दघन भगवान्के विशेष भाव हैं, या उसके आंशिक प्रकाश हैं। अवश्य ही स्वभावसे ही पूर्ण होनेके कारण आंशिक प्रकाश होनेपर भी भगवद्रूपमें सभी पूर्ण हैं। ऐसे सबमें स्थित, सर्वनियन्ता, सर्वाधार, सबको सत्ता और शक्ति देनेवाले, सबके अद्वितीय कारण, सबसे परे और सर्वमय भगवान्का वर्णन कौन कर सकता है?

भगवान्ने गीतामें कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
(९।४-५)

'मुझ अव्यक्तमूर्तिके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है, सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूँ, वे सब भूत भी मुझमें नहीं हैं; मेरा यह ऐश्वरयोग देखो कि सम्पूर्ण भूतोंका उत्पन्न और धारण-पोषण करनेवाला होकर भी मैं स्वरूपतः उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।'

भगवान्के इस कथनमें परस्पर-विरोधी बातें प्रतीत होती हैं 'मैं सबमें हूँ और किसीमें नहीं हूँ; सब मुझमें हैं और कोई भी मुझमें नहीं है।' इस कथनका कोई अर्थ सहज ही समझमें नहीं आता। इसीलिये 'परमार्थ' और 'व्यवहार' का भेद करके इसकी व्याख्या की जाती है। परंतु यही तो भगवान्का 'ऐश्वरयोग' है, हमारी निरा-

विमोहित जड़बुद्धि इसे कैसे जान सकती है? हमारे लिये जो असम्भव है, भगवान्‌के लिये वह सब कुछ सम्भव है। भगवान्‌में सब विरोधोंका समन्वय है। इसीलिये तो भगवान्‌का किसी भी प्रकारसे किया हुआ वर्णन भगवान्‌के लिये सत्यरूपसे लागू होता है।

भगवान् निर्गुण भी हैं, सगुण भी; निराकार भी हैं, साकार भी; वे निष्क्रिय, निर्विशेष, निर्लिप्त और निराधार होते हुए ही सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाले, सविशेष, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं। सांख्योक्त परस्पर-विलक्षण अनादि पुरुष और प्रकृति, चेतन और अचेतन दोनों शक्तियाँ, जिनसे सारा जगत् उत्पन्न होता है—भगवान्‌की ही परा और अपरा प्रकृति हैं। इन दो प्रकृतियोंके द्वारा वस्तुतः भगवान् ही अपनेको प्रकट कर रहे हैं। वे सबमें रहकर भी सबसे परे हैं। वे ही सबको देखनेवाले उपद्रष्टा हैं, वे ही यथार्थ सम्मति देनेवाले अनुमन्ता हैं, वे ही सबका भरण-पोषण करनेवाले भर्ता हैं, वे ही जीवरूपसे भोक्ता हैं, वे ही सर्वलोक-महेश्वर हैं, वे ही सबमें व्याप्त परमात्मा हैं और वे ही समस्त ऐश्वर्य-माधुर्यसे परिपूर्ण भगवान् हैं। वे एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें विभक्त हुए-से जान पड़ते हैं। अनेक रूपोंमें व्यक्त होनेपर भी एक ही हैं। व्यक्त, अव्यक्त और अव्यक्तसे भी परे सनातन अव्यक्त वे ही हैं; क्षर, अक्षर और अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तम वे ही हैं। वे अपनी ही महिमासे महिमान्वित हैं, अपने ही गौरवसे गौरवान्वित हैं और अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित हैं।

इन भगवान्‌का यथार्थ स्वरूपज्ञान या दर्शन इनकी कृपाके बिना नहीं हो सकता। ये जिसपर अनुग्रह करके अपना ज्ञान कराते हैं, वे ही इन्हें जान सकते हैं और कृपा भक्तोंपर ही व्यक्त होती है। भक्तिरहित कर्मसे, प्रेमरहित ज्ञानसे भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप नहीं

जाननेमें आता। निष्काम कर्मसे भगवान्‌का ऐश्वर्य-रूप जाना जाता है और तत्त्वज्ञानसे उनका अक्षर परमस्वरूप; परंतु उनके पुरुषोत्तम भावका तो अनन्य प्रेमभक्तिसे ही साक्षात्कार होता है। वैधी भक्ति करते-करते जब यह दिव्य प्रेमरूपमें परिणत होती है, जब भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति और अनिर्वचनीय ऐश्वर्यको जानकर भक्त केवल उन्हींको परम गति, परम आश्रय और परम शरण्य मानकर बुद्धिसे, मनसे, चित्तसे, इन्द्रियोंसे और शरीरसे सब भाँति सर्वथा अपनेको उनके चरणोंमें निवेदन कर देता है, जब वह उन्हींको मन दे देता है, उन्हींमें बुद्धि लगा देता है, उन्हींको जीवन अर्पण कर देता है, उन्हींकी चर्चा करता है, उन्हींके नामगुणका गान करता है, उन्हींमें संतुष्ट रहता है और उन्हींमें रमण करता है; इस प्रकार जब देह-मन-प्राण, काल-कर्म-गुण, लौकिक और पारलौकिक भोग, आसक्ति, कामना, वासना सब कुछ उनके अर्पण कर देता है, तब भगवान् उस प्रेमसे भजनेवाले भक्तको अपनी वह दिव्य बुद्धि दे देते हैं, जिससे वह अनायास ही उनको समग्ररूपमें—पुरुषोत्तम-रूपमें पा जाता है।

भगवान्‌ने घोषणा की है कि मैं जैसा भक्तिसे शीघ्र मिलता हूँ, वैसा अन्य किसी साधनसे नहीं मिलता—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

'जिस प्रकार मेरी अनन्य भक्ति मुझे वशमें करती है, उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग वशमें नहीं कर सकते।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(११ । ५३-५४)

'परंतप अर्जुन ! जिस प्रकारसे तुमने मुझको देखा है, इस प्रकारसे मैं न वेदोंसे (ज्ञानसे), न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ । इस प्रकारसे मैं केवल अनन्य भक्तिसे ही तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ और अपनेमें प्रवेश करा सकता हूँ, अभिन्नभावसे अपने अंदर मिला सकता हूँ ।'

एक बात और है—ज्ञानके साधनमें भगवान् निर्गुण, निराकार, निरञ्जन, परम अज्ञेय तत्त्व हैं; और ज्ञानयुक्त कर्ममें भगवान् सर्वैश्वर्य-सम्पन्न, सर्वगुणाधार, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर, सृष्टिकर्त्ता, पालन और संहारकर्त्ता, नियन्त्रणकर्त्ता प्रभु हैं, परंतु भक्तिमें भगवान् ये सब होते हुए ही भक्तके निज-जन हैं । भक्ति त्रिभावातीत और गुणातीत तथा त्रिभावमय और सर्वगुणमय परमात्माका अवतरण कराकर, उन्हें नीचे उतारकर भक्तके साथ आत्मीयताके अत्यन्त मधुर बन्धनमें बाँध देती है । भक्तिका साधक—प्रेमी भक्त भगवान्‌को केवल सच्चिदानन्दघन ब्रह्म या सर्वलोक-महेश्वर ऐश्वर्यमय स्वामी ही नहीं जानता, वह उन्हें अपने परम पिता, स्नेहमयी जननी, प्राणोपम सुहृद्, प्यारे सखा, प्राणेश्वर पति, प्रेममयी प्राणेश्वरी, जीवनाधार पुत्र आदि प्राणोंके-प्राण और जीवनोंके-जीवन परम आत्मीयरूपमें प्राप्त करता है । भगवान्‌के दिव्य स्नेह, अलौकिक प्रेम, अनुपमेय अनुग्रह, परम सुहृदता,

अनिर्वचनीय दिव्य नित्य सौन्दर्य और नित्य नवीन माधुर्यका साक्षात्कार और उपभोग भक्तिके द्वारा ही किया जा सकता है। निरे ज्ञान और कर्मके द्वारा नहीं! जिनमें भक्ति नहीं है, उनकी तो कल्पनामें भी यह बात नहीं आ सकती कि भगवान् हमारे पिता-पुत्र, मित्र-बन्धु और जननी-पत्नी भी बन सकते हैं। इसी प्रेमरूपा भक्तिके प्रभावसे भगवान्के दिव्य अवतार होते हैं, इसीके प्रतापसे भक्त अपने भगवान्की दिव्य लीलाओंका आस्वादन करता है और इसीके कारण भगवान्को जगत्के सामने अपना महत्त्व छिपाकर परम गोपनीय भावसे भक्तके सामने अपने परम तत्त्वका अपने ही श्रीमुखसे प्रकाश करना पड़ता है। तर्कशील अभक्तोंके लिये यह तत्त्व सर्वथा गुप्त ही रहता है!

भगवान्का अपने प्रेमी भक्तोंके साथ बिल्कुल खुला व्यवहार होता है; क्योंकि वहाँ योगमायाका आवरण हटाकर ही लीला करनी पड़ती है। उनके सामने सभी तत्त्वोंका प्रकाश हो जाता है। निर्गुण और सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार दोनों ही रूपोंका परम रहस्य भगवान् खोल देते हैं। इसीलिये भगवान्ने भक्तिकी इतनी महिमा गायी है और इसीलिये परम चतुर ऋषि-मुनि भी भक्तिके लिये लालायित रहते हैं।

भगवान् इतना ही नहीं करते, वे स्वयं भक्तका योगक्षेम वहन करते हैं और उसके साथ खेलते हैं, खाते हैं, सोते हैं और प्रेमालाप करते हैं। कभी वे पुत्र बनकर गोदमें खेलते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

कभी राधाजीके साथ झूला झूलते हैं—

झूलत नागरि नागर लाल ।
मंद मंद सब सखी झुलावति गावति गीतं रसाल ॥

कभी माता-पिताकी वन्दना और उनकी सेवा करते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहिं माथा ॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा । देखि चरित हरषइ मन राजा ॥

कहीं मित्रोंके साथ खेलते हैं, कहीं प्रियाके साथ प्रेमालाप करते हैं, कहीं भक्तके लिये रोते हैं । कहीं भक्तकी सेवा करते हैं, कहीं भक्तकी बड़ाई करते हैं, कहीं भक्तके शत्रुओंको अपना शत्रु बतलाते हैं, कहीं भक्तोंकी स्तुति सुनते है और कहीं भक्तोंको ज्ञान देते हैं । यह आनन्द भक्त और भगवान्में ही होता है । भक्त और भगवान्में न मालूम क्या-क्या रसकी बातें होती हैं, न मालूम कैसे-कैसे रहस्य खुलते हैं और न मालूम वे भक्तको कब किस परम दुर्लभ दिव्य लोकमें ले जाकर वहाँका आनन्द अनुभव कराते है । वे उसके हो जाते हैं और उसको अपना बना लेते हैं । उसके हृदयमें आप बसते हैं और उसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं । सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान, सम्पूर्ण आत्मानुभूति, सम्पूर्ण एकात्मबोध सब यहाँ दिव्य प्रेमके रूपमें परिणत हो जाते हैं । और मुक्ति तो ऐसे भक्तकी सेवा करनेके लिये पीछे-पीछे फिरती है, उसके चरणोंमें लोटती है—

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः ॥

जिसकी श्रीमुकुन्दके चरणोंमें परमानन्दरूपा भक्ति होती है मोक्ष-साम्राज्यश्री उसके चरणोंमें लोटती है ।

भगवान्को पानेका उपाय

सत्सङ्ग

आसक्ति या सङ्ग अवश्य ही आत्माको फँसानेवाली अक्षय फाँसी है, परंतु वही आसक्ति या सङ्ग यदि संतोंमें किया जाय तो वह खुला हुआ मोक्षका दरवाजा है। जो पुरुष सहनशील, दयालु, सब जीवोंके सुहृद्, शान्त और शत्रुरहित हैं (जिनके मनमें किसीसे शत्रुता नहीं है), वे ही संत हैं। शास्त्रोंमें वर्णित सुशीलता ही इन संतोंका आभूषण है। ये साधुजन अनन्य भावसे भगवान्की दृढ़ भक्ति

करते हैं और भगवान्‌के लिये समस्त स्वजन-बान्धवोंका मोह त्याग देते हैं। यहाँतक कि सम्पूर्ण कर्म और देहके अभिमानको त्यागकर वे भगवान्‌में लीन हो जाते हैं। वे भगवान्‌के चरित्रोंकी पवित्र कथाएँ सुनते और कहते हैं। उनका चित्त सब समय श्रीभगवान्‌में लगा रहता है। इसीलिये आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारके ताप उन्हें संतप्त नहीं कर सकते। वे सत आसक्तिरहित होते हैं, इसीलिये आसक्तिका परिणाम जो बन्धन है, उसको वे हरनेवाले होते हैं। ऐसे पवित्र संतोंका ही नित्य सङ्ग करना चाहिये। ऐसे महात्माओंके सङ्गसे उनके द्वारा हृदय और कानोंको सुख देनेवाली भगवान्‌की पवित्र लीलाओंके अमृतसे भरी कथाएँ सुननेको मिलती हैं। जिनके सुननेसे भगवान्‌में श्रद्धा, रति और भक्ति होती है। साधक लीलाओंका चिन्तन करता है और भक्तिके प्रभावसे उसके चित्तमें इस लोक और परलोकके सब सुखोपभोगोंसे वैराग्य हो जाता है। फिर वह सब प्रकारसे चित्तको भगवान्‌के अर्पण करनेका यत्न करता है। इस प्रकार मायाके गुणोंका सेवन न करनेसे वैराग्ययुक्त ज्ञानके प्रभावसे और भगवान्‌की अनन्य दृढ़ भक्तिके प्रतापसे वह इसी शरीरमें भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। (श्रीमद्भागवत)

वह दिन कब आयेगा

प्यारे नटनागर ! तुम्हीं बताओ कि मेरा चिरवाञ्छित वह सुदिन कब आयेगा ? दुलारे चितचोर ! तुम्हीं कहो कि वह शुभ घड़ी, वह सुहावना सरस समय, वह परम प्रिय अनमोल पल, वह भाग्योदयका मुहूर्त कब होगा, जब ये चिरतृषित नेत्र उस अनूप रूपमाधुरीका पानकर अन्य किसी भी छबिको न देख सकेंगे ! अहा ! वह समय बड़ा ही अनमोल होगा, जब प्रियतमका करोड़ों चन्द्रमाओंको लजानेवाला मे मुखड़ा घनश्याम मेघसे निकल पड़ेगा और अपनी विश्वविमोहि चटकीली चाँदनीसे विश्वको चमका देगा । उस समय कोयल प स्वरसे 'कुहू-कुहू' की ध्वनिसे अपने प्राणाधारको पुकार उठेगी । पपी 'पी कहाँ' की रटसे प्रेमिकाको अधीर कर देगा । मोरके शोरसे सह हृदयमें चोट लग जायगी । योगी चंचल चितवनसे उस नवीन चन्द्र और त्राटक लगा लेंगे और प्रकृतिदेवी उस अलौकिक सौन्दर्य झाँकीपर थिरक-थिरक नाचने लगेगी ।

भक्त-मन-चोर ! सच कहना, यह चोरीकी कला तुमने किस और कब सीखी ? सुनते हैं, तुम व्रजललनाओंके बड़े दुलारे हो, ... माखन चुरा लेते हो और कोई-कोई तो यहाँतक कहते हैं कि ... सर्वस्व लूट लेते हो ! यदि बात सत्य है तो क्या मैं भी तुम्हारी

...टकका एक नवीन पात्र बन सकता हूँ ! क्या मैं भी तुमसे कह
...ता हूँ कि ऐ अनोखे चोर ! मेरा भी 'चित' चुरा लो ? क्या मेरी
...से तुम्हारा नाम 'मन-चोर' न पड़े ?

मेरे राम ! वह दिन कब आयेगा जब मैं भी मुनि-शापसे शिला
...जाऊँगा और तुम्हारे चरण-रज-स्पर्शसे मुझे उस परमानन्दकी प्राप्ति
... जिसके लिये योगीजन लाखों वर्षोंतक निराहार रहकर तुम्हारी
...सना किया करते हैं । भव-भयहारी राम ! वह शुभ घड़ी कब
...गी कि जब नटखट केवटकी नाईं मुझे भी कठौतेमें तुम्हारे कोमल
...कमलको अपने इस कठोर हाथोंसे खूब मल-मलकर धोनेकी
...ति मिल जायगी !

गोपीकुमार ! वह समय कब आयेगा जब मैं तुम्हें कदम्बपर
...द हास्य करते हुए बाँसुरीके मधुर स्वरोंको गाते सुनूँगा, जिन्हें
...र व्रजबालाएँ अपने घर-द्वार, पति-पुत्र, परिवारको परित्यागकर
...ी ओर बलात्कारसे खिंच जाती थीं । लीलामय ! सुना है, तुम्हारी
...में विचित्र आकर्षण है ! उसके स्वरोंमें अपार अनोखापन है ।
...ी तो मैंने बहुत सुनी है पर तुम्हारी बाँसुरी तो गजब कर देती
...देवता और मनुष्योंकी कौन कहे, पशु-पक्षीतक उस ध्वनिको
...र स्तब्ध होकर खाना-पीना भूल जाते हैं ।

सुना है, अब भी तुम वृन्दावनकी कुञ्जोंमें वहाँ राग-तान छेड़ते
...ौर भाग्यवान् भक्तोंको अब भी तुम्हारी वंशीकी ध्वनि साफ-साफ
...ी देती है । यदि तुम्हारी कृपादृष्टि हो गयी तो तुम उन्हें अपने
... मुखड़ेका दर्शन दे कृतकृत्य कर देते हो । पतितपावन ! क्या

मुझे प्रेमके प्यालेकी एक बूँद पान करनेका भी अवसर न मिलेगा ! क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि तुम्हारा एक प्रेम-पथ-पथिक तुम्हारे प्रेम-पथसे गुमराह हो जाय और कँटीले जंगलोंमें भटकता रहे ! यह तो बिल्कुल सही है कि मेरे अंदर व्रजललनाओंका-सा प्रेम नहीं, केवटके-से प्रेम-लपेटे अटपटे बैन नहीं, गजका-सा आर्त्तनाद नहीं, प्रह्लादकी-सी अनन्यता, निष्कामता नहीं, ध्रुवका-सा विश्वास नहीं, द्रौपदीकी-सी पुकार नहीं, सूरदासकी-सी लगन नहीं और गोस्वामी तुलसीदासका-सा भरोसा नहीं, फिर भी तुम ठहरे पतितपावन और मैं ठहरा तुम्हारा एक पतित । यदि तुम्हारा दावा है कि मैं पतित-से पतितका भी उद्धार करता हूँ तो मैं इसी नाते तुमसे कहता हूँ और करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि वह दिन कब आयेगा जब तुम इस पतितका उद्धार कर अपने पतितपावन नामको सार्थक करोगे ।

मेरे हृदयके राजा ! वह दिन कब आयेगा जब मैं सांसारिक झंझटोंको छोड़, विषयोंसे मुखमोड़, सोनेकी बेड़ी तोड़ तुम्हारे पादपद्मोंसे सम्बन्ध जोड़ूँगा ? कब तुम्हारे चरणोंका स्पर्शकर शान्ति-लाभ करूँगा, तुम्हारे कमलनयनोंको देखकर तृषित नेत्रोंको शान्त करूँगा, तुम्हारे मुखकञ्जको निरख-निरख कलेजेकी कसकको मिटाऊँगा और तुम्हारी सुखमयी गोदमें बैठकर तुम्हारे शीतल कर-स्पर्शसे उस आनन्दका अनुभव करूँगा जिसका करोड़ों जिह्वाएँ भी मिलकर वर्णन नहीं कर सकतीं ।

वह दिन कब आयेगा जब मैं भी सूरदासकी नाईं कहूँगा—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानिकै मोहि ।
हृदयसे जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहि ॥

तुम आगे-आगे भागते जाओगे और मैं पीछे-पीछे दौड़ता रहूँगा और तबतक नहीं छोड़ूँगा जबतक तुम पकड़ न जाओगे।

मेरे जीवनाधार! अब न तरसाओ! बस, बहुत हो चुका। सभी बातोंकी एक हद होती है, सभी कामोंका एक अन्त होता है 'का बरषा जब कृषी सुखाने' अगर मिलना ही है तो अभी मिलो, इसी क्षण मिलो, मैं कबसे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। देखते-देखते आँखें फूट गयीं। रोते-रोते आँसू सूख गये। पुकारते-पुकारते गला बैठ गया, पर तुम न आये! हृदय-कपाट हर समय तुम्हारे लिये खुले पड़े हैं और प्रेम-शय्या भी बिछी है, तुम जब चाहो उसपर शयन कर सकते हो। तुम्हें यह कहनेका भी मौका नहीं मिलेगा कि 'द्वार खटखटाया पर उत्तर न मिला।' द्वार खुला रहनेसे चोर-डाकू बड़ा तंग करते हैं पर तुम्हारे ही कारण मैंने उन्हें खोल रक्खा है और तबतक खुला रक्खूँगा जबतक उनका तनिक भी अस्तित्व रह जायगा। यदि मैं यह समझ लूँ कि तुम नहीं आओगे तब भी मुझे विश्वास नहीं हो सकता; क्योंकि तुम्हें आना ही पड़ेगा। अवश्य ही अब मैंने समझा, तुम्हारे कर्णरन्ध्र-तक मेरी करुण पुकार नहीं पहुँची है, नहीं तो, तुम अपना वाहन छोड़ पैदल ही दौड़े चले आते।

याद रक्खो, यदि देर करके आये तो तुम मुझे नहीं पा सकते।

मान तृषातुरके रहें, थोरेहु जलदान।
पीछे जल भर सहस घट, डारेहु मिले न प्रान॥

एक लालसा

जीवनका परम ध्येय स्थिर हो जानेपर जब उसके अतिरिक्त अन्य सभी लौकिक-पारलौकिक पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो जाता है, तब साधकके हृदयमें कुछ दैवी भावोंका विकास होता है। उसका अन्तःकरण शुद्ध सात्त्विक बनता जाता है। इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं, मन विषयोंसे हटकर परमात्मामें एकाग्र होता है, सुख-दुःख, शीतोष्णका सहन सहजमेंही हो जाता है, संसारके कार्योंसे उपरामता होने लगती है, परमात्मा और उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तथा संत-शास्त्रोंकी वाणीमें परम श्रद्धा हो जाती है, परमात्माको छोड़कर दूसरे किसी पदार्थमें मेरी तृप्ति होगी या मुझे परम सुख मिलेगा, यह शङ्का सर्वथा मिटकर चित्तका समाधान हो जाता है। फिर उसे एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उसकी सारी क्रियाएँ केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये होती हैं। वह सब कुछ छोड़कर एक परमात्माको ही चाहता है। इसीका नाम मुमुक्षा या मुमुक्षुता है। मुमुक्षा तो इससे पहले भी जाग्रत् हो सकती है, परंतु वह प्रायः अत्यन्त तीव्र नहीं होती। ध्येयका निश्चय, वैराग्य, सात्त्विक षट् सम्पत्ति आदिकी प्राप्तिके बाद जो मुमुक्षुत्व होता है वही अत्यन्त तीव्र हुआ करता है। भगवान् श्रीशंकराचार्यने मुमुक्षुताके

तीव्र, मध्यम, मन्द और अतिमन्द ये चार भेद बतलाये हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदसे त्रिविध* होनेपर भी प्रकारभेदसे अनेकरूप दुःखोंके द्वारा सर्वदा पीड़ित और व्याकुल होकर जिस अवस्थामें साधक विवेकपूर्वक परिग्रहमात्रको ही अनर्थकारी समझकर त्याग देता है, उसको तीव्र मुमुक्षा कहते हैं। त्रिविध तापका अनुभव करने और सत्-परमार्थ वस्तुको विवेकसे जाननेके बाद, मोक्षके लिये भोगोंका त्याग करनेकी इच्छा होनेपर भी संसारमें रहना उचित है या त्याग देना, इस प्रकारके संशयमें झूलनेको मध्यम मुमुक्षा कहते हैं। मोक्षके लिये इच्छा होनेपर भी यह समझना कि अभी बहुत समय है, इतनी जल्दी क्या पड़ी है, संसारके कार्मोको कर लें, भोग भोग लें, आगे चलकर मुक्तिके लिये भी उपाय कर लेंगे। इस प्रकारकी बुद्धिको मन्द मुमुक्षा कहते हैं और जैसे किसी राह चलते मनुष्यको अकस्मात् रास्तेमें बहुमूल्य मणि पड़ी दिखायी दी और उसने उसको उठा लिया, वैसे ही संसारके सुख-भोग भोगते-भोगते ही भाग्यवश कभी मोक्ष मिल जायगा तो मणि पानेवाले पथिककी भाँति मैं भी धन्य हो जाऊँगा। इस प्रकारकी मूढ़-मतिवालोंकी बुद्धिको अतिमन्द मुमुक्षा कहते हैं। बहुजन्मव्यापी तपस्या और श्रीभगवान्‌की उपासनाके प्रभावसे हृदयके सारे पाप नष्ट होनेसे भगवान्‌की प्राप्तिके लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर मनुष्यको इसी जीवनमें भगवान्‌की प्राप्ति

* अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोग आदिसे होनेवाले दुःखोंको आध्यात्मिक; अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात, भूकम्प, दैव-दुर्घटना आदिसे होनेवाले दुःखोंको आधिदैविक और दूसरे मनुष्यों या भूतप्राणियोंसे प्राप्त होनेवाले दुःखोंको आधिभौतिक कहते हैं।

हो जाती है—'परन्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात् स जीवन्नेव मुच्यते।' इस तीव्र शुभेच्छाके उदय होनेपर उसे दूसरी कोई भी बात नहीं सुहाती, जिस उपायसे उसे अपने प्यारेका मिलन सम्भव दीखता है, वह लोक-परलोक किसीकी कुछ भी परवा न कर उसी उपायमें लग जाता है । प्रिय-मिलनकी उत्कण्ठा उसे उन्मत्त बना देती है। प्रियकी प्राप्तिके लिये वह तन-मन-धन धर्म-कर्म—सभीका उत्सर्ग करनेको प्रस्तुत रहता है । प्रियतमकी तुलनामें, उसकी दृष्टिसे सभी कुछ तुच्छ हो जाता है, वह अपने आपको प्रियमिलनेच्छापर न्योछावर कर डालता है । ऐसे भक्तोंका वर्णन करते हुए सत्पुरुष कहते हैं—

> प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर रहे हाहाकार ।
> गिनता नहीं मार्गकी, कुछ भी, दूरीको, वह किसी प्रकार ॥
> नहीं ताकता, किञ्चित् भी, शत-शत बाधा-विघ्नोंकी ओर ।
> दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर-वंशरी नन्दकिशोर ॥

प्रियतमके लिये प्राणोंको तो हथेलीपर लिये घूमते हैं ऐसे प्रेमी साधक ! उनके प्राणोंकी सम्पूर्ण व्याकुलता, अनादिकालसे लेकर अबतककी समस्त इच्छाएँ उस एक ही प्रियतमको अपना लक्ष्य बना लेती हैं । प्रियतमको शीघ्र पानेके लिये उसके प्राण उड़ने लगते हैं। एक सज्जनने कहा है कि 'जैसे बाँधके टूट जानेपर जलप्लावनका प्रवाह बड़े वेगसे बहकर सारे प्रान्तके गाँवोंको बहा ले जाता है, वैसे ही विषय-तृष्णाका बाँध टूट जानेपर प्राणोंमें भगवत्प्रेमके जिस प्रबल उन्मत्त वेगका संचार होता है, वह सारे बन्धनोंको जोरसे तत्काल ही तोड़ डालता है । प्रणयीके अभिसारमें दौड़नेवाली प्रणयिनीकी तरह उसे रोकनेमें किसी भी सांसारिक प्रलोभनकी प्रबल

शक्ति समर्थ नहीं होती, उस समय वह होता है अनन्तका यात्री—अनन्त परमानन्द-सिन्धु-सङ्गमका पूर्ण प्रयासी ! घर-परिवार सबका मोह छोड़कर, सब ओरसे मन मोड़कर वह कहता है—

बन बन फिरना बेहतर हमको रतन-भवन नहिं भावै है ।
लता तले पड़ रहनेमें सुख नाहिंन सेज सुहावै है ॥
सोना कर धर सीस भला अति तकिया ख्याल न आवै है ।
'ललितकिसोरी' नाम हरीका जपि-जपि मन सचु पावै है ॥

अब बिलंब जनि करो लाड़िली कृपा-दृष्टि टुक हेरो ।
जमुना-पुलिन गलिन गहबरकी बिचरूँ साँझ सबेरो ॥
निसिदिन निरखौं जुगल-माधुरी रसिकनते भट-भेरो ।
'ललितकिसोरी' तन मन आकुल श्रीबन चहत बसेरो ॥

एक नन्दनन्दन प्यारे व्रजचन्द्रकी झाँकी निरखनेके सिवा उसके मनमें फिर कोई लालसा ही नहीं रह जाती, वह अधीर होकर अपनी लालसा प्रकट करता है—

एक लालसा मनमहँ धारूँ ।
बंसीवट, कालिन्दी-तट नटनागर नित्य निहारूँ ॥
मुरली-तान मनोहर सुनि सुनि तनु-सुधि सकल बिसारूँ ।
छिन-छिन निरखि झलक अँग-अंगनि पुलकित तन-मन वारूँ ॥
रिझऊँ स्याम मनाइ, गाइ गुन, गुंज-माल गल डारूँ ।
परमानन्द भूलि सगरी, जग स्यामहि स्याम पुकारूँ ॥

बस, यही तीव्रतम शुभेच्छा है !

आवश्यक साधन

'कल्याण'के पाठक बड़े-बड़े संतोंके अनुभूत वचनोंसे यह जान चुके हैं कि मनुष्यजीवनका परम लक्ष्य 'श्रीभगवान्'को या उनके 'अनन्यप्रेम'को प्राप्त करना है । वस्तुतः मुक्ति, मोक्ष, ज्ञान, सनातन शान्ति, परम आनन्द आदि सब इसीके पर्याय हैं । जीवन बहुत थोड़ा है और वह भी अनेक बाधा-विघ्नोंसे भरा हुआ है । आजकल तो चारों ओरसे ही विघ्न-बाधाओंकी और दुःख-कष्टोंकी मानो बाढ़-सी आ रही है । ऐसे आपद्-विपद्से पूर्ण क्षुद्र जीवनमें जो मनुष्य शीघ्र-से-शीघ्र अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान देकर सावधानीके साथ चलकर अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है, वही बुद्धिमान् है, उसीका जन्म सार्थक है और उसीका मनुष्यजीवन सफल है । याद रखना चाहिये, यह मनुष्यजीवन यदि यों ही व्यर्थकी बातोंमें बीत गया तो पीछे पछतानेके सिवा और कोई उपाय नहीं रह जायगा । इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी स्थितिपर विचार करके इस ओर लग जाना चाहिये । जो लगे हुए हैं, वे आगे बढ़ें; जो अभी नहीं लगे हैं, वे लगें और जल्दी लगें । आजकल मौत बहुत सस्ती हो रही है । कुछ लोग तो कहते हैं कि बहुत ही शीघ्र पृथ्वीमें मनुष्योंकी संख्या आधीसे भी अधिक घट जायगी । उस घटनेवाली मनुष्यसंख्यामें हमलोग भी तो होंगे । इसलिये और भी शीघ्र सजग होकर लग जाना चाहिये । विशेष कुछ न हो तो नीचे लिखे नियमोंका पालन स्वयं विचारपूर्वक करना चाहिये तथा अपने इष्ट मित्रोंसे करवाना चाहिये । रोज अपनी

रिपोर्ट लिखनी चाहिये और यदि हो सके तो अपने कुछ मित्रोंकी एक मण्डली बनाकर उसमें परस्पर रिपोर्ट सुनानी चाहिये और नियम-टूटनेपर दण्डविधान करना चाहिये। दण्ड पैसोंका न होकर नाम-जप आदि किसी साधनका ही होना चाहिये, जिसमें आगेसे नियम न टूटे और उत्साह भी न घटे। मण्डली हो, तो दण्डमें जबरदस्ती या पक्षपात न हो, इस बातका पूरा ध्यान रहे।

१–सूर्योदयसे पहले जग जाना।

२–प्रातःकाल जगते ही भगवान्का स्मरण करना।

३–दोनों समय भगवान्की प्रार्थना करना या संध्या करके गायत्रीका जाप करना।

४–कम-से-कम २१६०० भगवन्नामोंका जप नित्य कर लेना।

५–कम-से-कम आध घंटे उपनिषद्, गीता, रामायण या अन्य किसी भी पारमार्थिक ग्रन्थ या संतवाणीका स्वाध्याय करना या सत्सङ्ग करना।

६–जानकर किसीका बुरा न करना।

७–जानकर झूठ न बोलना।

८–पुरुष हो तो परस्त्रीको और स्त्री हो तो परपुरुषको बुरी नजरसे न देखना। न जानकर स्पर्श करना।

९–किसीकी निन्दा करनेसे बचना।

१०–भोजन, फलाहार और जलपानके समय भगवान्को याद करना। उन्हें मन-ही-मन अर्पण करके खाना-पीना।

११–दूसरेके हककी किसी चीजको न लेना, न उसपर मनको ही चलने देना।

१२—अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन कुछ दान करना ।

१३—हँसी-मजाक़ न करना ।

१४—माता-पिता आदि बड़ोंको प्रतिदिन प्रणाम करना ।

१५—सब जीवोंमें भगवान् हैं, सारा जगत् भगवान्से भरा है, सारा जगत् भगवान्से ही निकला है, भगवान्में ही है, इस बातको याद रखनेकी चेष्टा करना ।

१६—क्रोधके त्यागका अभ्यास करना । क्रोध आनेपर प्रत्येक बार सौ बार भगवान्का नाम लेकर उसका प्रायश्चित्त करना।

१७—किसी भी जीवसे घृणा न करना ।

१८—सोनेके समय प्रतिदिन भगवान्का स्मरण करना ।

१९—प्रतिज्ञापूर्वक नियमोंका पालन करना । और किसी नियमके टूट जानेपर दण्डकी व्यवस्था करना ।

२०—नियमोंके पालनका ब्यौरा रोज लिखना ।

यदि भगवत्प्राप्तिके लिये इन नियमोंके पालनका साधन होता रहेगा तो आशा है भगवत्कृपासे बहुत शीघ्र अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और आप भगवान्के प्रेमपथपर अग्रसर एक सच्चे साधक हो सकेंगे। संत-महात्माओंने बहुत तरहके साधनोंका वर्णन किया है और वे सभी साधन अधिकारभेदसे उत्तम हैं, परंतु अन्तःकरणकी शुद्धि प्रायः सभी साधनोंमें आवश्यक है, इसलिये उपर्युक्त साधनोंका अभ्यास सभीको करना चाहिये । इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और फिर यही परम साधन बनकर भगवत्प्राप्तिमें मुख्य हेतु बन जायँगे ।

दस प्रकारकी नौ-नौ बातें

(माननेकी और छोड़नेकी)

१—किसी व्यक्तिके घर आनेपर नौ अमृत खर्च करें—(१) मीठे वचन, (२) सौम्य दृष्टि, (३) सौम्य मुख, (४) सौम्य मन, (५) खड़े होना, (६) स्वागत पूछना, (७) प्रेमसे बातचीत करना, (८) पास बैठना और (९) जाते समय पीछे-पीछे जाना।

इससे गृहस्थकी उन्नति होती है।

२—दूसरोंको बहुत कम खर्चकी नौ वस्तुएँ गृहस्थोंको जरूर देनी चाहिये—(१) आसन, (२) पैर धोनेको जल, (३) यथाशक्ति भोजन, (४) जमीन, (५) बिछौना, (६) घास, (७) पीनेको जल, (८) तेल और (९) दीपक।

इनसे गृहस्थकी अभीष्टसिद्धि होती है ।

३—नौ बातें उन्नतिमें बाधक हैं; इसलिये उनका त्याग करना चाहिये—(१) चुगली या निन्दा, (२) परस्त्री-सेवन, (३) क्रोध, (४) दूसरेका बुरा करना, (५) दूसरेका अप्रिय करना, (६) झूठ, (७) द्वेष, (८) दम्भ और (९) जाल रचना ।

इनके त्यागसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है ।

४—नौ काम गृहस्थोंको रोज अवश्य करने चाहिये—(१) स्नान, (२) संध्या, (३) जप, (४) होम, (५) स्वाध्याय, (६) देवपूजन, (७) बलिवैश्वदेव, (८) अतिथिसेवा और (९) श्राद्ध-तर्पण ।

इनसे सुखकी प्राप्ति होती है ।

५—नौ बातें गृहस्थको गुप्त रखनी चाहिये—(१) जन्म-नक्षत्र, (२) मैथुन, (३) मन्त्र, (४) घरके छिद्र, (५) वञ्चना, (६) आयु, (७) धन, (८) अपमान और (९) स्त्री ।

इनके प्रकाश करनेसे अनेकों प्रकारकी हानियाँ होती हैं ।

६—नौ बातें गृहस्थको प्रकाश करनी चाहिये—(१) छिपकर किया हुआ पाप, (२) निष्कलंकता, (३) ऋणदान, (४) ऋणशोधन, (५) उत्तम वंश, (६) खरीद, (७) विक्री, (८) कन्यादान और (९) गुण-गौरव ।

इनसे गृहस्थकी उन्नति होती है ।

७—नौ जनोंको गृहस्थको जरूर दान देना चाहिये—(१) माता, (२) पिता, (३) गुरु, (४) दीन, (५) अनाथ, (६) उपकार करनेवाला, (७) सत्पात्र, (८) मित्र और (९) विनयशील ।

यह दान अनन्त फलदायक होता है ।

८—नौ आदमियोंको दान नहीं देना चाहिये—(१) खुशामदी, (२) स्तुति करनेवाला, (३) चोर, (४) कुवैद्य, (५) व्यभिचारी, (६) धूर्त, (७) शठ, (८) कुश्तीका पेशा करनेवाला और (९) अपराधी ।

इनको देनेसे कोई फल नहीं होता ।

९—नौ वस्तुओंको किसी हालतमें विपत्ति पड़नेपर भी नहीं देना चाहिये—(१) संतानके रहते सर्वस्व-दान, (२) पत्नी, (३) शरणागत, (४) दूसरेकी रक्खी हुई चीज, (५) बन्धक रक्खी हुई चीज, (६) कुलकी वृत्ति, (७) आगेके लिये रक्खी हुई चीज, (८) स्त्री-धन और (९) पुत्र ।

इनके देनेपर प्रायश्चित्त किये बिना शुद्धि नहीं होती ।

१०—ये नौ नवक अवश्य पालन करने योग्य हैं । इनसे सुख-समृद्धिकी वृद्धि होती है । अब एक नवक और है, जो धर्मरूप है और जिसके पालनसे अत्यन्त पारमार्थिक लाभ होता है ।

(१) सत्य, (२) शौच, (३) अहिंसा, (४) क्षमा, (५) दान, (६) दया, (७) मनका निग्रह, (८) अस्तेय और (९) इन्द्रियोंका निग्रह ।

इन दस नवकोंका पालन करनेसे लोक, परलोक दोनों बनते हैं ।

(स्कन्दपुराण-काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध)

मनुष्य-जीवनके कुछ दोष

कुसङ्गति, कुकर्म, बुरे वातावरण, खान-पानके दोष आदि अनेक कारणोंसे मनुष्यमें कई प्रकारके दोष आ जाते हैं, जो देखनेमें छोटे मालूम होते हैं, बल्कि आदत पड़ जानेसे मनुष्य उन्हें दोष ही नहीं मानता, पर वे ऐसे होते हैं, जो जीवनको अशान्त, दुःखी बनानेके साथ ही उन्नतिके मार्गको रोक देते हैं और उसे अधःपातकी ओर ले जाते हैं। ऐसे दोषोंमेंसे कुछपर यहाँ विचार करते हैं—

१—मुझे तो अपनेको देखना है—इस विचारवाले मनुष्यका स्वार्थ छोटी-सी सीमामें आकर गंदा हो जाता है। 'किस काममें मुझे लाभ है, मुझे सुविधा है', 'मेरी सम्पत्ति कैसे बढ़े', 'मेरा नाम सबसे ऊँचा कैसे हो,' 'सब लोग मुझे ही नेता मानकर मेरा अनुसरण कैसे करें',—इसी प्रकारके विचारों और कार्योंमें वह लगा रहता है। 'मेरे किस कार्यसे किसकी क्या हानि होगी', 'किसको क्या असुविधा होगी', 'किसका कितना मानभङ्ग होगा', 'किसके हृदयपर कितनी ठेस पहुँचेगी', 'कितने मेरे विरोधी बन जायँगे'—इन सब बातोंपर विचार करनेकी इच्छा गंदे स्वार्थी हृदयमें नहीं होती। वह छोटी-सी सीमामें अपनेको बाँधकर केवल अपनी ओर देखा करता है; फलस्वरूप उसके द्वारा अपमानित, क्षतिग्रस्त, असुविधाप्राप्त लोगोंकी संख्या सहज ही बढ़ती है, जो उसकी यथार्थ उन्नतिमें बड़ी बाधा पहुँचाते हैं।

२. भगवान् और परलोक किसने देखे हैं?—भगवान् और ... विश्वास न करनेवाला मनुष्य यों कहा करता है। ऐसा ... स्वेच्छाचारी होता है और किसी भी पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता

है। अमुक बुरे कर्मका फल मुझे परलोकमें—दूसरे जन्ममें भोगना पड़ेगा या अन्तर्यामी सर्वव्यापी भगवान् सब कर्मोंको देखते हैं, उनके सामने मैं क्या उत्तर दूँगा—इस प्रकारके विश्वासवाला मनुष्य सबके सामने तो क्या, छिपकर भी पाप नहीं कर सकता। पर जिसका ऐसा विश्वास नहीं है, वह केवल कानूनसे बचनेका ही प्रयत्न करता है। उसे न तो बुरे कर्मसे—पापसे घृणा है, न उसे किसी पारलौकिक दण्डका भय है। आजकलकी घूसखोरी-चोरबाजारीका प्रधान कारण यही है। और जबतक यह अविश्वास रहेगा, तबतक कानूनसे ऐसे पाप नहीं रुक सकते। पापोंके रूप बदल सकते हैं पर उनका अस्तित्व नहीं मिटता। और जब मनुष्यका जीवन इस प्रकार पापपङ्कमें स्वेच्छापूर्वक फँस जाता है, तब उसकी उन्नति कैसे हो सकती है? वह तो वस्तुतः अवनतिको ही—अधःपातको ही उन्नति और उत्थान मानता है। ऐसे मनुष्यको इस लोकमें दुःख प्राप्त होता है और भजन-ध्यानकी उससे कोई सम्भावना ही नहीं रहती। अतः मनुष्य-जीवनके परम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे भी वह वञ्चित ही रहता है। उसे भविष्यमें बार-बार आसुरी योनि और अधमगति ही प्राप्त होती है।

भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। २०)

३. मेरा कोई क्या कर लेगा?—संसारमें सभी मनुष्य सम्मान चाहते हैं। जो मनुष्य ऐंठमें रहता है दूसरोंको सम्मान नहीं देता, कहता है, 'मुझे किसीसे क्या लेना है, मैं किसीकी क्यों परवा करूँ,

मेरा कोई क्या कर लेगा !' वह इस अभिमानके कारण ही अकारण लोगोंको अपना वैरी बना लेता है । दूसरोंकी तो बात ही क्या, उसके घरके और बन्धु-बान्धव भी उसके पराये हो जाते हैं । वह अभिमानवश स्वयं किसीकी परवा नहीं करता, किसीके सुख-दुःखमें हिस्सा नहीं बँटाता और उनसे अपनेको पुजवाना चाहता है । फलस्वरूप सभी उससे घृणा करने लगते हैं और उसके द्वेषी बन जाते हैं । वह इसे अपना आत्मसम्मान (Dignity) मानता है, पर होती है यह उसकी मूर्खता । इस प्रकारका अभिमान उसे सबसे बहिष्कृत—अकेला असहाय बना देता है और इससे उसकी उन्नति रुक जाती है ।

४. क्या करूँ, मैं तो निरुपाय हूँ, मुझसे ऐसा नहीं हो सकता—इस प्रकार आत्मविश्वास और आत्म-श्रद्धासे विहीन मनुष्य निरन्तर निराशा, विषाद, शोकमें निमग्न और अकर्मण्य-सा बना रहता है । 'पाप हैं पर मुझसे वे नहीं छूट सकते', 'मुझमें अमुक दोष है पर मैं उससे लाचार हूँ', 'काम तो बहुत उत्तम है पर मैं उसे कैसे कर सकता हूँ', 'भगवान् हैं, महात्माओंको मिलते होंगे । पर मुझको क्यों मिलने लगे !' 'भजन करना अच्छा है पर मुझसे तो बन ही नहीं सकता',—इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रमें उत्साहहीन होकर जीवनयापन करनेवाला मनुष्य न तो कभी उत्तम आरम्भ कर सकता है और न जीवनके किसी भी क्षेत्रमें सफलता ही पा सकता है ।

५. मेरा कोई नहीं है, सभी मुझसे घृणा करते हैं—अपनेमें हीनताकी भावना करते-करते मनुष्यको ऐसा दीखने लगता है कि मुझसे सभी घृणा करते हैं । यों सोचते-सोचते वह स्वयं भी अपनेसे घृणा करने लगता है । और अपनेको किसी भी योग्य न समझकर

मुँह छिपाता फिरता है; 'कोई मुझे देख न ले, देखेगा तो घृणा करेगा।' यों किसीके सामने आकर कुछ भी करनेका साहस उसका नहीं होता। ऐसा मनुष्य प्रायः घुल-घुलकर रोता हुआ मरता है।

६. मैं तो बस, दुःख भोगनेके लिये ही पैदा हुआ हूँ—बात-बातमें चिढ़नेवाले और जरा-जरा-सी प्रतिकूलतापर दुःख माननेवाले पुरुषका सारा पौरुष चिढ़ने, अंदर-ही-अंदर जलने और दुःख भोगनेमें ही समाप्त हो जाता है। उसका दुःखदर्शी चिड़चिड़ा स्वभाव उसे पल-पलमें दुःखी करता है। बिना हुए ही उसे दीखता है कि 'अमुक मुझे चिढ़ा रहा है। अमुक मुझे दुःख देनेके लिये ही हँस रहा है।' 'मुझपर दुःख-ही-दुःख आ रहे हैं।' 'मैं सुखी होनेका ही नहीं, मेरे भाग्यमें तो बस दुःख-क्लेश ही बदा है।' इस प्रकार कल्पित दुःखके घोर जंगलमें वह अपनेको घिरा पाता है। ऐसे मनुष्योंमें कई पागल हो जाते हैं। कुछ आत्महत्यापर उतारू हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य गम्भीरतासे किसी विषयपर विचार नहीं कर पाते, दिन-रात दुःखचिन्तनमें और सभीको दुःख देनेवाले मानकर उनसे द्वेष करनेमें लगे रहते हैं। उदासी, निराशा, मुर्दनी, क्रोध, उद्विग्नता, मस्तिष्कविकृति, उन्माद आदि दोष इन लोगोंके नित्य सङ्गी बन जाते हैं।

७. जगत्‌में कोई अच्छा है ही नहीं—दोष देखते-देखते मनुष्यकी इस प्रकारकी आँखें बन जाती हैं कि बिना हुए भी उसको सबमें दोष ही दिखायी देते हैं। वैसे ही, जैसे हरा चश्मा लगा लेनेपर सब चीजें हरी दिखायी देती हैं। उसे फिर कोई अच्छा दीखता ही नहीं। महापुरुष और भगवान्‌में भी उसे दोष ही दीखते हैं। उसका निश्चय हो जाता है कि जगत्‌में कोई भला है ही नहीं। अतएव वह स्वयं

भी भला नहीं रह सकता। दिन-रात दोषदर्शन और दोषचिन्तन करते-करते वह बाहर और भीतरसे दोषोंका भंडार बन जाता है।

८. लोग मुझे अच्छा समझें—इस भावनावाले मनुष्यमें दम्भकी प्रधानता होती है। वह अच्छा बनना नहीं चाहता, अपनेको अच्छा दिखलाना चाहता है। यों जगत्‌को ठगने जाकर वह आप ही ठगा जाता है। उसके जीवनसे सचाई चली जाती है। लोग जिस प्रकारके वेष-भाषासे प्रसन्न होते हैं, वह उसी प्रकारका वेष धारण करके वैसी ही भाषा बोलने लगता है। उसके मनमें न खादीसे प्रेम है, न गेरुआसे और न नाम-जपसे। पर अच्छा कहलानेके लिये वह खादी पहन लेता है, गेरुआ धारण कर लेता है और माला भी जपने लगता है। पर ऐसा करता है दूसरोंके सामने ही, जहाँ उनसे बड़ाई मिलती है। और यदि इनके विरोध करनेपर लोग भला समझेंगे तो वह इन्हींका विरोध भी करने लगेगा। उसका प्रत्येक कार्य दम्भ और छल-कपटसे भरा होगा।

९. मैं न करूँगा तो सब चौपट हो जायगा—यह भी मनुष्यके अभिमानका ही एक रूप है। वह समझता है कि बस, 'अमुक कार्य तो मेरे किये ही होता है। मैं छोड़ दूँगा तो नष्ट हो जायगा। मेरे मरनेके बाद तो चलेगा ही नहीं।' ऐसे विचार दूसरोंके प्रति हीनता प्रकट करते हैं और उनके मनमें द्रोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। संसारमें एक-से-एक बढ़कर प्रतिभाशाली पुरुष पैदा हुए हैं—होते हैं। तुम अपनेको बड़ा मानते हो, पर कौन जानता है कि तुमसे कहीं अधिक प्रभाव तथा गुणसम्पन्न संसारमें कितने हैं, जिनके सामने तुम कुछ भी नहीं हो। किसी पूर्वजन्मके पुण्यसे अथवा

भगवत्कृपासे किसी कार्यमें कुछ सफलता मिल जाती है तो मनुष्य समझ बैठता है कि 'यह सफलता मेरे ही पुरुषार्थसे मिली है, मेरे ही द्वारा इसकी रक्षा होगी । मैं न रहूँगा तो पता नहीं, क्या अनर्थ हो जायगा ।' यों कहकर उसका अभिमान नाच उठता है । और जहाँ मनुष्यने अभिमानके नशेमें नाचना आरम्भ किया कि चक्कर खाकर गिरा !

१०. अपनेको तो आरामसे रहना है—यह इन्द्रियाराम विलासी पुरुषोंका उद्गार है । पैसा पासमें चाहे न हो, चाहे यथेष्ट आय न हो, चाहे कर्जका बोझ सिरपर सवार हो, पर रहना है आरामसे । आजकल चला है उच्चस्तरका जीवन—(High standard of living) इसका अर्थ है—स्वाद-शौकीनी-विलासिता, फिजूल-खर्ची और झूठी शानकी गुलामी । सादा धोती-कुर्ता पहनिये तो निम्नस्तर है—कोट-पतलून उच्चस्तर है । जूते उतारकर हाथ-पैर धोकर फर्शपर बैठकर हाथसे खाइये तो निम्नस्तर है—टेबलपर कपड़ा बिछाकर बिना हाथ-मुँह धोये, जूते पहने, कुर्सीपर बैठकर सबकी जूँठन खाना उच्चस्तर है । कुएँपर या नदीमें नदीकी मिट्टी मलकर नहाना और सादे कपड़े पहनना निम्नस्तर है—पाखानेमें नंगे होकर टबमें बैठकर साबुन-क्रीम आदि लगाकर झरते हुए नलसे नहाना—उच्चस्तर है; अपनी हैसियतके अनुसार साधारण साग-सब्जीके साथ दाल-रोटी खाना निम्नस्तर है और किसी प्रकारसे प्राप्त करके चाय-बिस्कुट खाना, अंडे खाना, शराब पीना और कबाब उड़ाना उच्चस्तर है । घरमें कथा-कीर्तन करना निम्नस्तर है और सिनेमा देखना उच्चस्तर है । सीधे-सादे व्यापार-व्यवहारसे थोड़ी जीविका उपार्जन करना निम्नस्तर है और

होना और अभिमान त्यागकर दीन बनना नहीं चाहते। गीतामें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे स्थान-स्थानपर इसी अनन्याश्रयतापर जोर दिया है और अनन्याश्रयी अशरण भक्तको शरण देकर उसका योगक्षेम स्वयं वहन करने और उसे सर्वपापोंसे मुक्तकर प्रेम प्रदान करने और भव-सागरसे अति शीघ्र तारनेकी प्रतिज्ञाएँ की हैं। तनमें, मनमें, बुद्धिमें दूसरेके लिये स्थान ही नहीं होना चाहिये। जो स्त्री अपने प्रेमका जरा-सा भी भाग पति-बुद्धिसे किसी दूसरेको देती है, वह व्यभिचारिणी है। अव्यभिचारिणी तो वह है जिसके पति-प्रेमका पूरा अधिकारी एकमात्र पति ही है। इसी प्रकार जो अपने एकमात्र स्वामी भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसी आश्रयसे सुख चाहता है और वह भगवान्‌का भक्त भी बनता है, उसकी भक्ति व्यभिचारिणी है। कबीरजी कहते हैं—

> कबिरा काजर-रेख भी अब तो दई न जाय।
> नैननि प्रीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय॥

आँखोंमें काजलकी रेखतक लगानेकी गुंजाइश नहीं रही। कारण उनमें सर्वत्र एकमात्र प्रियतम ही रम रहा है, दूसरेके लिये स्थान ही नहीं! जब स्थूल आँखकी यह गति होती है, तब मनके लिये तो कहना ही क्या है। इसलिये भगवान्‌के प्रेमी भक्त मोक्ष भी नहीं चाहते। यदि वे मोक्ष चाहें तो उनकी शरणागतिमें व्यभिचार हो जाय; वे पूरे अशरण न रहें और अशरण हुए बिना भगवान्‌के शरण-[illegible]स्वीकार नहीं मिल सकता। श्रीभगवान्‌ने इसीलिये स्पष्ट आज्ञा

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अशरण-शरण

भगवान् अशरणके शरण हैं, जो सब कुछ होते हुए भी अपने
नसे सबकी शरण छोड़ देता है वही भगवान्‌की शरण पानेका
अधिकारी होता है। जबतक वह धन, जन, प्रभुत्व, विद्या, बुद्धि,
ाधन, पुरुषार्थ, कर्म, योग, ज्ञान, मनुष्य, यक्ष, देवता आदिका आश्रय
ठेये रहता है, तबतक भगवान्‌का अनन्याश्रयी नहीं होता। कभी
गवान्‌की प्रार्थना करता है; कभी अन्य किसी देवताको मनाता है,
भी दान-पुण्यके फलसे परम सुख पाना चाहता है, कभी सिद्धियोंके
मत्कारसे आनन्द लूटना चाहता है और कभी साधनके बलपर भव-
ागरसे तरना चाहता है। ऐसी अवस्थामें वह भगवान्‌से भी उतना
ी आश्रय पाता है जितना वह उनसे चाहता है। परंतु जब वह
बका आश्रय छोड़कर एकमात्र भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है तब
वान् भी उस अनन्याश्रयी भक्तकी सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले
ते हैं। जगत्‌का भरोसा रखनेवाले लोग न तो इस स्थितिके सुखका
नुमान ही कर सकते हैं और न ऐसा बनना ही चाहते हैं; इसीसे
बारंबार एक दुःखके बाद दूसरे दुःखसे पीड़ित होते और विविध
ारके तापोंसे जलते रहते हैं। वे लोग भगवान्‌को अशरण-शरण
र दीनबन्धु तो कहते हैं परंतु स्वयं जगत्‌की शरण छोड़कर अशरण

होना और अभिमान त्यागकर दीन बनना नहीं चाहते। गीतामें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे स्थान-स्थानपर इसी अनन्याश्रयतापर जोर दिया है और अनन्याश्रयी अशरण भक्तको शरण देकर उसका योगक्षेम स्वयं वहन करने और उसे सर्वपापोंसे मुक्तकर प्रेम प्रदान करने और भवसागरसे अति शीघ्र तारनेकी प्रतिज्ञाएँ की हैं। तनमें, मनमें, बुद्धिमें दूसरेके लिये स्थान ही नहीं होना चाहिये। जो स्त्री अपने प्रेमका जरा-सा भी भाग पति-बुद्धिसे किसी दूसरेको देती है, वह व्यभिचारिणी है। अव्यभिचारिणी तो वह है जिसके पति-प्रेमका पूरा अधिकारी एकमात्र पति ही है। इसी प्रकार जो अपने एकमात्र स्वामी भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसी आश्रयसे सुख चाहता है और वह भगवान्‌का भक्त भी बनता है, उसकी भक्ति व्यभिचारिणी है। कबीरजी कहते हैं—

> कबिरा काजर-रेख भी अब तो दई न जाय।
> नैननि प्रीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय॥

आँखोंमें काजलकी रेखतक लगानेकी गुंजाइश नहीं रही —
उनमें सर्वत्र एकमात्र प्रियतम ही रम रहा है, दूसरेके लिये
नहीं! जब स्थूल आँखकी यह गति होती है, तब मनके
कहना ही क्या है। इसीलिये भगवान्‌के प्रेमी भक्त मोक्ष
चाहते। यदि वे मोक्ष चाहें तो उनकी शरणागतिमें व्यभि
जाय; वे पूरे अशरण न रहें और अशरण हुए बिना भगवान्‌
का अधिकार नहीं मिल सकता। श्रीभगवान्‌ने इसीलिये स्प
दी है—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

'सब धर्मोंको यानी सब प्रकारके कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मेरी शरणमें आ जा' ऐसे शरणप्राप्त भक्त त्रिभुवनका साम्राज्यविभव मिलनेपर भी आधे पलके लिये भगवान्‌को भुलाना नहीं चाहते; क्योंकि उन्हें एकमात्र भगवान्‌के सिवा अन्य किसीके आश्रयसे सुख नहीं मिलता। बात भी वस्तुतः यही है। जो स्वयं विनाशी है, वह अविनाशी पूर्ण सुख कैसे दे सकता है, जगत्‌की सारी वस्तुएँ विनाशी हैं, सारे साधन साध्यकी प्राप्ति होनेपर नष्ट हो जाते हैं, फिर उनसे कभी नष्ट न होनेवाली स्थिति कैसे मिल सकती है? जो स्वयं अधूरा है वह दूसरेको पूरा कैसे बना सकता है? फिर बुद्धिमान् पुरुषको ऐसे पदार्थोंका आश्रय क्यों ग्रहण करना चाहिये? इसीलिये मीरा पुकार उठी थी—

> ऐसे बरको क्या बरूँ जो जनमै और मर जाय।
> बर बरिये एक साँवरो मेरो चुड़लो अमर हो जाय॥

सदा सुहागिन तो वही रह सकती है जिसका स्वामी अमर हो। अमर एक भगवान् हैं, इसलिये उन्हींको पतिरूपमें बरणकर जीवरूप स्त्री सदाके लिये सौभाग्य प्राप्त कर सकती है। विषयोंका सुहाग कितने दिनका। आज है कल नहीं। पलक मारते-मारते विषय ध्वंस हो जाते हैं, उनपर आस्था रखनेवाला पुरुष कदापि सुखी नहीं हो सकता। इसलिये उनका आश्रय त्यागकर एकमात्र उन परमात्मदेवका आश्रय ग्रहण करना चाहिये, जो नित्य, अचल, ध्रुव, सनातन, सर्वसुखाकर और परमानन्दरूप हैं। वह आश्रय दूसरे सारे आश्रयोंको छोड़नेसे ही मिल सकता है। जिस किसीने जगत्‌का

आसरा छोड़कर भगवान्‌की शरण चाही, उसीके मस्तकपर उनका अभय हस्त स्थापित हो गया। फिर वह सदाके लिये निश्चिन्त हो गया, मौज पा गया, मस्त हो गया, अशरण-शरण भगवान्‌की गोदमें पहुँचकर धन्य हो गया। इसके बाद चाहे सारा विश्व बदल जाय, उसको कुछ भी सुख-दुःख नहीं होता। वह द्वन्द्वातीत और नित्य आनन्दमय बन गया। स्वामी रामके मतवाले शब्दोंमें उस प्रेममें डूबे हुए निश्चिन्त निर्भय मौजी भक्तकी स्थिति सुनिये—

> बादशाह दुनियाँके हैं मुहरे मेरी शतरंजके।
> दिल्लगीकी चाल है, सब रंग सुलहो-जंगके॥
> रक्शे शादीसे मेरे जब काँप उठती है जमीं।
> देखकर मैं खिलखिलाता, कहकहाता हूँ वहीं॥

वह भक्त परमात्माकी शरण पाकर तद्रूप हो जाता है। उसमें और उसके स्वामीमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। स्वामीका गोत्र ही सेवकका गोत्र और स्वामीकी सत्ता ही सेवककी सत्ता होती है। गुसाईंजी कहते हैं—

> मेरे जाति-पाँति न चहौं काहूकी जाति-पाँति,
> मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको।
> लोक परलोक रघुनाथहीके हाथ सब,
> भारी है भरोसो तुलसीके एक नामको॥
> अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
> साहिबको गोत, गोत होत है गुलामको।
> साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
> का काहूके द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको॥

हमारा पाप

एक शिक्षित सज्जनने लम्बा पत्र लिखा है, उसमें उन्होंने बड़े दुःखके साथ एक घटनाका वर्णन किया है। उनके पत्रका सार है—"मैं अपने कुछ मित्रों और उनकी पत्नियोंके साथ, बड़ी प्रशंसा सुनकर एक महात्माके पास गया। वहाँ जानेपर उनकी बहुत बड़ाई सुनी। भक्तलोग उनको साक्षात् भगवान्‌का अवतार बतलाते थे। महात्माजी विशेष पढ़े-लिखे तो नहीं थे, परंतु उनके उपदेश बहुत आकर्षक होते थे। वे अपने उपदेशोंमें शरणागति, समर्पण और गुरु-सेवापर बड़ा जोर देते। हमने देखा—बहुत-से नर-नारी बड़ी श्रद्धाके साथ उनकी सेवा करते हैं। हमारी भी इच्छा हुई। हमलोगोंने उनसे वैष्णवी दीक्षा ली और परम कल्याणकी आशासे वहीं रहकर उनकी सेवा करने लगे। हमलोगोंमें एक सज्जनको उन्होंने अपने अन्तरङ्ग सेवकोंमें ग्रहण कर लिया। उन सज्जनने उनकी कई बातें संदेहजनक देखीं; परंतु श्रद्धाके कारण उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। उनकी नवयुवती पत्नी भी महात्माजीके द्वारा दीक्षा प्राप्त कर चुकी

थी । वे उसको गुरुजीके पास उपदेश-ग्रहणके लिये भेजते । किसीके मनमें कोई सन्देह था ही नहीं । एक दिन उन महात्माजीने एकान्तमें उस देवीके साथ गंदी चेष्टा की । लड़कीने पहले तो समझा कि गुरुजी उसकी परीक्षा कर रहे हैं; परंतु जब बात आगे बढ़ी तो वह बेचारी काँप गयी और किसी तरह वहाँसे भाग आयी । उसके पतिको सब हाल मालूम हो गया । बात फूटनेपर महात्माजीने उन दोनोंसे एकान्तमें क्षमा माँगी और यहाँतक कहा कि 'हम तो इन धनियोंको उल्लू बनाकर अपना मतलब साधा करते हैं । तुमसे बड़ी आशा थी, परंतु अब हमारी यह बात किसीसे कहना मत । नहीं तो हमारी बड़ी अप्रतिष्ठा हो जायगी ।' महात्माजीने और भी एक नवयुवती स्त्रीके साथ ऐसी ही चेष्टा की और पता लगनेपर कह दिया कि हम तो उसकी परीक्षा करते थे । पत्र-लेखकका कहना है कि ये महात्मा भगवान्के नामपर भयंकर अनाचार फैला रहे हैं । लोगोंका धन और भले घरोंकी देवियोंका शील हरण कर रहे हैं ।

पत्रमें लिखी घटना यदि सत्य है तो बड़ी भयानक है, परंतु इसमें आश्चर्यकी बात कुछ भी नहीं है । ऐसी घटना विरली ही नहीं होती । आये दिन ऐसी, और इससे भी अधिक भयानक घटनाओंके समाचार सुने और पढ़े जाते हैं । अधिकांश घटनाएँ तो प्रकाशमें ही नहीं आतीं । इसका कारण यह है कि हमलोगोंमें वस्तुतः भगवत्परायण पुरुष बहुत ही थोड़े हैं, सब इन्द्रियपरायण ही हैं । इसीसे आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक—सभी क्षेत्रोंमें ऐसे पाप होते हैं । शिक्षालय, त्यागी पुरुषोंके आश्रम,

सदाचारके स्थान और विधवाश्रम आदि पवित्र स्थान भी इस दोषसे नहीं बचे हैं। वनवासी त्यागी पुरुषोंके मनोंमें भी सङ्गदोषसे विकार पैदा हो जाते हैं, फिर आजकलके दूषित वातावरणमें रहनेवाले इन्द्रियपरायण लोगोंके जीवनमें ऐसा हो जाना कोई अस्वाभाविक नहीं है। दुःखकी बात तो यह है—कुछ लोग जान-बूझकर महात्मा, संत या साधुके वेषमें दुराचार करते हैं और परमार्थ-पथके बदले अपने साथ ही अपने पास आनेवाले नर-नारियोंको भी नरकके मार्गपर घसीट ले जाते हैं। असलमें यह महात्मा या साधुसमाजका, वैष्णवादि किसी सम्प्रदायका दोष नहीं है। दोष तो उन दाम्भिक मनुष्योंका है, जो ऊपरसे महात्मा, साधु या भक्त बनकर, उद्धारक और सहायकका बाना पहनकर, सच्चे महात्मा, भक्त और सहायकोंको भी संदेहास्पद बना देते और बदनाम करते हैं। सबसे बड़ी दुःखकी बात तो यह है कि भगवान्‌के नामपर भी ऐसा होता है! और-और कारणोंके साथ ही नास्तिकताकी वृद्धिका यह भी एक प्रबल कारण है। यह बड़ा पाप है जो लोगोंके मनमें भगवान्‌के मार्गमें अविश्वास पैदा करवाकर उन्हें नास्तिकताकी ओर ले जाता है। इसके लिये, जो झूठा स्वाँग बनाकर अपना स्वार्थ-साधन करते हैं उनसे तो कुछ कहना ही नहीं है, वे हमारी बात क्यों सुनने लगे। जबतक उनके पापका भण्डा नहीं फूटेगा, तबतक वे तो अपना काम चलाना ही चाहेंगे। विधि-निषेधके परे पहुँचे हुए जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे भी कुछ कहना हमारे लिये अनधिकार चर्चा है। उनसे तो इतनी ही प्रार्थना है कि लोकसंग्रहकी दृष्टिसे उनको भी शास्त्रमर्यादाका पालन ही करना चाहिये। हमारी प्रार्थना तो उन भोले साधकोंसे है जो यथार्थमें

भगवान्‌के मार्गकी ओर बढ़नेकी इच्छा रखते हुए भी कुसङ्गवश या पूजा-प्रतिष्ठाके लोभमें पड़कर धन और स्त्रियोंके संसर्गमें आकर उनके प्रलोभनमें पड़ जाते हैं और आखिर पापपङ्कमें पड़कर उसमें फँस जाते हैं, तथा अपनी ही भूलसे अपने जीवनको दोषमय बनानेका कारण बनते हैं। उन्हें सावधान होना चाहिये। वे विलासिता तथा इन्द्रियोंके आरामकी ओर न ताककर संयम-नियमोंका दृढ़ताके साथ पालन करें और जहाँतक हो—धन और स्त्रीके संसर्गसे अपनेको बचाये रक्खें। चुपचाप अपना साधन करें। किसीको भी शिष्य न बनावें। कम-से-कम स्त्रियोंको तो कभी शिष्य बनावें ही नहीं। किसी स्त्रीसे एकान्तमें तो कभी मिलें ही नहीं।

दूसरे, हम उन भाइयोंसे प्रार्थना करते हैं जो अपनी स्त्रियों और बहिन-बेटियोंको दीक्षा, उपदेश आदिके लिये एकान्तमें किन्हींके पास भेजते हैं। याद रखना चाहिये कि इन्द्रियोंपर सर्वथा विजय पाये हुए पुरुष बहुत थोड़े ही होते हैं। एकान्तमें स्त्री-पुरुषका एक साथ रहना बड़े-बड़े संयमी पुरुषोंके लिये भी पतनका कारण होता है। जो अपने घरकी स्त्रियोंको इस प्रकार एकान्तमें भेजते हैं, उनके घरमें तो पाप आता ही है, वे उन साधकों और महात्माओंके भी पतनमें सहायक होते हैं। अन्तमें हम अपनी माता-बहिन और पुत्रियोंसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं—वे इस बातका ध्यान रक्खें कि आजकलका वातावरण बहुत ही बिगड़ा हुआ है। कोई कितना भी सात्त्विक स्वभावका आदमी हो—है तो वह इसी वातावरणमें [illegible] मनुष्य ही न! पता नहीं कब किसकी बुद्धिमें विकार आ

जाय। दूसरी बात, ऐसे लोग भी कम नहीं हैं जो वास्तवमें असाधु होनेपर भी साधु या भक्त सजे हुए हैं और जिस किसी प्रकारसे अपनी पाप-वासनाकी पूर्ति करना चाहते हैं। अतएव किसी भी पुरुषसे, चाहे वह कितना ही बड़ा महात्मा या भक्त क्यों न माना जाता हो,—एकान्तमें नहीं मिलना चाहिये। युवती स्त्रियोंके लिये किसी भी पुरुषको गुरु बनाकर उनसे एकान्तमें दीक्षा लेना और मिलना सर्वथा अनुचित है। सधवा स्त्रियोंके गुरु उनके पति हैं। भगवान् तो सभीके गुरु हैं। अतएव सधवा, विधवा सभीको चाहिये कि वे श्रीभगवान्‌को गुरु बनाकर उन्हींके मन्त्रसे दीक्षित हों और उनके आज्ञानुसार शास्त्र-मर्यादाको मानकर अपने गृहस्थधर्मका पालन करती हुई अपने जीवनको सफल बनावें।

धर्म और भगवान्‌के नामपर भी जब यहाँतक होने लगा है तब सहशिक्षा, युवतीविवाह, सिनेमाओंमें अभिनय आदिका परिणाम कितना भयंकर होगा, भगवान् ही जानें!

पत्रलेखक महोदयसे निवेदन है कि वे इस घटनाको शिक्षारूप समझें। उनमें साहस हो तो सच्ची बातको प्रकाशित कर दें और ऐसा करनेमें कोई विपत्ति आवे तो उसको खुशीसे सहन करें। इस घटनासे उन्हें जो वैष्णव-सम्प्रदाय और वैष्णव-चिह्नोंसे घृणा हो चली है सो ठीक नहीं है। जो लोग वैष्णव-सिद्धान्तके विरुद्ध पापाचार करते हैं, वे तो वस्तुतः वैष्णव ही नहीं हैं। उनके दोषसे सम्प्रदायको दोषी मानना और उसके चिह्नोंसे घृणा करना उचित नहीं है।

पिता-पुत्रका कल्याणकारी संवाद

प्राचीन कालमें किसी एक स्वाध्याय-सम्पन्न ब्राह्मणके मेधावी नामक एक बहुत ही बुद्धिमान् पुत्र था। मोक्षधर्ममें कुशल उस पुत्रने अपने वेदपाठी पिताको मोक्ष-लाभसे वञ्चित देखकर कहा—'पिताजी! मनुष्यकी आयु क्षण-क्षणमें क्षय हो रही है। यह जानकर बुद्धिमान् पुरुषको क्या करना चाहिये, आप मुझे बतलाइये।'

पिताने कहा—'वत्स! मनुष्यको पहले ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके वेद पढ़ना चाहिये, फिर पितरोंको तारनेके लिये पुत्र उत्पन्न करना चाहिये, तदनन्तर अग्निस्थापनपूर्वक यज्ञादि करने चाहिये और अन्तमें वनमें जाकर मुनिवेष धारण करना चाहिये।'

पुत्रने कहा—'पिताजी! जब लोग सब ओरसे नष्ट हुए चले जा रहे हैं, चारों ओरसे अव्यर्थ आपत्तियाँ आ रही हैं, तब आप यह शान्त समयकी-सी निश्चिन्त बातें किस तरह कर रहे हैं!'

पिताने कहा—'वत्स! मनुष्योंका कैसा नाश हो रहा है, किसने इनपर चढ़ाई की है और कौन-सी अव्यर्थ विपत्तियाँ आ पड़ी हैं, तू ऐसी बातोंसे मुझको क्यों डरा रहा है?'

पुत्रने कहा—'पिताजी! मृत्यु मनुष्यका संहार कर रही है। बुढ़ापेने चढ़ाई कर रखी है। ये दिन-रात नयी-नयी आपत्तियाँ आ रही हैं, तब भी आप क्यों नहीं जागते! जब मैं यह जानता हूँ कि मृत्यु तनिक भी नहीं ठहरती, हमें तैयार होनेके अवसरका भी मौका नहीं देती, उसी क्षण जीवको धर घसीटती

तब यह जानकर भी मैं कैसे उसकी प्रतीक्षा करूँ ? जैसे थोड़े जलके तालावमें रहनेवाली मछलीको सुख नहीं मिलता, ऐसे ही हर रातको जिसकी उम्र घट रही है उस मनुष्यको कैसे सुख मिल सकता है ! जैसे माली पेड़ोंसे फूलोंको तोड़ लेता है वैसे ही मनुष्यका मन चाहे जहाँ विचर रहा हो; उसका काम चाहे अधूरा पड़ा हो, मौत उसे पकड़कर ले ही जाती है । अतएव कल करनेके कामको आज, और तीसरे पहरके कामको अभी कर डालना चाहिये; क्योंकि मृत्यु यह नहीं देखती कि इसने यह काम किया है या नहीं किया है । इसलिये जो काम हमारे कल्याणका हो उसे अभी ही कर डालना चाहिये । समय नहीं खोना चाहिये, न मालूम कब किसकी मृत्यु हो जाय ! काम भले ही अधूरे पड़े हों, मृत्यु जीवको खींच ले जाती है, अतएव बुढ़ापेकी बाट न देखकर अभी जवानीमें ही धर्म कमा लेना चाहिये; क्योंकि जीवनका कोई भरोसा नहीं है । धर्मके आचरणसे इस लोक और परलोकमें सुख मिलता है । मोहसागरमें डूबा हुआ मनुष्य धर्म और अधर्मका ध्यान छोड़कर दिन-रात स्त्री-पुत्रोंको ही संतुष्ट रखनेमें लगा रहता है, ऐसे पुत्र और पशु आदिसे सम्पन्न विषयासक्त मनुष्यको काल वैसे ही अचानक बहा ले जाता है जैसे जलकी बाढ़ सुखसे सोते हुए बाघको । नाना प्रकारके मनोरथोंमें फँसे हुए भोगोंसे अतृप्त मनुष्यको काल वैसे ही घसीटकर ले जाता है जैसे मेंढकके बच्चेको बाघिन ले जाती है । मनुष्य इस उधेड़-बुनमें ही लगा रहता है कि मैंने यह कार्य कर लिया, यह करना बाकी है, यह काम आधा हो गया है, बस आधा ही शेष है, इतनेमें ही मृत्यु उसके किसी भी कामका तनिक-सा भी विचार न

पर, मनुष्यको किये हुए धर्मका फल मिलनेके पहले ही पकड़कर ले जाती है। मकान बन रहा है, बहुत-सा बन चुका है, उसमें रहनेका मौका आता ही नहीं, और मनुष्यको मौतका शिकार बन जाना पड़ता है। मनुष्य चाहे खेतमें हो या बाजारमें, दूकानमें या घरमें काम करता हो, दुर्बल हो या बलवान् हो, मूर्ख हो या बुद्धिमान् हो, कायर हो या शूरवीर हो, चाहे उसकी एक भी इच्छा पूरी न हुई हो, समय आनेपर मृत्यु उसको पकड़कर ले ही जाती है। मनुष्य मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और अन्य अनेकों कारणोंसे उत्पन्न दुःखोंके पंजेसे छूट ही नहीं सकता। इतनेपर भी पिताजी! आप निश्चिन्त-से होकर कैसे बैठे हैं? प्राणी जबसे जन्म लेता है, तभीसे काल और जरा उसका विनाश करनेके लिये उसके पीछे लगे रहते हैं। बुढ़ापा मृत्युकी सेना है और विषयासक्ति मृत्युका मुँह है। अरण्य देवताओंका स्थान है और ग्राममें रहनेकी इच्छा अर्थात् भोगकी इच्छा बन्धन करनेवाली रस्सी है। पुण्यवान् पुरुष इस रस्सीको काटकर मुक्ति पाते हैं। पापी पुरुष इस बन्धन-रज्जुको नहीं काट सकते।

जो पुरुष मन, वाणी और शरीरसे किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, जो किसीके भी जीविकाके साधनोंका नाश करके किसीको कष्ट नहीं पहुँचाता, उस पुरुषकी कोई हिंसा नहीं करता। अतएव बुद्धिमान् पुरुषको सत्य बोलना चाहिये, सत्य आचरण करना चाहिये, सत्यपरायण रहना चाहिये और सत्यकी ही कामना करनी चाहिये। सब प्राणियोंमें और सब स्थितियोंमें समभाव रखना, इन्द्रियोंका दमन करना और सत्यके द्वारा मृत्युको जीतना चाहिये। अमृत और मृत्यु

नों हमारे साथ हैं । विषयोंमें मोहसे मृत्यु होती है और सत्यसे
ह्रूप अमृतकी प्राप्ति होती है । अतएव मैं अहिंसाव्रतसे रहकर
ाम-क्रोधसे दूर रहूँगा । मोक्षसुखका आश्रय लेकर क्षेमके लिये
त्यका अवलम्बन कर मृत्युपर विजय प्राप्त करूँगा । इन्द्रियोंका
मन करके शान्तियज्ञमें रत हुआ ब्रह्म-यज्ञमें स्थित रहूँगा । मनसे
त्म-विचाररूप मनोयज्ञ, वाणीसे भगवन्नामजपरूप वाक्-यज्ञ
र शरीरसे अहिंसा, शौच और गुरु-सेवादि कर्मयज्ञ करूँगा । मैं
सायुक्त पशुयज्ञ कभी नहीं कर सकता । मैं स्वयं आत्मयज्ञ करूँगा ।
पुत्र नहीं है तो क्या है ? अपने उद्धारके लिये पुत्रकी कोई
वश्यकता नहीं है । जिस पुरुषकी वाणी और मन वशमें हैं, जिसने
, त्याग और योग किया है वह सब वस्तुओंको पा जाता है ।
के समान कोई नेत्र नहीं है, ब्रह्म-विद्याके समान कोई फल नहीं
आसक्तिके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई
नहीं है । एकान्तवास, समता, सत्यता, सच्चरित्रता, दण्डधारण
न, वाणी, शरीरसे हिंसाका त्याग), सरलता और उपरामता—
णोंका यही असली धन है, इसके समान और कोई भी धन नहीं
आप ब्राह्मण हैं और आपको मरना है । फिर आपको धनसे,
तथा बन्धुओंसे क्या प्रयोजन है ? विचार कीजिये—आपके
और दादाजी कहाँ गये ? अतएव आप अपने आत्माकी गुफामें
ाकर आत्माका पता लगाइये !'

पुत्रकी इन बातोंको सुनकर पिता सावधान होकर उसी क्षणसे
और आत्मपरायण हो गया । (महाभारतके आधारपर)

यज्ञ

भारतवर्ष आज गरीबोंका देश है। करोड़ों नर-नारी ऐसे हैं, जिनको भरपेट अन्न और लज्जा-निवारणके लिये पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलता। ऐसी दशामें जो सम्पन्न भारतवासी, इन गरीब भाइयोंके दुःखोंकी कुछ भी परवा न कर केवल अपने शरीर और परिवारको आराम पहुँचानेमें ही व्यस्त रहते हैं, उन्हें कुछ विचार करना चाहिये। शास्त्रोंमें यज्ञसे बचे हुए अन्नको अमृत बतलाया है और वैसे अमृतरूप पवित्र अन्नपर जीवन-धारण करनेवालेको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, ऐसा

कहा है। मेरी समझसे इन भूखे भाइयों और बहिनोंके पेटमें जो क्षुधाका दावानल धधक रहा है, उसीमें अन्नकी आहुति देनी चाहिये, तभी हमारा शेष अन्न अमृत होगा। मतलब यह कि हम जो कुछ भी उपार्जन करें; उसमेसे कुछ भाग इन गरीब भाइयोंके हितार्थ पहले व्यय करें, तभी हमारा उपार्जन सार्थक है।

एक घरमें दो भाई भूखों मरें और एक भाई खूब माल उड़ावे। दो बहिनोंको कपड़ा न मिले और एक बहिन रेशमी साड़ियोंसे संदूकें भरी रक्खे, यह बहुत ही लज्जाकी बात है। उचित तो यह है कि हमलोग स्वयं कष्ट भोगकर कष्टमें पड़े हुए इन भाई-बहिनोंको कष्टसे बचावें, दुःख सहकर इन्हें सुख दें। परंतु यह बात तो दूरकी है। हम तो आज अपने सुखके लिये इन्हें दुःख पहुँचा रहे हैं, अपने आरामके लिये इनको संकटमें डाल रहे हैं। यदि इनको भी अपने-जैसे मनुष्य समझकर अपने ही समान इन्हें भी आराम पहुँचानेका खयाल रक्खें तो इनका बहुत-सा संकट दूर हो सकता है। हमारे मौज-शौककी सामग्री और अनाप-शनाप खाने-पीनेके खर्चमें कुछ कमी कर उससे बचे हुए पैसे इन गरीब भाइयोंकी सेवामें लगा दिया करें तो बिना ही प्रयास इनके दुःख कम हो सकते हैं और हमारी अनेक बुरी आदतें सहज ही छूट सकती हैं। अपने आरामके लिये प्रत्येक क्रिया करते समय हम इन्हें स्मरण कर लिया करें और पहले इनके लिये कुछ देकर फिर क्रिया आरम्भ करें तो हमारी वही क्रिया यज्ञरूप हो सकती है। भारतमें इस यज्ञकी अभी बड़ी आवश्यकता है।

मानवताका कल्याण

मनुष्य मूलमें परमात्माका सनातन अंश जीव है, पीछे मनुष्य है, उसके बाद वह अमुक देशवासी, तदनन्तर क्रमशः अमुक वर्ण, अमुक जाति, अमुक सम्प्रदाय और अमुक परिवारका है। मूलमें वह भगवान्‌का अंश है। भगवान्‌मेंसे आया है, अब भी भगवान्‌में है और अन्तमें फिर भगवान्‌में ही जायगा। उसका मूल आत्मस्वरूप भगवान्‌से अभिन्न है। जीवके नाते भगवान् उसके अंशी हैं। समस्त चराचर प्राणियोंका भी वस्तुतः यही स्वरूप है। इस नाते सभी भगवत्स्वरूप हैं— सभी आत्मस्वरूप हैं। सभी वन्दनीय हैं और सभी आत्मीय हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
> ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
> सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
> यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
> (११।२।४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र-मण्डल, जीवसमूह, दिशाएँ, वृक्ष-लतादि, नदियाँ, समुद्र आदि जो कुछ भी हैं सभी श्रीहरिके शरीर हैं। यह समझकर अनन्य मनसे सबको प्रणाम करना चाहिये।'

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इसलिये जगत्में कोई भी प्राणी 'पर' नहीं है, अतएव द्वेष्य कोई भी नहीं है, सभी प्रेमके पात्र हैं। जो मनुष्य प्राणियोंसे द्वेष करता है, उससे भगवान् कभी प्रसन्न नहीं होते।

भक्तके लक्षण बतलाते समय सबसे पहले भगवान्ने बतलाया—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
(गीता १२। १३)

'जो सब प्राणियोंमें द्वेषसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी, मित्र और हेतुरहित दयालु है·········वही मेरा प्रिय भक्त है।'

सबमें भगवान्को देखने-समझनेवाला मनुष्य या सबमें अपने आत्माकी तसवीर देखनेवाला मनुष्य कैसे किससे वैर और द्वेष करेगा!

अब हौं कासों बैर करौं?
कहत पुकारत प्रभु निज मुख सो घट घट हौं बिहरौं॥

× × ×

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध॥

संक्षेपमें, यह मनुष्यका स्वरूप है और इसके अनुसार उसका कोई भी द्वेष्य नहीं हो सकता।

दूसरी दृष्टिसे देखें, तो भी मनुष्यको किसीसे द्वेष या वैर नहीं करना चाहिये।

मनुष्य जैसा करता है, वैसा ही भोगता है। जो कुछ देता है, वही अनन्तगुना होकर उसे वापस मिलता है—यह नियम है। अतएव एक मनुष्य या एक जाति किसीसे वैर या द्वेष करके उसका बुरा चाहेगी तो बदलेमें उसे भी वैर-द्वेष और बुरा चाहनेवाले ही मिलेंगे। और यह परम्परा यदि चलने लगे तो जगत्में उत्तरोत्तर वैर-विरोध और फलस्वरूप परस्परका अहित-साधन बढ़ता ही जायगा। इस स्थितिमें मनुष्य अपने मूल भगवत्स्वरूप या आत्मस्वरूपको तो भूल ही जायगा। वह मानवताको भी खोकर नृशंस, क्रूर पिशाच हो जायगा। फिर सारा जगत् पैशाचिक कुकृत्योंकी क्रीडा-स्थली—फलतः प्रत्यक्ष घोर नरक ही हो जायगा! इसीलिये शास्त्र, संत और महात्मा पुरुष वारंवार अपने शब्दों, आचरणों, त्याग-तपस्याओं और बलिदानोंसे जगत्के जीवोंको यह शिक्षा देते रहते हैं कि किसीसे वैर-विरोध मत करो, किसीसे द्वेष मत करो, किसीका बुरा मत चाहो और किसीका भी बुरा कभी न करो। इसीमें अपना और विश्वका कल्याण है। बुराईका फल बुराई ही होता है और भलाईका भलाई। अतएव बुराई करनेवालेकी बुराईको भूलकर उसकी भी भलाई करो। श्रीशङ्करजीने यही तो कहा है—

उमा संत कै इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

भला करनेवालेका तो भला सभीको करना चाहिये और मनुष्य क्या प्रायः प्राणी ऐसा करते ही हैं। उत्तम मनुष्य या संत पुरुष तो वह है कि जो बुरा करनेवालेका भला करके जगत्के सामने उच्च आदर्श

रखता है और जगत्‌को घोर नरकानलसे निकालकर शान्ति-सुखरूप भगवत्-राज्यकी ओर ले जाना चाहता है। उसके साथी और समर्थक थोड़े ही होते हैं, पर वह जिस सत्यका साक्षात्कार कर चुका है, उसे वह कभी छोड़ नहीं सकता। वह तो प्रह्लाद, अम्बरीष, ईसा, हरिदास आदि भक्तोंकी भाँति मारनेकी चेष्टा करनेवालोंका भी भला ही करता है। स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंका कल्याण ही करना चाहता है। ऐसे ही महान् पुरुषोंसे जगत्‌को भलाईकी शिक्षा मिलती है। अतएव भविष्यमें जगत्‌की और अपनी भलाई हो, इस उद्देश्यसे ही किसीके साथ न तो द्वेष-वैर करना चाहिये और न किसीका कभी अहित ही करना चाहिये। याद रखना चाहिये—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इतना होनेपर भी, संसार त्रिगुणात्मक है। भगवान्‌ने इसकी सृष्टि ही गुण-वैषम्यको लेकर की है। इसीसे यहाँ प्रत्येक प्राणीके स्वभाव, स्थिति, रूप और रुचिमें कुछ-न-कुछ वैषम्य अवश्य पाया जाता है। इस वैषम्यमें गुणोंका तारतम्य ही प्रधान कारण है। मनुष्यको निरन्तर ऊँचे उठनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये। उसके लिये साधन है। प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है। वह सहज ही नीचेकी ओर जाती है। सात्त्विक-गुणविशिष्ट पुरुष भी यदि निश्चेष्ट होकर बैठ जायगा तो वह धीरे-धीरे रजोगुणकी ओर बढ़ने लगेगा। इसी प्रकार रजोगुणी मनुष्य तमोगुणकी ओर! अतएव निरन्तर यह चेष्टा करनी चाहिये कि जिससे वह अपनी स्थितिमें उत्तरोत्तर ऊपरको ही उठता रहे। जबतक परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय तबतक किसी भी स्थितिमें

संतोष न करे। ऐसी स्थितिका संतोष वस्तुतः संतोष नहीं है, प्रमाद है और इस प्रमादसे उस स्थितिकी मृत्यु हो जाती है और तत्काल उससे निम्नस्तरकी दूसरी स्थिति उत्पन्न होकर वहाँ अपना अधिकार जमा लेती है। इसीसे भगवान्‌ने चेतावनी दी है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
(६।५)

'अपने द्वारा आप ही अपना उद्धार करे, अपनेको कभी नीचे न गिरने दे।' त्रिगुणात्मक संसारमें कर्मवश गुणवैषम्य होता है तथा गुण-वैषम्यको लेकर लोगोंमें प्रकृतिभेद होता है और उसीके कारण परस्पर संघर्ष भी होते हैं। संसारमें कोई भी मनुष्य संघर्षसे सहज ही बच नहीं सकता। कई जगह तो संघर्ष आवश्यक हो जाता है। पर संघर्षके समय भी अपने मूल स्वरूपको न भूले तथा उस स्वरूपमें स्थित रहते हुए ही परिस्थितिके अनुसार यथायोग्य वर्णाश्रमोचित एवं न्यायप्राप्त कर्मोंका भगवत्प्रीत्यर्थ आचरण करे। कर्म स्वरूपतः यज्ञ, दान और तप आदि होनेपर भी तामसी भाव होनेपर तामस हो जाते हैं और उनका फल होता है अधःपतन। श्रीमद्भगवद्गीताके सतरहवें और चौदहवें अध्यायमें इसका स्पष्ट उल्लेख है और युद्धरूप घोर कर्म भी शुद्ध धर्मरक्षाकी भावनासे होनेपर सात्त्विक एवं भगवत्प्रीत्यर्थ होनेपर तो भगवत्प्राप्तिका हेतु होता है।

अर्जुनको महान् घोर युद्ध करना पड़ा और उसमें उन्हें अपने गुरुजनोंका भी वध करनेको बाध्य होना पड़ा था। गुरुजनों और आत्मीयोंको युद्धमें एकत्रित देखकर ही अर्जुन घबरा गये थे और उन्होंने भगवान्‌से कहा था कि—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥
(१ । ४५)

'अहो ! बड़े ही खेदकी बात है कि हमलोग राज्य-सुखके लोभसे स्वजनोंकी हत्या करनेको तैयार होकर महान् पाप करनेका निश्चय कर चुके हैं ।'

भगवान्‌ने अर्जुनको पहले तो यह समझाया कि अपने न्याय्य राज्यकी प्राप्तिके लिये क्षत्रियका धर्मयुद्धमें संलग्न होना पाप नहीं है क्षत्रियके लिये ऐसा धर्मयुद्ध स्वर्गका मुक्तद्वारस्वरूप है । अतः धर्मयुद्धमें तो पाप लगेगा ही नहीं । हाँ, 'यदि तुम इस धर्मयुद्ध मुख मोड़ोगे तो अवश्य तुम्हारे स्वधर्म और सुयशका नाश हो तथा तुमको पाप लगेगा ।'

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

फिर, 'राज्यसुखका लोभ' रहनेपर शायद धर्मयुद्धमें कुछ विकृ आ जाय, क्योंकि लोभ पापका मूल है । अतएव भगवान्‌ने यह क कि तुम राज्यके लिये युद्ध मत करो । 'सुख-दुःख, हानि-लाभ, ज पराजयको समान समझकर फिर युद्धमें लगो । ऐसा करनेपर तु पाप होगा ही नहीं ।'

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता २ । ३८

आगे चलकर तो यहाँतक कह दिया कि 'तुम अपने सारे कर्मोंको अध्यात्मचित्तसे मुझमें समर्पण कर दो और निराशी, निर्मम तथा विगत-संताप होकर युद्ध करो।' (गीता ३ । ३०) अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ युद्ध करो। गुण-वैषम्ययुक्त जगत्में कर्तव्यपालनके लिये युद्ध अनिवार्य है; वह करना ही होगा। करना धर्म है; न करना पाप है। परंतु करना होगा इस बातको समझकर कि हम जिनके साथ युद्ध कर रहे हैं, वे भी वस्तुतः भगवान्‌के ही स्वरूप हैं; यथा—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ॥

'अर्जुन ! मेरे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है।' (गीता ७ । ७) और 'स्वकर्मोंके द्वारा उन भगवान्‌की ही पूजा करनी होगी, जिनसे समस्त प्राणी उत्पन्न हुए हैं और जो सबमें व्याप्त हैं एवं इस प्रकार उन्हें पूजकर ही जीवनको पूर्णतया सफल बनाना होगा।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८ । ४६)

सारांश यह कि, न तो इस सिद्धान्तको कभी भूलना चाहिये कि जगत्‌के समस्त प्राणी भगवान्‌से निकले हैं—उन्हींके सनातन अंश हैं—उन्हींके स्वरूप हैं; और न अपने कर्तव्यकर्मसे ही कभी विच्युत होना चाहिये। निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए आवश्यकता पड़नेपर युद्धसदृश घोर कर्म भी करना चाहिये। परंतु

करना चाहिये केवल भगवान्की प्रीतिके लिये ही, अन्य किसी उद्देश्यसे नहीं। यही गीताकी शिक्षा है।

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति। और मनुष्यकी गति होती है उसके अन्त समयकी मानस-स्थितिके अनुसार। भगवान्ने अर्जुनसे यही कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें मुझको (भगवान्को) स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे भावको (भगवद्भावको) ही प्राप्त होता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।'

क्योंकि अन्तकालके भावके अनुसार ही उसको अगली गतिकी प्राप्ति होती है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति ………………………………॥
(गीता ८। ६)

मान लीजिये—अंग्रेज और जर्मन सिपाहियोंमें युद्ध हो रहा है। दोनोंमें परस्पर द्वेष तथा वैरभाव है और उस वैरभावको लेकर ही वे लड़ रहे हैं। लड़ते-लड़ते किसी अंग्रेजको गोली लगी और वह मर गया। अब यदि मरते समय अन्तिम क्षणमें उसे उस जर्मन वैरीकी स्मृति रहेगी तो सम्भव है वह अगले जन्ममें जर्मन होगा और पूर्वजन्ममें अपनेको जिस अंग्रेज जातिका पुरुष मानकर उसमें ममत्व

तथा आसक्तिके पाशमें बद्ध था, अब उसी अंग्रेज जातिका शत्रु बनकर उसे मारनेकी चेष्टा करेगा। पिछले दिनोंके भारतके हिंदू-मुसल्मानके झगड़ोंको ही ले लीजिये। यदि कोई मुसल्मान हिंदू-वैरका स्मरण करता हुआ मरता है तो सम्भव है वह अगले जन्ममें अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार हिंदू होगा और मुसल्मानोंको मारेगा। इसी प्रकार मुसल्मानके वैरको मनमें रखकर मरनेवाला हिंदू भी मुसल्मान बनकर हिंदुओंको मारेगा। अतएव द्वेष और वैर रखनेमें तो कोई लाभ है ही नहीं। सर्वथा हानि-ही-हानि है।

परंतु जहाँ धर्मतः न्यायप्राप्त कर्तव्यवश मरने-मारनेकी आवश्यकता हो, वहाँ कैसे मरना-मारना चाहिये, जिसमें मरने और मारने दोनों ही कर्मोंमें परम कल्याणकी प्राप्ति हो? गीतामें इसकी शिक्षा दी गयी है। अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार ही अगले जन्ममें गति प्राप्त होती है, यह कहकर भगवान्‌ने खास तौरपर अर्जुनसे कहा है—

> तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
> (गीता ८।७)

अतएव तुम सब समय मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धि अर्पण कर चुके हुए तुम निस्सन्देह मुझको (भगवान्‌को) ही प्राप्त होओगे।

इसमें भगवान्‌ने चार बातें बतलायी हैं—

१-सर्वकालमें भगवत्स्मरण करना;

२–युद्ध करना;

३–इस प्रकार मन-बुद्धिका भगवान्‌के प्रति अर्पण, और—

४–फलस्वरूप निस्सन्देह ही भगवत्प्राप्ति ।

बस, इसीमें सारा रहस्य भरा है । मनुष्य बुद्धिसे निश्चय करता है और मनसे मनन । बुद्धिसे निश्चय कर लिया कि तत्त्वतः सब कुछ भगवान् हैं और सब कुछ भगवान्‌का है । श्रद्धा और प्रेमके साथ आज्ञाकारी सेवककी भाँति उनकी आज्ञाके अनुसार उन्हींके प्रीत्यर्थ सब कुछ करना है । उनकी सेवाके सिवा अन्य कुछ भी कर्तव्य नहीं है । और मनको उनकी सेवामें समर्पण करके यह स्वभाव बना लिया कि जिसमें एकमात्र उन परम प्रियतम प्रभुका ही सतत स्मरण होता रहे । मन दूसरी बात सोचे ही नहीं । जैसे पतिव्रता स्त्रीके मन, बुद्धि पतिके समर्पित हो जाते हैं, उसके सारे कर्म पति-सेवाके निश्चयसे ही होते हैं और उसका मन स्वाभाविक ही पतिसेवामें संलग्न रहता है । इससे भी बढ़कर–जैसे परम भाग्यवती प्रेममूर्ति गोपाङ्गनाओंने भगवान् श्यामसुन्दरके मनमें अपने मनको, उनके प्राणोंमें अपने प्राणोंको मिलाकर उनके सुखके लिये समस्त दैहिक सम्बन्धोंको तिलाञ्जलि दे दी थी—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
(श्रीमद्भा० १० । ४६ । ४)

उसी प्रकार निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए जीवनके प्रत्येक क्षणको उन्हींकी संलग्नतामें बिताना और उनमें लगाये हुए

मन-बुद्धिके द्वारा ही उन्हींके इच्छानुसार युद्ध भी करना । इसव फल निस्सन्देह भगवत्प्राप्ति होगा ही; क्योंकि जब कभी भी मृत होगी–तभी उसके मन-बुद्धि भगवान्में ही लगे रहेंगे । अतएव अन्त कालकी भगवत्स्मृतिके सिद्धान्तानुसार उसे निश्चित ही भगवत्प्राप्ति होगी । वस्तुतः ऐसे भक्त भगवत्प्राप्तिकी भी परवा नहीं करते, वे तो अपने प्रियतम प्रभुकी सेवामें जन्म-जन्मान्तर बितानेकी विशुद्ध प्रेममयी कामना करते हैं । फिर प्रभु उनके लिये जो विधान कर देते हैं, वे उसीमें संतुष्ट रहते हैं; क्योंकि उनको तो जो कुछ भी करना या न करना है सब प्रभु-प्रीत्यर्थ ही है । [इसीलिये उनका 'कुछ भी न करना' भी (प्रभु-प्रीत्यर्थ) करना है; और सब कुछ करना भी (अपने लिये न होनेके कारण) न करना है ।]

इस प्रकार प्रभुका स्मरण करते हुए मरनेवाला और प्रभुको पहचानकर उनके आज्ञानुसार उनकी सेवाके लिये ही धर्म तथा कर्तव्यकी प्रेरणासे किसीको न्यायोक्त दण्ड देनेवाला—दोनों ही परम कल्याणको प्राप्त होते हैं ।

अतएव किसी भी प्राणीसे कभी द्वेष तथा वैर तो कभी भूलकर भी करना ही नहीं चाहिये; परंतु शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार न्यायप्राप्त कर्तव्य आ जानेपर हटना भी नहीं चाहिये । यहाँ अहिंसाका आश्रय लेकर और प्रतीकारशून्य होकर आततायीके हाथों मरने और भीख माँगकर खानेकी प्रवृत्ति धर्मसंगत नहीं है । अर्जुनने यही तो चाहा था । वे आततायियोंको मारनेमें पाप बतलाते थे और उनके हाथों मरने में अपना कल्याण मानते थे तथा ऐसे राज्यकी अपेक्षा भीख [illegible] बताते थे । देखिये गीतामें उन्हींके शब्द—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥
(१ । ३६)

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥
(१ । ४६)

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
(२ । ५)

'हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी । इन आततायियोंको मारनेपर तो हमें पाप ही लगेगा । इससे तो मैं हथियार छोड़ दूँ और इनका कुछ भी सामना न करूँ पर ये धृतराष्ट्रके पुत्र हाथमें हथियार लेकर मुझको मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये विशेष कल्याणकारक होगा । अतः इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर संसारमें मैं भीख माँगकर खाना भी कल्याणकारक समझता हूँ ।'

आजकी अहिंसाकी व्याख्याके अनुसार तो हथियार छोड़कर बैठे हुए और कुछ भी प्रतीकार न करनेवाले अर्जुन पूरे सत्याग्रही थे । परंतु धर्मके साक्षात् आधार धर्मसंरक्षक स्वयं भगवान्ने अर्जुनकी इन उक्तियोंको अनार्योचित, स्वर्ग तथा कीर्तिकी नाशक, बिल्कुल कैसी मोह, नपुंसकत्व और हृदयका क्षुद्र दौर्बल्य बतलाया (गीता २ । २) । और उन्हें सब प्रकारसे समझाकर युद्धके लिये तैयार किया एवं ऐसा उपदेश दिया कि जिससे इस प्रकारका धर्म-युद्ध ही भगवत्पूजन तथा भगवत्प्राप्तिका परम सफल साधन बन गया ।

आज भगवान् श्रीकृष्णको, उनकी गीताको और धर्मशास्त्रोंको माननेवाले प्रत्येक भारतवासीको चाहिये कि वह किसी भी वर्ण जाति या देशविशेषसे, मनुष्यसे, किसी प्राणीसे भी—जरा भी द्वेष न करके यथासाध्य सबकी सेवा करे और समय पड़नेपर कर्तव्यवश भगवत्-सेवाके ही भावसे निष्काम होकर राग-द्वेषरहित बुद्धिसे धर्मरक्षाके लिये कर्तव्यसे भी न चूके।

हाँ, यह बात जरूर याद रखनी चाहिये कि गीताकी किसी शिक्षाका दुरुपयोग कदापि न हो। गीतामें धर्मयुद्धकी आज्ञा है, इसलिये बात-बातमें युद्धकी ही घोषणा न की जाय। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं दूत बनकर यथासम्भव युद्ध टालनेकी ही चेष्टा की थी, परंतु जब दूसरा कोई साधन नहीं रहा, तब युद्ध करना पड़ा। इसी प्रकार धर्मसङ्गत और अनिवार्य प्रसङ्ग आनेपर ही हथियार उठावें। किसीसे बेमतलब झगड़ा मोल न लें। जहाँतक बने सहनशील और क्षमापरायण हों। अपने प्रेमपूर्ण सद्भावों और सद्व्यवहारोंसे दूसरोंके चित्तको जीतनेकी चेष्टा करें। कभी किसीके साथ जरा भी दुर्व्यवहार करें ही नहीं। बल्कि अपनी हानि सहकर भी दूसरेका कल्याण करनेकी चेष्टा करें। हाँ, जब कोई आततायी प्राणी अन्यायपूर्वक उनके धर्मयुक्त अस्तित्वपर ही आक्रमण करे, और प्रेमपूर्ण व्यवहारका सर्वथा अनुचित लाभ उठाया जाय तब सिद्धान्ततः सावधान रहते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ ही उस समयके न्यायप्राप्त कर्तव्यका—, चाहे वह कितना ही घोर हो,—निःसंकोच पालन करें। यही धर्म है और इसीमें मानवताका कल्याण है।

प्रेममें ही सबका कल्याण है

यह वस्तुतः बड़े ही दुःखका विषय है कि पिछले दिनों हिंदुस्थानमें हिंदू-मुसल्मान एक दूसरेके विश्वासी बन्धु, मित्र, सहायक और सेवक न होकर परस्पर अविश्वाससे भरपूर पराये, शत्रु, संहारक और विनाशक बन गये थे। वह दोनोंके ही लिये महान् अनिष्टकर प्रसङ्ग था। राजनीतिक लाभके उद्देश्यसे मियाँ जिन्ना-सरीखे नेताओंकी कुटिल नीतिका यह भीषण परिणाम था। जीव न हिंदू है, न मुसल्मान; वह अपनी कर्मपरम्परासे कर्मफल-भोगके लिये मानव-शरीरमें आता है और कर्मफल भोगनेके साथ ही नवीन शुभाशुभ कर्मोंका बड़ा भारी संचय लेकर चला जाता है। फिर नाना योनियोंमें उन्हीं अतीतकालके कर्मोंके अनुसार फल भोगता है। परस्पर द्वेष और वैरको लेकर जिनका जीवन जाता है, वे यहाँ तो शान्ति पाते ही नहीं, अपने द्वेष तथा वैरजनित कुकर्मोंके कारण अगले जन्मोंमें भी सुख-शान्तिसे वञ्चित ही रहते हैं। मानव-जन्मकी इससे अधिक विफलता और क्या होगी। महात्मा गाँधी इसीलिये उस समय पूर्व-बंगालके गाँवोंमें पैदल घूमे थे कि किसी प्रकार दोनों जातियोंके हृदयोंमें प्रेमका प्रादुर्भाव हो। वे बड़े आशावादी थे, इसलिये आशाको साथ लेकर ही चल रहे थे। यदि भगवत्कृपासे उनकी आशा पूर्ण हो जाती तो मानव-जातिका बहुत

बड़ा कल्याण होता। जबतक दुराग्रह तथा द्वेषपरायण नेताओंका हृद नहीं बदलता, तबतक एक बार महात्माजीके प्रभावसे गाँवोंके मुसल्मानों सद्भाव पैदा होनेपर भी उसके स्थायी होनेमें सन्देह ही था। महात्मा जीने एक पत्रमें लिखा था—'इस बारका काम मेरी जिंदगीमें सबसे ज्यादा अटपटा काम है। 'मार्ग सूझे नहिं घोर रजनीमें, निज शिशु-को संभाल—मेरा जीवन पंथ उजाल'—इस भजनको आज मैं सौ फी सदी वाजिब तौरपर गा सकता हूँ। मुझे याद नहीं पड़ता कि मेरे रास्तेमें ऐसा अँधेरा पहले कभी आया हो। और रात लंबी दिखायी पड़ती है। संतोष सिर्फ यह है कि मैं न तो हारा हूँ और न नाउम्मेद हुआ हूँ। जो होना होगा, सो होकर रहेगा। खयाल है कि यहीं करना और यहीं मरना। 'करने'का मतलब यह है कि या तो हिंदू-मुसल्मान दोस्तकी तरह रहने लग जायँ, या इस कोशिशमें मैं मर मिटूँ। यह काम कठिन है। 'हरि करे सो होय!'"

इन वाक्योंमें गाँधीजीके हृदयकी तड़पनका पता लगता है। सचमुच कोई भी साधुहृदय पुरुष यह नहीं चाह सकता कि हिंदू-मुसल्मान आपसमें लड़ें। असलमें साधारण जनतामें सभी बुरे नहीं होते। बुराईकी जड़ तो वे नेता होते हैं जो अपने राजनीतिक उद्देश्यकी सिद्धिके लिये बेचारे नासमझ लोगोंको धर्मके नामपर भड़काकर उनका अनिष्ट करवाते हैं। पर उनके लिये भी क्या कहा जाय। भगवान् उनको सुबुद्धि दें। परंतु इतना सभीको स्मरण रखना चाहिये कि पापसे पापका उच्छेद नहीं हुआ करता। इसलिये पापके बदलेमें पाप करनेकी प्रवृत्ति किसीमें भी नहीं होनी चाहिये। यदि मुसल्मानोंने कहीं शिशु-हत्या

ही, अबलापर बलात्कार किया, किसीको बलात् धर्मान्तरित किया और निरीह निर्दोषकी हत्या की, तो हिंदुओंको भी ऐसा करना चाहिये—ह विचार कदापि अभिनन्दनीय नहीं है। इन कुकृत्योंका ऐसे ही कुकृत्योंद्वारा बदला लेनेकी भावना सचमुच बड़ी भयंकर है। उचित तो ह है कि भगवान्से ऐसी करुण प्रार्थना की जाय कि वे सबको सुबुद्धि । किसीके भी हृदयमें ऐसी पापभावना न पैदा हो और किसीके भी रा ऐसा कुकृत्य न बने। ऐसा करनेके साथ ही आवश्यकतानुसार बल-ग्रह भी किया जाय, जिससे अत्याचार करनेवाले मनुष्यका साहस टूट जाय। एक बार साहस टूट गया, कुकृत्य नहीं बन सका तो सम्भव है आगे चलकर उसकी मति भी बदल जाय। बलसंग्रह और आवश्यकता पड़नेपर बलप्रयोग करते समय भी मनमें द्वेष या वैर तो कदापि नहीं आना चाहिये।

संसारमें सबसे बड़ी चीज प्रेम है। मानवमात्रमें ही नहीं, जीव-मात्रमें प्रेम होना चाहिये। फिर हिंदू-मुसल्मान तो सदियोंसे एक ही स्थानमें पड़ोस-पड़ोसमें बसते हैं। समझदार मुसल्मान तथा समझदार हिंदू भाइयोंको परस्पर प्रेम बढ़े, इसके लिये सच्चे मनसे सदा प्रयत्न करना चाहिये। मानव-जीवनको हिंस्र पशुओंकी भाँति मार-काटमें और पिशाच-राक्षसोंकी भाँति पापकर्मोंमें लगाये रखना बहुत बड़ी हानि है और बहुत बड़े दुःखका कारण है। इस बातको समझना चाहिये और परस्पर सौहार्द, प्रेम, विश्वास तथा अपनापन बढ़े, इसके लिये कोशिश करनी चाहिये। प्रेममें ही सबका कल्याण है।

भगवान्‌को आर्तभावसे पुकारते ही रक्षा हो गयी

अपबल तपबल और बाहुबल चौथो बल है दाम।
सूर किसोर-कृपातें सब बल हारेको हरिनाम॥

कुछ वर्षों पूर्व कलकत्ते और पूर्व-बंगालमें जो अमानुषिक अत्याचार हुए थे उनमें कई ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनमें भगवान्‌की कृपासे विलक्षणरूपसे लोगोंकी गुंडोंके हाथोंसे रक्षा हुई थी। उन घटनाओंसे यह प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि आर्तभावसे भगवान्‌को पुकारनेपर तत्काल उत्तर मिलता है और किसी-न-किसी प्रकारसे विपत्तिसे छुटकारा मिल जाता है। यहाँ ऐसी कुछ घटनाओंका उल्लेख किया जाता है। पाठकोंको इन घटनाओंसे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये

कि, जिस समय मनुष्य सब ओरसे असहाय होकर विश्वासके साथ भगवान्को पुकारता है उस समय भगवान् उसकी बड़ी विचित्र रीतिसे रक्षा करते हैं। खेदकी बात है कि आज हमारा भगवान्पर उतना विश्वास नहीं रहा। इसीसे हम भगवत्कृपासे वञ्चित रहते और पद-पदपर विपत्तिके जालमें फँसते हैं। आज भी यदि हम विश्वासपूर्वक सामूहिकरूपसे भगवान्को पुकारें तो हमारे सारे संकट टल सकते हैं।

(१)

कलकत्तेकी घटना है। एक हिंदू-गृहस्थके बड़े परिवारको आक्रमणकारी गुंडोंने घेर लिया था। बाहरी फाटक तोड़कर गुंडे अंदर घुसना ही चाहते थे। तब घरके लोग घबराकर हतबुद्धि-से हो गये और एक दूसरेका मुँह ताकने लगे कि अब क्या होगा? किसीने कहा कि 'इस विपद्से तो भगवान् ही बचा सकते हैं। द्रौपदीने भगवान्को ही पुकारा था। अतः उसी अशरण-शरण प्रभुको ही पुकारना चाहिये, वे ही हम अनाथोंके नाथ हमें बचा सकते हैं। और कोई उपाय नहीं है।' बात भी सच्ची है। जब मनुष्य सब ओरसे निराश हो जाता है तब एकमात्र भगवान्की शरण खोजता है और वे अकारण दयालु प्रभु उसे सम्हाल लेते हैं। किंतु इस भगवद्विश्वासके विरोधी विषैले वातावरणके कारण भोले-भाले मानवोंकी बुद्धि भ्रमित-सी हो रही है, अतः इसीके प्रभावमें आये हुए एक भाईने निराशाके स्वरमें उत्तर दिया, 'क्या होगा भगवान्को पुकारनेसे!' इसपर दूसरेने आश्वासन देते हुए कहा, 'भाई! पुकारो तो सही,

इसमें अपना लगता ही क्या है !' इसप्रकार सब कोई मिलकर व्याकुल होकर भगवान्को पुकारने लगे। पुकारते-पुकारते उन्हींमेंसे एक सज्जन ऊपर छतपर चले गये, सहसा उनकी दृष्टि पड़ी। देखा कि फौजी सिपाहियोंकी एक लारी मकानके नीचेसे जा रही है। यह देखकर वे और भी जोरसे भगवान्को पुकारकर कहने लगे, भगवान् बचाओ, रक्षा करो। यह करुणक्रन्दन भगवान्ने सुना, लारी वहीं रुक गयी। गुंडे भागे। उस हिंदू-परिवारके सब लोगोंको लारीवालोंने लारीमें बैठा लिया और उन्हें सुरक्षित स्थानमें पहुँचा दिया।

(२)

कलकत्तेकी ही एक दूसरी घटना है। किसी फ्लावर मिलमें कुछ आदमी काम कर रहे थे, बदमाशोंके एक दलको आते देखकर उन्होंने जल्दीसे फाटक बंद कर लिये। इतनेमें ही आक्रमणकारी गुंडे वहाँ पहुँच गये और बाहरसे किवाड़ तोड़ने लगे। इससे अंदरवाले लोग घबराकर आर्तभावसे भगवान्को पुकारने लगे। पुकारका ही यह फल था कि उन गुंडोंमेंसे एकने अपने साथियोंसे कहा कि 'अरे, यहाँ क्या मिलेगा। चलो आगे बढ़ो।' आक्रमणकारी अनायास ही वहाँसे चल दिये। सबकी जान बची।

(३)

नोआखालीसे लौटते हुए एक परिवारके एक वीर युवकने हवड़ा-स्टेशनपर अपना हाल बतलाया था कि मैं किसी आवश्यक कामसे बाहर गया हुआ था, घरपर मेरे माता-पिता और पत्नी—इतने लोग थे। बाहरसे

लौटनेपर पड़ोसियोंसे ज्ञात हुआ कि आक्रमणकारी गुंडे मेरे पिताकी हत्या करके मेरी माता और पत्नीको अपहरण करके ले गये । यह सुनते ही मैं 'मैं' नहीं रहा । भगवान्‌से मैंने प्रार्थना की, कहींसे मुझे एक छुरा दिला दो । मुझे तुरंत एक छुरा मिला । उसे उठाकर भगवान्‌के भरोसे मैं पता लगाता हुआ उन बदमाशोंके अड्डेपर जा पहुँचा । देखा, मेरी माता और पत्नी वहाँ मौजूद हैं और दोनों बदमाश वहाँ अकड़े बैठे हैं । मैंने तुरंत भगवान्‌का नाम लेकर एकके पेटमें छुरा भोंक दिया । वह घावको हाथसे दबाकर उठा, उसका दूसरा साथी भी मुझपर टूट पड़ा । मैंने अपनी माता और स्त्रीको ललकारा कि 'बैठी क्या देखती हो । मारो इन दुष्टोंको ।' भगवान्‌की कृपासे हम तीनोंने मिलकर उन दोनोंका काम तमाम किया और वहाँसे निकलकर चले आ रहे हैं । उस युवकके शरीरमें भी कई घाव थे । तीनों ही भगवान्‌का स्मरणकर प्रफुल्लित हो उठते थे ।

(४)

नोआखालीके एक मारवाड़ी व्यापारीपर कुछ बदमाशोंने आक्रमण किया । वह भयभीत हुआ भागकर निकटकी पुलिस-चौकीपर चला गया । उसने पुलिस दारोगासे रक्षाके लिये प्रार्थना की । दारोगाने कहा कि 'भैया ! हम तुम्हें नहीं बचा सकते, न हमारे पास काफी पुलिस है, न हथियार ही । तुम अपना बचाव आप ही कर लो ।' लाचार वह वहींके एक पाखानेमें छिप गया और वहीं एकाग्र मनसे अशरणशरण, अनाथोंके नाथ, जगत्‌के एकमात्र रक्षक, परम दयालु भगवान्‌को आर्तभावसे पुकारने लगा । वह व्यक्ति तत्कालीन बीकानेर जिलेके

सौंडा ग्रामका अधिवासी था। उसने बताया कि 'गुंडोंने आकर पुलिस दारोगासे मेरा नाम लेकर पूछा कि वह कहाँ है? दारोगाने कह दिया, 'हम नहीं जानते, यहाँ तो कोई वैसा आदमी आया ही नहीं।' गुंडोंने कोना-कोना छान डाला! मैं जिस पाखानेमें छिपा था, वहाँ भी ये लोग कई बार आकर निकल गये। मैं उन्हें देखता रहा। वे मुझे, पता नहीं कैसे, देख नहीं सके। भगवन्नामका ही यह प्रभाव था जिसे सोचकर मैं गद्गद होता रहता हूँ।' स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजसे उसके सगे भाई मिले थे।

(५)

युक्तप्रान्त—लखनऊके पास किसी स्टेशनकी घटना है। किसी भले घरकी चार-पाँच महिलाओंको कुछ गुंडे भगाये लिये जा रहे थे। बेचारी महिलाएँ आर्तभावसे मन-ही-मन अशरणशरण भगवान्‌को पुकार रही थीं—'प्रभु! तुमने द्रौपदीकी लाज रक्खी, गजराजका उद्धार किया, आज हमारी भी इन राक्षसोंके हाथोंसे तुम्हीं रक्षा कर सकते हो। हमारे पास और बल ही क्या है नाथ! एकमात्र समर्थ चरणकमलोंका सहारा है। प्रभु! दया करो, नाथ!' इसी प्रकार रो-रोकर भगवान्‌से प्रार्थना कर रही थीं कि इतनेहीमें उसी डिब्बेमें एक टिकट-चेकर आया। उसे देखकर उन अबलाओंमेंसे एकने उसके पैरको अपने पैरसे दबाकर संकेत किया। उस टिकट-चेकरने समझा, सम्भव है मेरा पैर उसके पैरसे भूलसे दब गया होगा और उसने उस ओर ध्यान नहीं दिया। पर दूसरी और फिर तीसरी बार भी जब यही संकेत हुआ, तब उसका ध्यान गया और तुरंत बाहर जाकर

पुलिसको साथ लिये लौटा। उसने उन महिलाओंके साथ जो गुंडे थे उनसे पूछा, "ये महिलाएँ कौन हैं? किसके साथ हैं?" गुंडोंने जवाब दिया—"हमारे घरकी स्त्रियाँ हैं।" यह सुनकर उन स्त्रियोंने अपना सिर हिलाकर इन्कार किया। इसपर टिकट-चेकरने एक महिलाका बुरका हटाया तो क्या देखा कि उसके हाथ पीछेकी ओर बँधे हैं और मुँहमें कपड़ा ठूँसकर उसपरसे पट्टी बँधी है। चारों महिलाओंका यही हाल था। गुंडे गिरफ्तार किये गये, स्त्रियोंके बन्धन खुले और वे उनके अपने स्थान पहुँचायी गयीं। उन महिलाओंने यह बतलाया कि हमारे आदमियोंको पता नहीं है कि इन्होंने क्या किया। हमारे सब आभूषण भी इन टीफिन-केरियरोंमें भरकर रक्खे हैं।

(६)

एक घटना ऐसी सुननेमें आयी थी कि एक गुंडा किसी भले घरकी लड़कीको भगाकर लिये जा रहा था। रेलके जिस डिब्बेमें वह लड़की बुरकेमें छिपी हुई मन-ही-मन अशरणशरण भगवान्‌को रो-रोकर पुकार रही थी, उसीमें उसीके पास भले घरकी एक स्त्री अपने पतिके साथ आकर बैठ गयी। तब इस लड़कीने बहुत सावधानीसे अपनी विपद्-गाथा लिखकर उस महिलाको दी। उसने वह परचा अपने पतिको दिया। उसने अगले स्टेशनपर जब गाड़ी रुकी, पुलिसको इत्तला दी और पुलिसको उस गुंडेके पीछे लगा दिया। अगले किसी बड़े स्टेशनपर गुंडेको गिरफ्तार करके उस लड़कीको उसके घर पहुँचा दिया गया।

(७)

पूर्व-बंगालके एक गाँवमें चारों ओर लूट-पाट मची हुई थी। एक गुंडा किसी घरमें घुसा। उस समय घरमें कोई पुरुष नहीं था। एक अट्ठाईस वर्षकी लड़की घरमें थी। गुंडेने पहले तो जो कुछ गहना-कपड़ा हाथ लगा सो लूटा। फिर वह उस लड़कीकी ओर झपटा। वह पहलेसे ही डरी हुई थी और भगवान्‌को पुकार रही थी। जब दुष्ट उसकी ओर बढ़ा, तब उसके मनमें न जाने कहाँसे साहस आ गया। वह जोरसे आगे बढ़ी और बड़े जोरसे उस झपटते हुए बदमाशकी छातीपर एक लात जमा दी। सहसा लात लगते ही वह पीछेकी ओर गिर पड़ा और उसी क्षण हृदयकी गति बंद होनेसे मर गया। इतनेमें लड़कीके भाई और पिता आ गये। लड़कीका सतीत्व तथा घरका सामान बच गया।

(८)

कालीपद नामक एक बंगीय सज्जनने बताया था कि एक दिन दो गुंडोंने उसे घेर लिया और वे मारनेको तैयार हो गये। वह उनसे डरकर जोर-जोरसे अशरणशरण भगवान्‌को पुकारता हुआ भागा। संध्या हो चली थी। वह डरकर एक जले हुए घरमें घुस गया। दोनों गुंडे पीछे-पीछे गये। वह तो घरके पीछेसे निकल गया और उन दोनोंपर जली हुई छतसे एक लकड़ी टूट पड़ी, जिससे दोनों घायल होकर वहीं गिर पड़े।

पता नहीं, ऐसी कितनी घटनाएँ हुआ करती हैं।

पाँच प्रश्न

एक सज्जनके ये पाँच प्रश्न हैं—

(१) प्रकृतिका क्या स्वरूप है और परमात्माके साथ उसका क्या सम्बन्ध है ?

(२) संसार क्या है और कबसे है ?

(३) जीव क्या है और जीवका यह बन्धन कबसे है ?

(४) दो पुरुष और एक पुरुषोत्तम—इससे क्या त्रैतवादसिद्ध होता है?

(५) क्या ज्ञानी, भक्त और योगी मुक्तपुरुष सृष्टि, पालन और संहार आदि कार्योंमें परमेश्वरके समान ही शक्तिसम्पन्न होते हैं ?

प्रश्न बड़े गहन हैं । इन प्रश्नोंका उत्तर वही पुरुष कुछ दे सकता है, जिसने अनुभवसे इन विषयोंकी यथार्थताका ज्ञान प्राप्त किया हो । केवल अध्ययनके आधारपर कुछ भी कहनेमें भूल न होना बहुत ही कठिन है । फिर मैं तो अध्ययनका भी दावा नहीं कर

सकता । मैंने प्रश्नकर्ता महोदयसे दूसरे महानुभावोंसे पूछनेके लिये प्रार्थना की थी, परंतु उन्होंने आग्रहपूर्वक मुझसे ही उत्तर माँगे हैं। इसलिये बाध्य होकर लिख रहा हूँ। प्रश्नकर्ता महोदयने मेरी परीक्षाके लिये ही यदि प्रश्न किये हों तब तो मैं पहले ही अपनेको अनुत्तीर्ण मान लेता हूँ। हाँ, उन्होंने जिज्ञासुकी दृष्टिसे पूछा है तो सम्भव है उन्हें अपनी श्रद्धाके बलसे इस धूलके ढेरमें भी कोई एकाध रत्न मिल जाय।

परमात्माकी स्वकीय नित्यशक्तिका नाम प्रकृति या माया है। जिस प्रकार परमात्मा अनादि हैं, उसी प्रकार उनकी यह शक्ति प्रकृति भी अनादि है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

जबतक शक्तिमान् पुरुष है तबतक उनकी शक्तिका कभी विनाश नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा जबतक हैं तबतक उनकी शक्ति भी है और परमात्मा अनादि, अनन्त, नित्य, अविनाशी हैं, उनका कभी जन्म और विनाश नहीं होता, इसलिये उनकी शक्तिका भी विनाश सम्भव नहीं। परंतु जब वह क्रियाहीन रहती है, शक्तिमान्में लीन रहती है तबतकके लिये वह अदृश्य या शान्त हो जाती है। इसलिये उसे अनादि और सान्त भी कहते हैं। परमात्मा इस प्रकृतिकी भाँति कभी अदृश्य नहीं होते। प्रकृतिका सारा खेल— कालतक प्रकृतिमें लय हो जाता है और सबकी जननी यह प्रकृति भी जिसमें लय हो जाती है, इन सबके लय होनेके बाद भी अखिल ब्रह्माण्डमें नित्य अचल वर्तमान रहनेवाले उस परम तत्त्वका नाम ही परमात्मा है। प्रकृतिके उनमें प्रविष्ट हो जानेपर केवल वे परमात्मा ही रह जाते

हैं, इसीलिये वे नित्य, अविनाशी, अपरिणामी, परम सनातन अव्यक्त पुरुष कहलाते हैं। संसारकी कारणरूपा मूल अव्यक्त प्रकृति शक्तिरूपसे इन्हींमें समाहित रहती हैं, इन्हींके संकल्पानुसार विकसित होकर व्यक्त होती हैं, पुनः सिमटकर इन्हींमें लीन हो जाती है। इसीसे ये सनातन अव्यक्त है।

प्रकृतिके भी दो स्वरूप हैं—एक अविकसित यानी अव्यक्त, दूसरा विकसित। जब प्रकृति अक्रिय है तब वह अव्यक्त है. उस समय प्रकृतिसे प्रसूत कार्य-करणका (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी–पाँच सूक्ष्म भूत और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध–पाँच विषय ये दस कार्य हैं। एवं बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और नासिका—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ–पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये तेरह करण हैं) विस्तार यह समस्त संसार मूल-प्रकृतिसहित परम सनातन अव्यक्त परमात्मामें समा जाता है। शक्ति शक्तिमान्‌के अंदर निस्पन्द होकर स्थित रहती है। उस समय जगत्‌के समस्त जीव अपने-अपने कर्मसंस्कारोंसहित मूल-प्रकृतिरूप महाकारणमें लीन रहते हैं। माता उन सबको आँचलमें छिपाकर ही पिताके अन्तःपुरमें प्रविष्ट हो जाती है। इसी अवस्थाको महाप्रलय कहते हैं।

परमात्माकी सत्ता-स्फूर्ति और संकल्पसे प्रकृतिदेवी जब घूँघट खोलकर अन्तःपुरसे बाहर निकलती हैं—क्रियाशीला होती हैं, तब इन्हें विकसित कहते हैं। इसके व्यक्त होते ही संसार पुनः बन जाता है, सम्पूर्ण जीव अपने-अपने कर्मानुसार व्यक्तित्वको प्राप्त हो जाते-

हैं । यह विकसित प्रकृति भी अव्यक्त ही रहती है । सर्गके अन्तमें जीव अपने कर्मसमुदायसहित कारण-शरीरको साथ लिये इसी अव्यक्त प्रकृति या ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें लीन रहते हैं और सर्गके आदिमें पुनः उसीमेंसे प्रकट हो जाते हैं । भगवान् कहते हैं—

> अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
> रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
> (गीता ८ । १८)

'सम्पूर्ण व्यक्त जीव ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें—सर्गके आदिमें अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके आगमनकालमें पुनः उस अव्यक्तमें ही लीन हो जाते हैं ।' फिर कहते हैं—

> परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
> यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
> (गीता ८ । २०)

'परंतु उस अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ दूसरा सनातन अव्यक्त तत्त्व है । वह सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ।' बस, वही उपर्युक्त सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं ।

मूल अव्यक्त प्रकृतिका नाम ही अव्याकृत माया है, वही परमात्माकी नित्य, अनादिशक्ति है; न किसीके द्वारा इस शक्तिका निर्माण हुआ है और न यह किसीका विकार है । इसलिये यह मूल और अव्याकृत है । परमात्मा जब इस प्रकृतिरूप योनिमें संकल्पद्वारा चेतनरूप बीज स्थापन करते हैं, तभी गर्भाशयमें वीर्यस्थापनसे होनेवाले विकारकी भाँति प्रकृतिमें विकृति उत्पन्न हो जाती है । वह विकार क्रमशः सात होते हैं—महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि), अहंकार

और सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ । मूल प्रकृतिके विकार होनेसे इन्हें विकृति कहते हैं, परंतु इनसे अन्य सोलह विकारोंकी उत्पत्ति होनेके कारण इन सातोंके समुदायको प्रकृति भी कहते हैं । अहंकारसे मन और दस (ज्ञान-कर्मरूप) इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्रासे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये इन दोनोंके समुदायका नाम 'प्रकृति-विकृति' है । मूल प्रकृतिके सात विकार, सप्तधा विकाररूपा प्रकृतिसे उत्पन्न सोलह विकार और स्वयं मूल प्रकृति—ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व माने गये हैं । इन्हीं चौबीस तत्त्वोंका यह स्थूल संसार है । जीवका स्थूल देह भी इन्हीं चौबीस तत्त्वोंसे निर्मित होता है । ये चौबीस तत्त्व प्रकृति और उसके कार्य हैं ।

परंतु यह प्रकृतिका कार्य केवल प्रकृतिसे ही नहीं सम्पन्न होता, परमात्माकी चेतन-सत्तासे ही प्रकृति क्रियाशील होती है । यह चेतन शक्ति भी भगवान्‌की दूसरी प्रकृति ही है । इसीके द्वारा जगत्‌का धारण किया जाता है । इन दोनों ही प्रकृतियोंकी सत्ता परात्पर परमात्मा पुरुषोत्तमकी सत्तासे ही है । शक्तिमान्‌से अलग शक्तिकी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती । शक्तिमान् परमेश्वरकी अध्यक्षतामें ही शक्ति कार्य करती है, इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥
(गीता ९ । १०)

'अर्जुन ! मुझ परमेश्वरकी अध्यक्षतामें ही मेरी यह प्रकृति (माया) चराचरसहित जगत्‌को रचती है और इसी हेतुसे यह संसार चक्रवत् घूमता है ।'

परमात्माकी शक्तिको विद्या और अविद्या भी कहते हैं। जब उससे परमात्मा अपना कार्य करते हैं तब उसका नाम विद्या है। विद्या परमात्माकी सेविका है, जीव और परमात्माका सम्बन्ध जोड़ देनेवाली निर्मल सूत्रिका है। इस विद्याके द्वारा ही बिछुड़ोंका नित्य मिलन और जीवरूप पत्नीके साथ परमात्मारूप पतिका गँठजोड़ा होता है। जिससे आगे चलकर दोनों घुलमिलकर सम्पूर्ण रूपसे एक हो जाते हैं। जीवको मोहित करके उसे परमात्मासे अलग रखनेवालीका नाम अविद्या है। इस अविद्याके मोहसे छूटनेके लिये इसीके दूसरे निर्मल-स्वरूप विद्याकी शरण लेनी पड़ती है।

अब यह प्रश्न रहा कि जीव क्या वस्तु है? जीव असलमें परब्रह्म परमात्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। उन्हींका आत्मरूप सनातन शुद्ध अंश है। समुद्रके तरंगोंकी भाँति उनसे सर्वथा अभिन्न है, परंतु अनादि कालसे प्रकृति और उसके कार्योंके साथ तादात्म्य होनेके कारण जीव-दशाको प्राप्त हो रहा है। यह सम्बन्ध प्रकृतिकी अनादिताकी भाँति ही अनादि है। अनादि न होता, कभी इसका आरम्भ होता तो जीवोंके कोई भी कर्म न रहनेपर उन्हें भिन्न-भिन्न योनियों और स्थितियोंमें परमेश्वर क्यों रचते। भेद-पूर्ण संसारमें अकारण ही जीवोंको रचकर पटकनेसे परमात्मामें विषमता और निर्दयताका दोष आता, जो कदापि सम्भव नहीं है। प्रकृतिके जीवका सम्बन्ध अनादि है। जीव जबतक मुक्त नहीं होता, तबतक वह कभी चौबीस तत्त्वोंके स्थूल शरीरमें; कभी पञ्चप्राण, दस इन्द्रियों और मन, बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके सूक्ष्म देहमें, और कभी मूल प्रकृतिके अंशरूप कारण-देहके साथ संयुक्त रहता है। प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण ही इसकी जीव

संज्ञा है और इस प्रकृतिके सङ्गसे ही यह अच्छी-बुरी योनियोंमें जाता-आता और दुःख-सुख भोगता है। (गीता १३ । २१)

यह सत्य है कि शुद्ध आत्मामें आने-जाने और जन्म-मृत्युकी कल्पना केवल आरोपित है, परंतु जबतक जीव संज्ञा है तबतक वह वस्तुतः शुद्ध आत्मारूपमें नित्य, अविनाशी, अविकारी होते हुए ही भले-बुरे कर्मोंका कर्ता, उनके फलरूप सुख-दुःखोंका भोक्ता जनन-मरणशील है। परमात्मा, उनकी शक्ति प्रकृति, जीव और प्रकृतिके परिणाम जगत्का परस्परका सम्बन्ध अनादि है। परंतु इतनी बात याद रखनेकी है कि नित्य एकरस सच्चिदानन्दघन अव्यय परमात्मा अनादि होनेके साथ ही अनन्त भी हैं और जीव भी उनका चेतन सनातन अंश होनेसे अनन्त है। परंतु प्रकृति—शक्ति विकसित और अविकसित दो रूपोंमें रहनेवाली होनेके कारण अविकसित-अवस्थामें सान्त (अन्तवाली) कही जाती है। प्रकृतिका परिणाम जगत् भी प्रवाहरूपसे अनादि और नित्य होनेपर भी विविध रंगमय है और प्रकृतिके पाशसे छूटे हुए मुक्त-पुरुषके लिये तो नष्ट हो जाता है। और भिन्न स्वतन्त्र चेतन सत्ता न होनेसे परमात्माके लिये तो जगत् सर्वथा असत् या परमात्म-रूप ही है।

गीतामें दो पुरुषोंका वर्णन है। एक क्षर, दूसरा अक्षर। क्षर—प्रकृतिका कार्यरूप जगत् और अक्षर—नित्य चेतन आनन्दरूप परमात्मा-का सनातन अंश होनेपर भी अविद्यारूपी प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण असंख्य और विभिन्न रूपोंसे भासनेवाला जीव। इन दोनों पुरुषोंके परे उत्तम पुरुष परमात्मा पुरुषोत्तम नामसे वर्णित हैं। इस पुरुषत्रय-के वर्णनमें कुछ लोग इसे त्रैतवाद भी कहते हैं। परंतु असलमें

ब्रह्मसूत्रके—

जगद्व्यापारवर्जम् (४ । ४ । १७)

—सूत्रके भाष्यमें पूज्यपाद स्वामी श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वा अन्यदणिमाद्यात्मकम् ऐश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैव ईश्वरस्य ।

'जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, विनाशके सिवा अन्य अणिमादि सिद्धियाँ महापुरुषोंमें होती हैं, परंतु जगद्व्यापारकी सिद्धि तो एकमात्र नित्यसिद्ध ईश्वरमें ही है ।'

अणिमादि सिद्धियाँ भी सभी सिद्ध, ज्ञानी और भक्तोंको नहीं प्राप्त होतीं । योगमार्गसे सिद्धिप्राप्त पुरुषोंको अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, परंतु ये ऐश्वर्य सभी सीमित हैं । मायाके राज्यमें ही हैं । परमेश्वर मायाके स्वामी हैं । उनका मायापर आधिपत्य है, माया उनकी शक्ति है । वे अणिमादि योगके अष्ट ऐश्वर्योंसे परे उनसे अधिक शक्तिसम्पन्न चमत्कारी ऐश्वर्योंकी सृष्टि कर सकते हैं । वस्तुतः अणिमादि ऐश्वर्य भी ईश्वरकी ऐश्वर्यराशिका एक तुच्छ कण-मात्र है । योगी ईश्वरके सृजन किये हुए परमाणुओंको सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे सूक्ष्म कर सकते हैं, उनका इच्छानुसार व्यवहार कर सकते हैं । परंतु नवीन सूक्ष्म तत्त्वोंकी उत्पत्ति नहीं कर सकते । वे सत्यसंकल्प हो सकते हैं । वे अग्नि, जल, अन्न, विष आदिका इच्छानुसार प्रयोग कर सकते हैं, परंतु ये सभी चीजें मायाके खेलके अन्तर्गत ही होती हैं । यों तो संसारमें प्रत्येक जीव ही अपने-अपने क्षेत्रमें सृष्टि, पालन, विनाश करता है । किसी चीजको बनाना, उसकी रक्षा करना और उसे नष्ट कर देना एक प्रकारसे सृष्टि, स्थिति,

संहार ही है, साधारण जीवोंमें यह सामर्थ्य बहुत थोड़ी होती है योगियोंमें साधन-बलसे इस सामर्थ्यका बहुत अधिक विकास होत है। यहाँतक कह सकते हैं कि इस विषयमें परमेश्वरके नीचे दूसरं श्रेणीमें पहुँचे हुए योगियोंको माना जा सकता है परंतु परमेश्वरकी तुलनामें तो उनकी शक्ति अत्यन्त ही क्षुद्र रहती है।

ज्ञानी तो इन विषयोंकी परवा ही नहीं करता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें ब्रह्मके सिवा और कुछ रहता ही नहीं। फिर इस प्रकारकी शक्ति प्राप्त करनेकी चेष्टा ही कौन करे! भक्त अपनेको भगवान्के चरणोंमें समर्पण कर केवल उन्हींका हो रहता है। भगवान्की मङ्गलमयी इच्छा ही उसके लिये कल्याणरूपा है। अतः वह भी इस शक्तिको पानेका इच्छुक नहीं होता। जिनकी इच्छा ही नहीं, उन्हें वह वस्तु प्राप्त क्यों होने लगी! कदाचित् मान लिया जाय कि सिद्धिप्राप्त योगी, तत्त्वज्ञानी या प्रेमी भक्तको यह शक्ति प्राप्त होती है, तो वह प्राप्त हुई भी अप्राप्तके समान ही है। उससे कोई कार्य नहीं हो सकता। जगत्में आजतक किसी भी युगमें ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता कि जिसमें किसी महापुरुषने अपनी शक्तिसे ईश्वरके सृष्टिक्रमकी भाँति कुछ कार्य किया हो या कार्यतः किसीने ईश्वरत्वका परिचय दिया हो। किसीमें शक्ति हो भी तो वह भी ईश्वरकी शक्तिके अधीन ही रहती है। ईश्वरके विधानके प्रतिकूल कोई कुछ भी नहीं कर सकता। केनोपनिषद्की कथाके अनुसार वायु, अग्नि भी एक तृणको तिनकेको उड़ा या जला नहीं सकते। व्यावहारिक मायानिर्मित जगत्की प्रत्येक क्रिया सदा मायापति ईश्वरके नियन्त्रणमें रहती है। अनादिकालसे जगत्का सारा व्यापार एक ही

शक्तिके नियन्त्रणमें एक ही नियमके अनुसार सुशृङ्खलरूपसे चला आ रहा है। सृष्टि, स्थिति, संहारका कोई भी विधान कभी नियमसे विरुद्ध नहीं चलता। विश्वनाथ परमेश्वरकी इच्छामें हस्तक्षेप करनेकी किसीमें शक्ति नहीं है। ईश्वरेच्छाके अधीन रहकर ही महापुरुष अपनी योगलब्ध सिद्धियोंका उपयोग या सम्भोग करते हैं। वे दिव्यदृष्टिसे ईश्वरको पहचानकर उसीके अनुसार कार्य करते हैं। इसीसे उन्हें कभी विफलताजनित क्लेशका अनुभव नहीं होता।

महापुरुषगण योग, ज्ञान, प्रेम और आनन्दमें ईश्वरके समान होकर भी ईश्वरके आज्ञाकारी ही रहते हैं। ईश्वरेच्छाके विपरीत उनकी शक्तिका प्रयोग सर्वथा असम्भव होता है। कारण, वे इस बातको जानते हैं कि उनके अंदर ईश्वर ही कार्य कर रहे हैं। योगसिद्धिसे प्राप्त ज्ञान, प्रेम, शक्ति, ऐश्वर्य, आनन्द आदि सभी चीजें परमेश्वरकी ही हैं। उनकी इच्छा ईश्वरकी इच्छा होती है, उनके जीवनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ ईश्वरकी क्रियाएँ होती हैं। वे ईश्वरके गुण, शक्ति आदिको पाकर ईश्वरकी ही एक प्रतिमूर्ति बने हुए जगत्में लोक-कल्याणार्थ विचरण करते हैं। उनका ऐश्वर्य परमात्माके प्रेमरूप माधुर्यमें परिणत हो जाता है। इसलिये थोड़ी देरके लिये उनमें यदि वस्तुतः ईश्वरके समान शक्तिका होना मान भी लिया जाय तब भी वह न होनेके बराबर ही होती है; क्योंकि उनकी शक्ति ईश्वरकी शक्तिके द्वारा ही प्रेरित, परिपूरित और परिचालित होती है, वह अन्य कोई कार्य कर ही नहीं सकती।

सेवाकी सात आवश्यक बातें

सेवकमें जब ये सात बातें होती हैं, तब सेवा सर्वाङ्गसुन्दर तथा परम कल्याणकारिणी होती है—१. विश्वास, २. पवित्रता, ३. गौरव, ४. संयम, ५. शुश्रूषा, ६. प्रेम और ७. मधुर भाषण।

इसका भाव यह है कि सेवकको अपने तथा अपने सेवाकार्यमें विश्वास होना चाहिये। विश्वास हुए बिना जो सेवा होगी, वह ऊपर-ऊपरसे होगी—दिखावामात्र होगी। सेवकके हृदयमें विशुद्ध सेवाका पवित्र भाव होना चाहिये, वह किसी बुरी वासना-कामनाको मनमें रखकर सेवा करेगा (जैसे इनको सेवासे संतुष्ट करके इनके द्वारा

अमुक शत्रुको मरवाना है, आदि) तो सेवा अपवित्र हो जायगी और उसका फल अधःपतन होगा। जिसकी सेवा की जाय, उसमें गौरवबुद्धि—पूज्यबुद्धि होनी चाहिये। अपनेसे नीचा मानकर या केवल दयाका पात्र मानकर अहंकारपूर्ण हृदयसे जो सेवा होगी, उसमें सेव्यका असम्मान, अपमान और तिरस्कार होने लगेगा, जिससे उसके मनमें सेवकके प्रति सद्भाव नहीं रहेगा और ऐसी सेवाको वह अपने लिये दुःखकी वस्तु मानेगा। अतः सेवाका महत्त्व ही नष्ट हो जायगा। इसीलिये कहा गया है कि जिसकी सेवा की जाय, उसे भगवान् मानकर सेवा करे। सेवककी इन्द्रियाँ संयमित होनी चाहिये—मन-इन्द्रियोंका गुलाम सच्ची सेवा कभी नहीं कर सकेगा। जिसके मनमें बार-बार विषय-सेवनकी प्रबल लालसा होगी, वह सेवा क्या करेगा? सेवकको सेवापरायण होना पड़ेगा। जो मनुष्य किसी सेवाको नीची मानकर उसे करनेमें हिचकेगा, वह सेवा कैसे करेगा। सेवकमें सेव्य तथा सेवाके प्रति प्रेम होना चाहिये। प्रेम होनेपर कोई भी सेवा भारी नहीं लगेगी तथा सेवा करते समय आनन्दकी अनुभूति होगी, जिससे नया-नया उत्साह मिलेगा। और साथ ही सेवकको मीठा बोलनेवाला होना चाहिये। कटुभाषी सेवककी सेवा मर्माहत करती है और मधुरभाषीकी बड़ी प्रिय लगती है। मधुर भाषण स्वयं ही एक सेवा है।

भक्तकी परख

भक्तकी परख तिलक, छापा, माला, कण्ठी, रामनामी, मुण्डन या जटासे नहीं होती। ये सब आवश्यक हैं, उत्तम हैं, परंतु इनसे उसीकी शोभा बढ़ती है जिसका हृदय श्रीभगवान्‌के प्रेमसे पूर्ण हो गया है। जिसके हृदयमें भगवान्‌की जगह भोगोंने घर कर रक्खा हो, उसको न तो यह भक्तोंका बाना धारण करनेका अधिकार है और न इससे कोई लाभ ही है, ऊपरका भेष देखकर किसीने भक्त मान भी लिया तो क्या हुआ? भेषधारीको इससे कोई लाभ नहीं। कंगालको छत्रपति माननेसे कंगाली नहीं छूट सकती। हृदय पापकी आगसे जलता ही रहेगा। भक्त वह है जो सर्वत्र-सर्वदा अपने भगवान्‌को देखता है और उसके दिव्य गुण सत्य, प्रेम, करुणा, आनन्द, ज्ञान आदिका अनुसरण प्राणपणसे करता है। बाना हो या न हो।

मनन करने योग्य

'अन्योंके भरोसे मत पड़े रहो, अब इसी बातकी जल्दी करो कि मनको देह-भावसे खाली करके भगवान्‌के प्रेमसे भर दो। दूसरे साधन कालके मुँहमें डाल देंगे, गर्भवासके कष्टोंसे कोई भी मुक्त नहीं करेगा।'

'भगवान्‌के पास मोक्षका कोई थैला थोड़े ही रक्खा है, जो उसमेंसे थोड़ा-सा निकालकर वे तुम्हें भी दे देंगे! इन्द्रिय-विजयसे मनको साधो, निर्विषय बन जाओ। बस, मोक्षका यही मूल है।...

तुका कहता है, फल तो मूलके ही पास है; उस मूलको पकड़ो; शीघ्र श्रीहरिकी शरण लो ।'

'उन करुणाकरसे करुणा माँगो, अपने मनको साक्षी रखकर उन्हें पुकारो । कहीं दूर जाना-आना नहीं पड़ता; वे तो अन्तरमें साक्षीरूपसे विराजमान हैं । तुका कहता है वे कृपाके सिन्धु हैं, भवबन्धनको तोड़ते उन्हें कितनी देर लगती है !'

'ग्रन्थोंको देखकर फिर कीर्तन करो, तब उसमें (ज्ञानमें) फल लगेगा । नहीं तो, व्यर्थ ही गाल बजाया और वासना तो हृदयमें रह ही गयी । तप-तीर्थाटन आदि कर्मोंकी सिद्धि तभी होगी जब बुद्धि हरिनाममें स्थिर होगी । तुका कहता है, अन्य झगड़ोंमें मत पड़ो । बस, यही एक संसार-सार हरि-नाम धारण कर लो ।'

'श्रीहरि-गोविन्द नामकी धुन जब लग जायगी, तब यह काया भी गोविन्द बन जायगी, भगवान्से दुराव—कोई भेद-भाव नहीं रह जायगा । मन आनन्दसे उछलने लगेगा, नेत्रोंसे प्रेम बहने लगेगा । कीट भृङ्ग बनकर जैसे कीट रूपमें फिर अलग नहीं रहता, वैसे तुम भी भगवान्से अलग नहीं रहोगे ।'

'जो जिसका ध्यान करता है, उसका मन वही हो जाता है । इसलिये और सब बातोंको अलग करो, पाण्डुरङ्गकी ध्यान-धारणा करो ।'

—संत तुकाराम

भगवान् प्रेमस्वरूप हैं

कुछ लोगोंकी धारणा है कि भगवान् दण्ड देते हैं। पर असलमें भगवान् दण्ड नहीं देते। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं। वे स्वाभाविक ही सर्वसुहृद् हैं। सुहृद् होकर किसीको तकलीफ कैसे दे सकते हैं? विश्वकल्याणके लिये विश्वका शासन कुछ सनातन नियमोंके द्वारा होता है। यदि हम उन नियमोंका अनुसरण करके उनके साथ जीवनका सामञ्जस्य कर लेते हैं तो हमारा कल्याण होता है; परंतु यदि हम लापरवाहीसे या जान-बूझकर उन प्राकृत नियमोंका उल्लङ्घन करते हैं तो हमें तदनुसार उसका बुरा फल भी भोगना पड़ता है, पर वह भी होता है हमारे कल्याणके लिये ही; क्योंकि कल्याणमय भगवान्के नियम भी कल्याणकारी ही हैं। अतः भगवान् किसीको दण्ड नहीं देते, मनुष्य आप ही अपनेको दण्ड देता है। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं—सर्वथा प्रेम हैं और वे जो कुछ हैं, वे ही सबको सर्वदा वितरण कर रहे हैं।

कुसङ्ग छोड़कर महापुरुषोंका सङ्ग करो

भगवान् श्रीकृष्ण भक्तराज उद्धवजीसे कहते हैं—

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत्॥
(श्रीमद्भा० ११। २६। ३)

केवल स्त्रीसङ्ग और पेट पालनेमें लगे हुए दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। जैसे अन्धेके पीछे चलनेवाला अन्धा गढ़ेमें गिरता है वैसे ही ऐसे दुष्ट पुरुषका अनुसरण करनेवाला पतित होता है।

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एतस्यच्छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥
(श्रीमद्भा० ११। २६। २६)

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग छोड़कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे, क्योंकि सत्पुरुष सदुपदेशसे उसके मनकी आसक्तिको मिटा देते हैं।

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥
(श्रीमद्भा० ११। २६। २७)

सब प्रकारकी अपेक्षासे रहित, चित्तको मुझे अर्पण कर देनेवाले, प्रशान्त, समदर्शी, 'मेरा और मैं' पनसे रहित, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित तथा अपरिग्रही जन ही सत्पुरुष हैं।

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २६ । २८)

महाभाग उद्धव ! उन महाभाग्यशाली सत्पुरुषोंमें सदा मेरी कथाएँ ही हुआ करती हैं, जिन हितकारिणी कथाओंके सुननेसे श्रोताओंके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और हृदय निर्मल हो जाता है ।

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २६ । २९)

मेरे परायण रहनेवाले जो पुरुष उन कथाओंको श्रद्धा और आदरपूर्वक कहते, सुनते, गाते और अनुमोदन करते हैं, वे मेरी भक्तिको प्राप्त होते हैं ।

भक्तिं लब्धवतः साधो किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २६ । ३०)

साधो ! मुझ अनन्त गुणशाली, आनन्द तथा अनुभवस्वरूप ब्रह्मकी भक्ति प्राप्त होनेपर फिर और कौन विषय उसे मिलना बाकी रह जाता है ?

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २६ । ३१)

जैसे भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेसे शीत, भय, अन्धकारका नाश हो जाता है वैसे ही सत्पुरुषोंका सेवन करनेवालोंके भी पाप, भय, अज्ञान दूर हो जाते हैं ।

> निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
> सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
> (श्रीमद्भा० ११ । २६ । ३२)

जैसे जलमें डूबकर डुबकी खानेवालेके लिये दृढ़ नौका परम आश्रय है वैसे ही इस भवसागरमें डुबकी यानी नीची-ऊँची योनियोंमें आने-जानेवाले जीवोंके लिये शान्त ब्रह्म महापुरुष ही एकमात्र गति हैं।

> अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
> धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥
> (श्रीमद्भा० ११ । २६ । ३३)

जैसे अन्न प्राणियोंका प्राण है, जैसे मैं (भगवान्) आर्तजनों-का आश्रय हूँ, जैसे मरनेके बाद धर्मरूप धन ही मनुष्योंके साथ जाता है, वैसे ही महापुरुष संसारसमुद्रमें पड़नेसे डरते हुए पुरुषकी रक्षा करनेवाले हैं।

> सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
> देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥
> (श्रीमद्भा० ११ । २६ । ३४)

सूर्य बाहरी नेत्रोंको प्रकाशित करते हैं, परंतु महापुरुष तो हृदयके अंदरके ज्ञानरूप नेत्रोंको प्रकाशित करते हैं। ऐसे महापुरुष ही यथार्थ देव और बान्धव हैं तथा ऐसे महापुरुष ही मेरी आत्मा और मेरा रूप हैं।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २६ ।

जैसे जलमें डूबकर डुबकी खानेवालेके लिये दृढ़ नौका
आश्रय है वैसे ही इस भवसागरमें डुबकी यानी नीची-ऊँची योनि
आने-जानेवाले जीवोंके लिये शान्त ब्रह्म महापुरुष ही एक
गति हैं।

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २६ ।३

जैसे अन्न प्राणियोंका प्राण है, जैसे मैं (भगवान्) आर्तज
का आश्रय हूँ, जैसे मरनेके बाद धर्मरूप धन ही मनुष्योंके साथ ज
है, वैसे ही महापुरुष संसारसमुद्रमें पड़नेसे डरते हुए पुरुषकी र
करनेवाले हैं।